मानव-समाज

लेखक

राहुल सांकृत्यायन

किताब महल

इलाहाबाद

प्राक्कथन

"मानव-समाज" "वैज्ञानिक भौतिकवाद"के परिवारकी दूसरी पुस्तक है। समाजका विकास किस तरह हुआ, इसके बारेमें साइंस-के सहारे जिस निष्कर्षपर हम पहुँचते हैं, उसे यहाँ दिया गया है। मुझे जिन ग्रन्थोंसे पुस्तक लिखनेमें सहायता मिली है, उनका नाम पुस्तक-के अन्तमें दे दिया गया है। और भी पुस्तकोंके अवलोकनकी ज़रूरत थी; किन्तु जिस परिस्थितिमें देवली-केम्प (जेल)में पुस्तक लिखी गयी, उसमें इसे भी गनीमत समझना चाहिये। और कोई ग्रन्थ अन्तिम भी नहीं हो सकता, हरएक ग्रंथका काम इतना ही है कि आगे आनेवालोंके कामको अगली सीढ़ियोंपर पहुँचनेमें सहायक हों; मानव-समाज उतना काम तो ज़रूर कर सकेगा। मैं समझता हूँ, ऐसी पुस्तकोंकी उपयोगिता और बढ़ जाय, यदि वह अनेक 'समान-धर्मा' लेखकोंके सहयोगसे लिखी जायँ; किन्तु अभी हमारी भाषामें ऐसे विचारके आदमी कम मिलते हैं, और लोग "अपनी घानी अपना कोल्हू' रखना चाहते हैं।

पुस्तकके कितने ही अंगोंको मेरे मित्र बी० पी० एल० बेदीने बड़े चावसे सुना था, और दूसरी परिस्थितियाँ बाधक न हुई होतीं, तो वह सभी सुनते, उनके सुझावसे इस पुस्तकमें ज्यादा परिवर्त्तन नहीं किया जा सका; किन्तु लेखकने अगली पुस्तकोंमें उसपर काफी ध्यान दिया है। पुस्तकके कितने ही अंशोंको साथी डाँगेने—मेरे ईश्वरके सँवारे

अक्षरोंकी ज़हमत उठाकर भी—पढ़ा, और उनके सुझाव बहुत उपयोगी साबित हुए।

भाषाकी सरलताके बारेमें डाक्टर भगवानदासजी (काशी)का वचन मुझे बहुत याद रहता है। वह लिखनेमें अपनी उसी हिन्दीको ठीक समझते हैं, जिसे कि उनकी धर्मपत्नी समझ लेती है। मैं भी चाहता था, कि प्रत्येक अध्यायको सुननेवाला कोई केवल हिन्दी जाननेवाला (अंग्रेजीके एक शब्दसे भी अपरिचित) श्रोता मिलता, और मैं उसकी दिक्कतोंको सुधारता जाता, तो पुस्तकमें भाषा-क्लिष्टताके दोष न आते; किन्तु वैसा कोई मिल न सका। हजारीबागमें आनेपर साथी नागेश्वर सेनने पुस्तकको पढ़ा ज़रूर, किन्तु उनकी सम्मतिसे सिर्फ़ आत्म-सन्तोष भर मैं कर सकता था। इससे इतना तो ज़रूर पाठकोंको विश्वास होना चाहिये, कि मैंने भाषाको सुगम करनेकी पूरी कोशिश की है।

"विश्वकी रूपरेखा", "मानव-समाज" "दर्शन-दिग्दर्शन" और "वैज्ञानिक भौतिकवाद"—चारों पुस्तकें मानव-जातिके आज तकके अर्जित-ज्ञानको संक्षेपमें देनेकी कोशिश कर रही हैं, किन्तु उनका ज्ञान सिर्फ़ विश्वको जाननेके लिये नहीं है, बल्कि उसे "बदलनेके लिये" है।

सेंट्रल जेल, हजारीबाग
३—४—१९४२ ई०

राहुल सांकृत्यायन

विषय-सूची

मानव-समाज

प्रथम अध्याय

मानव-समाजका विकास

मानवका विकास

किसी समय पृथिवी दहकते गैसका गोला थी, जिसमें अणु बिखरे हुए थे। अणु नजदीक आने लगे। अणु-गुच्छक बने। विरस* और बेक्टीरिया अस्तित्वमें आये; फिर हलवे-जैसे बिना हड्डीके जन्तु, अमोय्बा आदि। फिर सीधे प्रकृतिसे आहार ग्रहण करनेवाले स्थावर वनस्पति, तथा दूसरोंपर अवलम्बित रहनेवाले जंगम प्राणी। मछलियोंका युग, फिर जल-स्थल प्राणी, जिनमेंसे कुछने हवा और कुछने स्थल का रास्ता लिया। फिर वाणी उनके मुँहसे फूट निकली। स्तनधारी—वानर, वनमानुष; फिर वनमानुषसे आगे आधे वनमानुष आधे मानव द्विपद झाड़ियोंमें किलकिलाने लगे।

इन्हींमेंसे कुछ जोड़े विकासकी उस अवस्थामें पहुँच गये, जहाँ कि जाति-परिवर्त्तन† होता है; और इस प्रकार वह हमारे मानव-वंशके आदिम पूर्वज बने। यह समय बीस लाख साल आँका जाता है। आजसे दस लाख वर्ष पहिले मानव हथियारधारी बनता दिखाई पड़ता है, और पाँच लाख वर्ष और बीतनेपर तो हम उसे अपने पूर्वजों (सपियन मानव)के रूपमें देखते हैं।

---

*Virus. †Mutation.

१. मानव-समाज

मानवका आरम्भिक विकास बहुत धीमा था ; किन्तु उस वक्त-की परिस्थितिमें वही विकास बड़ा महत्त्व रखता था। प्रश्न होता है—क्या बात थी, जो कि मानवका हाथ, मस्तिष्क, वाणी ऐसी दिशामें बढ़े जिनको देखनेपर हम कह उठते हैं—"मानव पशु नहीं है, वह पशु से बिल्कुल अलग प्राणी है।" विकास-सिद्धान्तके जानने-वाले जानते हैं कि चेष्टा—जीनेके लिये चेष्टा—प्राणीके विकासमें बहुत सहायक हुई। चेष्टा स्वयं एक श्रम है ; इसलिये हम कह सकते हैं कि श्रमने मानवके विकासको सम्पादित किया, यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं है, कि प्रकृतिकी सहायताके बिना ही यह काम हो सका।

लाखों वर्ष उस समयको बीते हो गये जिसे कि भूगर्भ-शास्त्री तृतीय-काल‡ कहते हैं। इसी युगके अन्तिम कालमें वनमानुषोंकी एक अत्यन्त विकसित जाति पृथिवीके किसी महाद्वीप—सम्भवतः वह भारतीय महासागरमें अब लुप्त है—में रहती थी। ये ही मानव-जाति-के पूर्वज थें। इनका सारा बदन बालोंसे ढँका था ; इनके कान नुकीले थे। ये यूथ बाँधकर वृक्षोंपर रहते थे। जिस तरहका जीवन वह बिता रहे थे, उसमें हाथोंका काम वही नहीं रह गया था, जो कि और दो पिछले पैरोंका। डालियोंको पकड़ने, फलोंको तोड़ने तथा ऐसे दूसरे कामोंमें अधिक और अधिक इस्तेमाल करते हुए, उन्होंने हाथोंको पैरके कामसे ही मुक्त कर दिया। जब वह समतल भूमिपर चलते, तो हाथोंको उठाकर सिर्फ़ पिछले पैरोंके बल चलते, और सँभालनेमें आसानीके लिये कंधेको और सीधा करके खड़ा होनेकी चेष्टा करते। वनमानुषसे मानुषके रूपमें परिवर्तित होनेमें हाथकी मुक्ति और कन्धा सीधा करके खड़ा होना—यह दोनों बातें जबर्दस्त कारण बनीं।

---

‡Tertiary period.

आजके भी वनमानुष सीधे खड़े हो सकते हैं, और सिर्फ़ अपने पैरोंपर खड़े हो सकते हैं; किन्तु ज़रूरत होनेपर ही, और वह भी मनुष्य जैसे इत्मीनानके साथ नहीं। जब हाथ इस तरह शरीरके भार-को सँभालनेसे स्वतंत्र हो गया, तो उसे दूसरे कामोंमें लगाया जा सकता था। वनमानुषोंमें भी पैरसे हाथके काममें भेद देखा जाता है। वृक्षपर चढ़ते वक्त हाथ और उसकी अँगुलियाँ जिस तरह पकड़ने का काम करती हैं, पिछले पैर उसी तरह नहीं करते। वनमानुष हाथोंसे फल तोड़ने और जमा करनेका काम लेता है, यह काम पिछले पैरोंसे नहीं लिया जा सकता। कितने ही वानर हाथोंसे वृक्षोंमें घोंसला-सा बनाते हैं। चिम्पन्जी (वनमानुष) धूप-वर्षासे बचनेके लिये वृक्षोंकी डालियोंपर छत-सी तैयार करता है। अपने हाथोंमें डंडा पकड़कर दुश्मनसे मुकाबिला करता है; हाथसे फल या पत्थर मारना भी जानता है। वनमानुषसे मानुषके हाथमें जो क्रियानिपुणता देखी जाती है, वह हजारों वर्षोंके परिश्रमका परिणाम है। वनमानुष और मानुषके हाथकी हड्डियों, जोड़ों और नसोंकी तुलना करनेपर मालूम होगा कि दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है; तो भी विकासमें सबसे पिछड़ा जङ्गली मनुष्य भी हाथसे इतने काम ले सकता है, जो कि वनमानुषकी शक्तिसे बाहर है। आज तक कोई वनमानुष पत्थरका भद्दे से भद्दा चाकू भी नहीं तैयार करते देखा गया।

हमारे पूर्वजोंके वनमानुषसे मानुषके रूपमें परिवर्तित होते वक्त के पहलेके लाख वर्षों में प्रगति बहुत मन्द रही, इसमें तो सन्देह नहीं है। जितने समयमें मानवने चकमक पत्थरका पहिला हथियार तैयार किया होगा, वह हमारे ऐतिहासिक समयसे कई गुना ज्यादा रहा होगा। लेकिन एक बार जब हाथ मुक्त हो गया, तो रास्ता साफ़ था, वह हथियारोंको बना सकता, मकान तैयार कर सकता, सितार

(१) श्रम ही विधाता—हाथ श्रमका हथियार ही नहीं है; बल्कि वह खुद श्रमकी उपज है। हाथके नये-नये उपयोगसे नई नस-नाड़ियों-का विकास होता है और उसके द्वारा हड्डियोंपर भी प्रभाव, फिर इनका आनुवंशिक होना—एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़िओंमें जाना—और आगे आनुवंशिक साधनोंके नये उपयोगोंका और भी बढ़ना, इस तरह क्रमशः मनुष्यका हाथ आज हजारों तरहके कामको सुन्दरता-से कर सकता है। इस तरह अजन्ताके चित्रों, गुप्तकालकी मूर्त्तियों और तानसेन तथा बैजू बावरेके सप्ततंत्री स्वरोंको निकालनेमें उसका हाथ सफल हुआ।

लेकिन, हाथ शरीरसे अलग-थलग चीज़ नहीं है, वह सारे शरीर-यंत्रका एक अवयवमात्र है। हाथको जो लाभ हुआ, वह नहीं हो सकता था, यदि वह हाथ तक ही महदूद रहता। शरीरका एक अवयव दूसरे भागको प्रभावित करता है। स्तनधारियोंमें अंडेको बाहर न निकाल, भीतर ही उसकी वृद्धि और परिपाकके लिये गर्भाशय होता है; साथ ही दूध पिलानेके लिये स्तनोंको भी मौजूद देखा जाता है। यदि बिल्ली पूरी सफ़ेद और नीली आँखोंवाली हो, तो वह बराबर बहरी देखी जाती है—अर्थात् उसके कानके विकासमें बाधा पड़ जाती है। मनुष्यके हाथके विकासका भी उसके दूसरे अवयवोंपर इसी तरह असर होता है।

समाज—हाथकी श्रम-शक्तिके विकासके साथ मानवका प्रभुत्व प्रकृतिपर और बढ़ चला, और इस प्रकार उसकी प्रगतिका रास्ता खुल गया। वह लगातार अपने हाथ और उसके श्रमके नये-नये उपयोगोंका पता लगाता रहा; साथ ही प्राकृतिक वस्तुओंके नये-नये इस्तेमाल उसे मालूम होते रहे। श्रमके विकासका मतलब था—वस्तुओंका अधिक अर्जन, वस्तुओंका अधिक उपयोग, जिसके लिये अधिक व्यक्तियोंका सहयोग और सहभोग होना लाज़िमी था।

जिस तरह हाथके मुक्त होनेसे श्रमशक्ति बढ़ती देख मानवने उसके और भी हजारों उपयोग ढूँढ़ निकाले, उसी तरह एक बार जब सहयोगके लाभको देख लिया, तो उसे स्वीकारकर वह आगे बढ़नेमें प्रयत्नशील हुआ। इस प्रकार मनुष्यको पैदा होते ही बना-बनाया समाज नहीं मिल गया; बल्कि प्रकृतिको पराजितकर भोग-उत्पादनके लिये सहयोगी श्रम और आत्म-रक्षाके लिए सहयोगी संग्राम ही थे, जिन्होंने मुक्त हाथकी बढ़ी हुई शक्तिको और बढ़ाकर मनुष्यको समाज बनानेकी प्रेरणा की।

(२) भाषाकी उत्पत्ति—समाजमें बद्ध हो जानेपर, मनुष्यके पास उसके बढ़े हुए काम, उनके लाभ, शोक, हर्ष आदि कितने ही भाव मनमें आते, उन्हें वह अपने सहचरको सुनाता। अब उसकी ध्वनियोंकी संख्या बढ़ने लगी, और ध्वनि-यंत्रमें धीरे-धीरे परिवर्त्तन होने लगा। वायुनाड़ीका शब्द-बक्स पेचीदे छल्लोंवाला बनने लगा, मुखके अवकाश और जिह्वामें तब्दीलियाँ हुईं, और धीरे-धीरे ध्वनि ही नहीं, वर्णके उच्चारणमें भी वह समर्थ हुआ। श्रमने मनुष्यको समाज दिया, समाजने उसे भाषा दी। पशु हमारी भाषा नहीं बोल सकते; क्योंकि उनके पास विकसित शब्द-यंत्र नहीं हैं। किन्तु, जब वह हमारे समाजमें आ जाते हैं, तो वह कितने ही शब्दोंको पहचानने लगते हैं। कुत्ते, घोड़े, हाथीको हम रोज़ इस तरह अपने शब्दोंपर काम करते देखते हैं। कुत्ते जिस मुल्कवाले मालिकके पास रहते हैं, उनकी ही भाषाके शब्दोंका अनुसरण करते हैं। स्नेह-भक्तिका मान भी मानव-समाजमें आकर उनका ऊँचा हो जाता है। मालिकको देरसे मिलनेपर सीखा कुत्ता जिस प्रयत्नके साथ ध्वनि निकालता है, यदि उसके पास ध्वनि-यंत्र होता, तो इसमें शक नहीं, वह उन्हें और स्पष्ट रीतिसे प्रकट करता। प्राणियोंमें मनुष्योंके

मनुष्यके मोदकी चीज़ोंमें हैं। तोता, मैना-जैसे पक्षी तो ऐसा ध्वनि-यंत्र रखते हैं कि वह मनुष्यके बहुत-से शब्दोंकी बड़ी सफलताके साथ आवृत्ति कर सकते हैं। 'तोता रटनकी' कहावत मशहूर है, जिससे हम समझते हैं कि तोता बिना अर्थ समझे ही आदमीके मुँहसे सुने शब्दोंको दुहराता है। यह सच है कि तोता अक्सर मौजमें आनेपर अपनी सभी सीखी शब्दावली, वाक्यावलीको घंटों बिना समझे दुहराता है; किन्तु सीखी हुई सारी ही बातोंको वह नहीं समझता, यह बात नहीं है। अपनी क्षमताके भीतरके कितने ही शब्दोंका वह अर्थ भी समझता है। किसी तोतेको आप गाली इस तरह सिखलाइये जिसमें उसको पता लगे कि गुस्सा होनेके वक्त यह शब्द निकलता है; फिर उसे दिक किया जाय, तो आप देखेंगे कि वह ठीक स्थान पर मुँहसे गाली निकालता है। 'खाना दो' 'खाना दो' सिखलाकर, कहते ही खाना देते जाइये, तोता समझ जायेगा, कि खाना पानेके लिये यह वाक्य उपयोगी है, और वह 'खाना दो' कहकर खाना माँगने भी लगेगा।

(३) मस्तिष्क-विकास—पहिले (हस्त-) श्रम आया, और फिर तथा साथ ही साथ शब्द-ध्वनि। इन दोनोंके प्रस्तुत हो जानेके बाद उनका प्रभाव मस्तिष्कके विकासपर पड़ा। मस्तिष्कके एक विशेष भागका घनिष्ठ संबन्ध हाथोंसे तथा दूसरोंका कान और ध्वनि-यंत्रसे है। एक भागके विकासके साथ दूसरेका विकास अवश्यंभावी है। इनके विकासके बाद दूसरी इन्द्रियोंका विकास आसानी-से समझमें आ सकता है। जिस तरह ध्वनि (वाणी)में होते विकाससे श्रवण-यंत्र (कान)में विकास होता है, जिसमें कि ध्वनिकी बारीकियों, वर्णों, स्वरों, उनके आरोहावरोहोंको समझा जा सके, उसी तरह इन्द्रिय-यंत्रोंके विकासके साथ मनुष्यके मस्तिष्कका विकास होना ही था। गिद्ध मनुष्यकी अपेक्षा बहुत दूरकी चीजें ज़रूर देखता है; किन्तु देखी जाने-

वाली चीज़के भीतरकी जितनी बात मनुष्य जान सकता है, उतना गिद्ध नहीं जान सकता। कुत्तेकी सूँघनेकी शक्ति मनुष्यसे तीव्र होती है; किन्तु उसके सम्बन्धका उसका ज्ञान मनुष्य जितना व्यापक नहीं होता। यह सब मनुष्यके मस्तिष्कके भारी विकासके परिचायक हैं।

इस विकासको ज़रा पीछे मुड़कर देखिये—वही हाथका श्रमके लिये मुक्त होना सारी प्रगतिकी जड़ है।—श्रमका प्रभाव भाषापर, दोनोंका मस्तिष्क और तत्संबंधी इन्द्रियोंके विकासपर; फिर चेतनाकी क्षमता तथा कल्पना और निश्चयकी शक्तिमें वृद्धि। इन सब सफलताओंके आधारपर फिर श्रम और भाषाकी प्रगति। पर आगेकी प्रगति वहीं समाप्त नहीं हो गई, जब कि मनुष्य वनमानुषसे एक बिल्कुल अलग प्राणी हो गया; बल्कि वह आगे भिन्न-भिन्न समयमें, भिन्न-भिन्न जातियोंमें, भिन्न-भिन्न गति और मात्रा-में जारी रही। यद्यपि कहीं-कहीं स्थानीय परिस्थितियों और दूसरे कारणों-ने प्रगतिको कुछ समयके लिये रोकने या हटानेमें भी कुछ सफलता पाई; तो भी सबको देखनेपर प्रगति आगे की ओर ही रही। इस प्रगति-में ऊपरके कारणोंके अतिरिक्त मनुष्यका मनुष्य होना या समाज— भी खास हाथ रखता है।

(४) वनमानुषसे मानुष—पृथिवीकी आयु (दो अरब वर्ष)के सामने मनुष्यके प्रादुर्भाव और प्रगतिके कुछ लाख वर्ष वैसे ही हैं, जैसे हमारे लिये एक सेकंड। किन्तु, इतने समयमें आखिर वृक्षों पर कूदनेवाले वनमानुषोंका एक गिरोह मानवके रूपमें आ मौजूद हुआ। वनमानुषोंके गिरोह और मानव-समाजमें हम जो अन्तर देखते हैं, वह है यही श्रम। वनमानुषोंका गिरोह भौगोलिक परिस्थिति तथा पड़ोसियोंकी प्रतिद्वन्द्विताके अनुसार अपनी चरभूमिमें चर-चुग सकता था, खाद्यके अभावपर वह वहाँसे प्रवास कर सकता था; किन्तु नई चर-भूमि पर अधिकार जमानेके लिये उसे संघर्ष करना

पड़ता था। तो भी वह भूमिसे उतना ही खाद्य प्राप्त कर सकता, जितना कि प्रकृतिने वहाँ तैयार किया था, वह भूमिको अधिक खाद्य देनेके लिये मजबूर नहीं कर सकता—हाँ, अनजाने उसके मल-मूत्रसे कहीं थोड़ी-सी भूमि उर्व्वर हो जाये, तो वह दूसरी बात है। सभी सुलभ भूमियोंके अधिकारमें आ जानेपर वानरोंकी संख्या-वृद्धि नहीं हो सकती थी; क्योंकि वह प्रकृतिको भुलावा देकर उससे अधिक खाद्य सामग्री पैदा नहीं करा सकता था, और फाज़िल व्यक्तियोंसे किसी न किसी तरह पिंड छुड़ाना पड़ता। उर्व्वरताके बढ़ानेकी बात तो अलग, प्राणी तो उसमें और कमी करते हैं, जो खाते वह तो खाते ही हैं, बहुत-से कच्चे दानों, कितने ही उगते अंकुरों और पौधोंको नष्ट कर डालते हैं। चतुर शिकारी अपने शिकार-क्षेत्रकी हरिणियोंको मारनेसे परहेज करता है, इस ख्यालसे कि वह अगले साल बच्चे जनेंगी; किन्तु भेड़िया या चीता उसकी परवाह नहीं करता। किसी समय हरी-भरी यूनान की पहाड़ियाँ, आज नंगी हैं; क्योंकि वहाँकी भेड़-बकरियोंने सदियों तक वहाँके नवजात पौधोंको भी चरकर आगे बीज या सन्तान-को बढ़नेका मौका नहीं दिया। जब नई परिस्थिति प्राणीके जीवनके प्रतिकूल हो उठती है, तो नई परिस्थितिसे मुकाबिला करनेके लिये जाति-परिवर्त्तन उसकी अगली पीढ़ीको तैयार कर सकता है, यह हम 'विश्वकी रुपरेखा'में तेलचट्टों की नई नस्लकी घटनाके बारेमें कहते वक्त बतला आये हैं। यह जाति-परिवर्त्तन नई परिस्थितिमें, नये रासायनिक तत्त्वोंके मिश्रण और अनुपातके कारण होता है, यह भी वहीं बतला चुके हैं। इसी तरहकी परिस्थिति हमारे पूर्वजोंके वनमानुष-से मानुष-रूपमें जाति-परिवर्त्तन करनेमें सहायक हुई।

परिस्थितिकी मजबूरियाँ, आहारमें रासायनिक तत्त्वोंका परिवर्त्तन यह मानुषके श्रमसे नहीं था। मानुषका श्रम परिवर्त्तनमें जबर्दस्त साधन तब बना, जब कि उसने हथियार बनाया। मानुषके पुराने

हथियारोंमें हम आगे शिकार और मछली मारनेके लिये उपयोगी औज़ार देखते हैं, जिनमें शिकारके हथियार लड़ाईके हथियारके तौरपर भी काम आ सकते थे। ये सर्व पुरातन हथियार बतलाते हैं, कि उस समय फलाहारी मानव मांसाहारी बन चुका था। फलाहारीसे मांसाहारी होना मानव-विकासमें एक जबर्दस्त क़दम था। मांस-भोजन शरीरके लिये आवश्यक पदार्थोंका बहुत कुछ तैयार स्वरूप है; क्योंकि वह उसी रूपमें है, जिसमें कि मनुष्यको स्वयं आहारके पाचन आदिसे उसे परिश्रमके साथ थोड़ी मात्रामें लाना पड़ता है। जहाँ पाहेले मनुष्य वनस्पतियोंका स्वामी हो सकता था, अब मांसाहारी मनुष्यके लिये पशुओंका भी स्वामी बनना ज़रूरी हो गया। मांसाहारका सबसे ज्यादा प्रभाव मस्तिष्कपर पड़ा; क्योंकि अब उसे बेहतर खाद्य-रस—मोटा केरासिन तेल नहीं, हवाई जहाजका पेट्रोल मिला। मांसाहारने एक ओर जहाँ पीढ़ी दर-पीढ़ी मस्तिष्कके विकासमें जबर्दस्त सहायता की, वहाँ इसमें शक नहीं, उसने नरभक्षणकी भी आदत डाल दी, जो अभी हाल तक कितनी ही जातियोंमें मौजूद रही है।

लेकिन, मांसाहारने दो बड़े काम किये—उसने वनमानुषसे आगे बढ़े मानुषको अग्निके पास पहुँचाया, और पशुओंका पालन सिखलाया। आग-द्वारा पाचनकी कितनी ही क्रियाओंके बाहर ही हो जानेसे पेटको कम श्रम करना पड़ने लगा। पशु-पालनने शिकारकी अनिश्चित सफलताकी जगह आहारका एक निश्चित साधन हाथमें दिया, जिससे उसे मांस ही नहीं, बल्कि दूध और उसकी बनी दूसरी चीजें भी प्राप्त हुईं।

एक ओर मनुष्यका हाथ और दिमाग़ बाहरकी परिस्थितिपर नियमन करनेका प्रयास कर रहा था और दूसरी ओर परिस्थिति उसपर प्रभाव डाल रही थी। मानवकी प्रत्येक अगली मंज़िल प्रकृतिपर नया अधिकार—नई विजय थी। मनुष्य पैदा तो हुआ था उष्ण प्रदेशमें; किन्तु आहारकी खोजमें उसे शीत प्रदेशोंमें जाना पड़ा। वहाँकी

सर्दी-गर्मीने उसे शरण (घर) और वसन तैयार करनेके लिये मजबूर किया। यह श्रमके नये प्रकार थे जिन्होंने क़दम-क़दम आगे बढ़ते हुए मनुष्यको पशुओंसे बिल्कुल अलग कर दिया।

हाथ, वाणी और मस्तिष्कके सहयोगने—प्रत्येक व्यक्तिमें ही नहीं, बल्कि समाजमें भी—मानवको पेचीदासे पेचीदा कामोंके करनेमें समर्थ बनाया, और उन्हें उच्चसे उच्चतर लक्ष्योंको प्राप्त करनेमें सफलता प्रदान की। पीढ़ियोंके गुजरनेके साथ श्रम भी भिन्न-भिन्न तथा अधिक पूर्ण होता गया। आगे हम देखेंगे कैसे फल-संचयनके बाद शिकार, और पशुपालन; फिर खेती, कालना, बुनना, धातुशिल्प, कुम्हार-शिल्प, मलाही; फिर व्यापार, उद्योग-धंधे, कला और अन्त में साइन्स आन उपस्थित हुआ। मानवके दो मुक्त हाथोंके श्रमने देखो उसे कहाँसे कहाँ पहुँचा दिया!

वनमानुषोंके यूथसे मानव-समाज; कबीलोंसे राष्ट्र और राज्य; फिर कानून और राजनीतिका विकास; फिर मानव-मस्तिष्ककी खुराफाती कल्पना—धर्म। मनकी इस कल्पनाके सामने प्रकृति, हाथ, श्रम, समाज सभी पीछे ढकेल दिये गये; और इन सबकी सहायतासे इस अवस्थाको पहुँचा मानव-मन अब सर्वेसर्वा बन गया। आज यह समझना भी मुश्किल मालूम होता है, कि एक समय मानव-मनको बनानेमें हाथोंने भारी भाग लिया था। आज मन पहिलेसे योजना बनाता है, और बाक़ी अंग उसको कार्य-रूपमें परिणत करते हैं।

हाँ, तो मानव और पशुमें क्या अन्तर है, इसके बारेमें हमने कहना शुरू किया था।—पशु प्रकृतिका सिर्फ़ उपयोगमात्र करता है, वह उसमें जो परिवर्त्तन लाता है, वह अपनी उपस्थितिमात्रसे; लेकिन मानव प्रकृतिमें परिवर्त्तन लाकर उसे अपना सेवक—कमकर—बनाता है, और स्वयं उसका स्वामी बनता है; यह है सबसे बड़ा अन्तर पशु और मानवमें; और यह श्रम है, जिसने कि इस अन्तरको पैदा किया है।

मानवके विकासमें बाहरी परिस्थिति कितनी निर्णायक होती है, इसे हम विकासमें पिछड़े अमेरिकाके पुराने बाशिन्दोंके उदाहरणसे जान सकते हैं। एशिया, यूरोप, अफ्रीकाके महाद्वीप आपसमें मिले हुए हैं। यहाँ ही मानवको पालतू बन सकनेवाले गाय, घोड़े आदि पशु जंगली अवस्थामें मिले, जिनसे उसने पशुपालन ही नहीं, कृषि और आगेकी अवस्थामें प्रगति की; किन्तु अमेरिकामें ऐसे जानवर न थे, इसलिये इंडियन उतनी प्रगति नहीं कर सके थे।

❀ ❀ ❀

२. मानव-जातियाँ

प्राचीन पाषाण-युगका वह समय जब कि पाषाणअस्त्र अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली बनने लगे थे, प्रायः दो लाख साल पहिले गुज़रा है। यही ने-अंडर्थल मानवका समय था।

ईसा पूर्व २०,०००में हमें औरिग्नाशियन मानवोंका पता लगता है। यह अपनेसे पहिलेके सभी मानवोंसे ज्यादा होशियार थे। इनका समय चतुर्थ हिमयुगका समय था; जब कि सर्दी बहुत पड़नेसे सारा यूरोप बर्फसे ढँका पड़ा था। इस हिमयुगका अन्त ८,००० ई० पू०के क़रीब हुआ। ऐसे हिमयुगसे बच निकलना ही इस जातिकी क्षमता-को बतलाता है। ये लोग चमड़ेका कपड़ा पहिनते थे; सूई भी इस्तेमाल करते थे। सर्दीसे बचनेके लिये इन्होंने पर्वतोंकी कन्दराओंमें शरण ली थी। ने-अंडर्थलके पास कोई कला न थी; किन्तु औरिग्नाशियनकी अपनी कला थी। रहनेकी गुफाओंमें अपनी अँगुलियोंसे जो चित्र इन्होंने अंकित किये थे, उनमेंसे कुछ अब भी प्राप्त हुए हैं। छोटे-से आरम्भसे इन्होंने लाल और काले रङ्गोंमें जानवरोंकी तस्वीरें बनानी शुरू कीं। कलाकार पहिले रेखा खींचता, फिर उसमें रङ्ग भर देता, और अभ्यस्त तथा दिल लग जानेपर उसने पत्थर, हड्डी और शायद

लकड़ीपर भी अपना कौशल दिखलाया। हड्डी, हाथीदांत, पत्थरोंपर भी उसने चित्र उत्कीर्ण किये। उनके चित्रोंमें बालवाले गैंडे, हिरन और जंगली घोड़ोंकी तस्वीरें मिलती हैं। इसी जातिके अन्तिम कालमें धनुष-बाणके आविष्कारका पता लगता है। उनके रहनेकी गुहाओंमें हड्डियों और दूसरे अवशेषोंसे पता लगता है, कि वह पीढ़ियों तक एक जगह रहते रहे। हो सकता है, हिमयुगकी मजबूरीके कारण ऐसा हुआ हो।

चतुर्थ हिमयुगकी समाप्तिके साथ पुराण पाषाणयुग भी समाप्त होता है और मानव नई आशा के साथ नये युग में पैर रखता है। यूरोपमें नये जंगल, नई हरियाली और घासके मैदान पैदा होते हैं। जानवर एक जगहसे दूसरी जगह घूमते हैं; मानव भी शिकार और आहार संचयके लिये उनका अनुगमन करता है। आगे का नव-पाषाणयुग वह समय है, जोकि कृषि और धातुके आविष्कारके बीचमें गुजरा।

❀ ❀ ❀

३. पशु और प्रकृतिसे संघर्ष

सबसे पुराना मनुष्यका अवशेष जो हमें मिला है, वह जावा-का द्विपद है और वह हमें आजसे ५ लाख वर्ष पहिले ले जाता है। हम अन्यत्र लिख चुके हैं❀ कि यावा-द्विपद शरीरमें अभी पूरा मानुष नहीं बन पाया था। अभी भी उसकी गर्दन बिल्कुल सीधी नहीं हो पायी थी। इन पाँच लाख वर्षोंमें मनुष्य पृथिवीके स्थल-भाग-पर प्रायः सभी जगह घूमता रहा। जावा, चीन, भारत, अफ्रीका, फ्रांस, जर्मनी, इंगलैंड आदि देशोंमें बिखरी हुई उसकी पथराई हड्डियाँ (फोसील) इसी बातको सिद्ध करती हैं। जङ्गल, पहाड़, नदियाँ, समुद्र, उस अल्प-साधन मनुष्यके मार्गमें भारी बाधक थे; किन्तु वह उसकी गतिको

❀"विश्वकी रूपरेखा।"

रोक नहीं सके। पुराण-पाषाण युगके जो पत्थरके हथियार काश्मीर, मध्य-एशिया और चीनमें मिले हैं, उनसे डाक्टर बीरबल साहनीकी राय है, कि उस वक्त इस मानव-जातिका गमनागमन हिमालयके उस पारके इन स्थानोंसे था—हिमालय उस वक्त तक आजसे आधा ही ऊँचा हो पाया था, और इससे गमनागमनकी दिक्कत कम थी। आदिम मानव इन अज्ञात जगहोंमें आजकी भाँति पहिले ही से मुहिमका प्रबन्ध करके नहीं गया; इसमें उसका बहुत समय लगा, जिसकी उसके पास कमी भी न थी।

उस समय उसके जीवनका प्रायः सारा भाग आहारकी खोजमें गुजरता था, जैसा कि आज भी वानरों और लंगूरों या पिछड़ी हुई अफ्रीकाके बौने (पिग्मी) आदि जातियोंका गुजरता है। खाने लायक फल हर जगह पर्याप्त नहीं थे, और जो थे भी, वह सालके सभी महीनोंमें सुलभ न थे। शिकारके मौजूद होनेपर भी उसके हथियार—पत्थरके टुकड़े और लकड़ी—ऐसे थे, जिनकी सहायतासे अपने लिये खाद्य जमा करना जल्दी नहीं हो सकता था। लेकिन, अभी उसके लिये सारी पृथिवी पड़ी हुई थी, उस वक्त मनुष्य पृथिवीकी एक दुर्लभ वस्तु थी।

किन्तु, मनुष्यकी कठिनाइयाँ यहीं खतम नहीं हो जाती थीं। उसके शत्रुओंकी संख्या बहुत ज़्यादा थी। मध्य-यूरोपके मानवके खाद्यमें महागज भी सम्मिलित था। आजकलके हाथियोंसे कई गुना बड़े उस महागजका शिकार कितना खतरनाक था, और ख़ासकर उस अवस्थामें जब कि मनुष्यके पास पत्थरके अनगढ़ टुकड़ों और लकड़ीके सिवाय कोई हथियार न था। ज़रूर वह इसके लिये गड्ढों या खड्डकी सहायता लेता रहा होगा; तो भी उसकी जान जोखिममें रहती थी, इसमें तो सन्देह ही नहीं। सिंह, व्याघ्र, भेड़िया आदि कितने ही हिंस्र पशु उस समय आजसे कहीं अधिक थे; इस

लिये अपनी जीवन-यात्राके लिये उसे इन सबसे लड़ना, इन सबसे बचना पड़ता था।

पृथिवीके जलवायुमें परिवर्त्तन होता रहा है। एक समय था, जब आसनसोल (बंगाल)में बर्फ़ पड़ा करती थी, और वहाँ देवदारके दरख़्तोंका जङ्गल था—पटना म्यूजियममें वहाँके एक ऐसे पथराये वृक्षका भाग रखा हुआ है। जिन मुल्कोंमें हमें मानव-अवशेष मिले हैं, उनको आजके जलवायुसे आदिम मानुषकी प्राकृतिक कठिनाइयोंका चित्र हम नहीं खींच सकते*। भिन्न-भिन्न मानव जातियोंके चमड़े और आँखको रङ्ग बतलाता है, कि उन्हें भिन्न-भिन्न जलवायुमें, सर्दी-गर्मीमें अपने जीवनके भारी भागको बिताना पड़ा। काली पुतलियाँ गर्म प्रदेशमें सूर्यके प्रखर प्रकाशको कम करनेके लिये ज़रूरी हैं, और नीली पुतलियाँ ऐसे प्रदेशके लिये हैं जहाँ सूर्यकी किरणें मन्द होती हैं। इस प्रकार यह भी मालूम हुआ, कि सर्द प्रदेशोंमें रहनेवाले मानवको सर्दीसे मुकाबिला करना आसान काम न था, खासकर जब कि उसकी खालपर वनमानुष जैसे बाल न थे। जानवरकी खालको कपड़ेके तौरपर इस्तेमाल किया जा सकता है, यह समझ जानेपर उसकी यह कठिनाई दूर हो गई होगी। जङ्गलमें लगी आगसे वह समझ पाया होगा कि सर्दीकी दवा आग भी है। यह जान लेनेपर भी आगका पैदा करना आसान काम न था। लकड़ी (अरणी) रगड़नेसे आग पैदा होती है, यह उसके लिये भारी आविष्कार ही नहीं था, बल्कि एक जबर्दस्त देवताका साक्षात्कार भी था। किन्तु इस तरह प्रकट हुई आगको सुरक्षित रखनेकी तरकीब ढूँढ़कर निकालनेमें उसे काफी प्रतीक्षा करनी पड़ी होगी। घर्षण करके आग निकालना कितनी आश्चर्यकी चीज़ उन्हें मालूम होती थी, इसका पता इसीसे

*चार हिम युगोंमें सबसे पिछला दस हज़ार वर्ष पूर्व ख़तम हुआ।

लग सकता है कि आजसे ४ हजार वर्ष पूर्वके वैदिक ऋषि उस वक्त गद्गद् स्वरसे अग्निदेवको प्रकट होनेके लिये प्रार्थना करते थे, जिस वक्त कि अरणीके दोनों पल्लोंका घर्षण किया जाता था।

समाज—मनुष्य सामाजिक जन्तु है शुरूसे ही नहीं, बल्कि मनुष्य बन जानेपर। विकासमें मनुष्यके समीपवर्त्ती प्राणी—वनमानुष, वानर, लंगूर—सभी यूथ, समाज (पशुओंका समूह) बाँधकर रहते हैं। प्राकृतिक शक्तियों और प्राणधारी शत्रुओंके साथ संघर्ष करनेमें उसे इस तरहका यूथ ज्यादा सहायक प्रतीत हुआ, इसलिये इसे त्यागनेकी उसे कभी आवश्यकता न पड़ी और पीछे उसके विकासमें तो सबसे बड़ा हाथ समाजका रहा है,—व्यक्तिका भी प्रयत्न व्यक्तिके तौरपर नहीं, बल्कि समाजके अंगके तौर पर ही उतना सफल हुआ। समाज कैसे बना, यह हम बतला आये हैं। मानव भाषाके विकासमें समाजका जबर्दस्त हाथ था, यह भी कह चुके हैं। भाषा शास्त्री लुडविग न्वारे*के शब्दोंमें "एक सम्मिलित लक्ष्यकी ओर बढ़नेके लिये वंशके वृद्धोंका वह अत्यन्त प्राचीन श्रम, समाजिक प्रयत्न ही था, जिससे भाषा और चिन्तनका आरम्भ हुआ।" भाषा-सम्बंधी खोजोंसे पता लगता है, कि सबसे पुराने जो शब्द बने वह क्रियाके द्योतक थे, और क्रियामें भी उन्होंने अधिकतर ध्वनि (पत-गिरना)का अनुकरण किया। इन्हीं क्रियावाचक शब्दों—धातुओं—से पीछे कितने ही नाम भी बने।

मानव मनुष्य-समाजसे अलग नहीं रह सकता था, अलग रहनेपर उसे भाषासे ही नहीं चिन्तनसे भी नाता तोड़ना होता, क्योंकि चिन्तन ध्वनि-रहित शब्द है। मनुष्यकी हर एक हर्कतपर समाजकी छाप है। बचपनसे ही समाजके विधिनिषेधोंको हम माँके दूधके साथ पीते हैं, इसीलिये हम उनमेंसे अधिकांशको बंधन नहीं भूषण-

---

*Ludwig Noire.

के तौरपर ग्रहण करते हैं; किन्तु, वह हमारे कायिक, वाचिक कर्मों-पर पगपगपर अपनी व्यवस्था देते हैं, यह उस वक्त मालूम हो जाता है, जब हम किसीको उनका उल्लंघन करते देख उसे अ-सभ्य (अ-सामाजिक) कह उठते हैं। सीपमें जैसे सीप-प्राणीका विकास होता है, उसी प्रकार हर एक व्यक्तिका विकास उसके सामाजिक वातावरणमें होता है। मनुष्यकी शिक्षा-दीक्षा अपने परिवार, हाट-बाट, पाठशाला, क्रीड़ा तथा क्रियाके क्षेत्रमें और समाज-द्वारा विकसित भाषाको लेकर होती है।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि समाज एक अछूती अपरिवर्त्तन-शील लौह-प्राचीर है, वह व्यक्तिको अपने विशेष ढाँचेमें ढालता है, और स्वयं एक रस बना रहता है। हर समाज लगातार बदल रहा है, यह परिवर्त्तन क्रमशः विकासके तौर पर भी होता है और कहीं-कहीं क्रांतिके तौरपर भी—कहीं परिवर्त्तनको हम तरङ्ग-प्रवाहकी भाँति देखते हैं और कहीं छलाँग मारते प्रपातकी भाँति। समाजका ढाँचा, उसके भीतरकी चीज़ें—वस्तु, व्यक्ति, विचार—सभी बदलती रहती हैं।

आदिम मानवको आपसमें भी झगड़ना पड़ा होगा, किन्तु उसे यह समझनेमें बहुत समय नहीं लगा कि अपने सम्मिलित शत्रु-का मुकाबिला वह तभी कर सकता है जब कि उसके मुक़ाबिलेमें वह एक होकर लड़े। प्रकृति और पशु-जगत्के साथ असंख्य संघर्षोंको करके उसने इस गुरको सीखा।

पशु भी विरोधी प्राकृतिक शक्तियोंका मुकाबिला करते हैं; जब जानते हैं कि जीवनका रास्ता उधरसे ही जा रहा है, किन्तु मनुष्य और पशुके इस प्रकारके व्यवहारमें अन्तर है। पशु प्राकृतिक बाधाओंसे बच निकलना चाहते हैं। मनुष्य बच निकलना ही नहीं चाहता, बल्कि कोशिश इस बातकी भी करता है कि प्रकृतिकी उस बाधक शक्तिपर अधिकार प्राप्त करे। पशु आगसे भागना ही जानता है, मनुष्यने बहुत पहिले ही उसे ध्वंसक ही नहीं रक्षकके रूपमें स्वीकार

किया। रातको उसने उसे अपना पहरेदार बनाया, और उसे जलाकर हिंस्र जन्तुओंको अपने पास आनेसे रोक दिया। जाड़ोंमें उसने उसे जलाकर सर्दी दूर की और जब भुने मांस, भुने फल-मूलका स्वाद मालूम हो गया, तो उसने उसे पकानेका साधन बना पेटके श्रमको कम किया।

४. मानवकी पशुसे विशेषता

हम कह आये हैं * कि वनमानुष और कुत्ते जैसे समझदार प्राणी भी सामने की वस्तु के ही प्रतिबिंबको लेकर मस्तिष्कसे कुछ सोचनेकी क्षमता रखते हैं। किन्तु, उनका सोचना सिर्फ़ वर्त्तमानके प्रकाशमें होता है। मनुष्य अग्र-सोची होता है, वह भविष्यकी सुरक्षाका पहलेसे ख्याल करता है, और आगेके सुखके लिये वर्त्तमान्में दुख झेलनेको भी तैयार हो जाता है। तुच्छ लाभ यदि हाथमें आ गया हो, तो भी वह उसे छोड़ सकता है, यदि मालूम हो कि उसके द्वारा वह बड़े लाभका अधिकारी बन सकता है। उसके सामाजिक सदाचार इसी दिशामें किये गये प्रयत्नोंके फल हैं, यद्यपि उन्हें खास स्थितिमें खास प्रयोजनके लिये स्वीकार किया गया था, और उस विशेष परिस्थिति और प्रयोजनके बदल जानेपर उन्हें भी बदलनेकी ज़रूरत है। पशु प्रकृतिके साथ संघर्ष अपने वर्त्तमान्के अस्तित्व—केवल अस्तित्व—को क़ायम रखनेके लिये करता है; और उसके लिये सहज—जन्मजात साधनों-को इस्तेमाल करता है; लेकिन मनुष्य अपने वर्त्तमान्के अस्तित्वके लिये ही नहीं प्रयत्न करता है, सहज साधनोंसे ही मुकाबला नहीं करता, बल्कि भविष्यमें भी अपने और अपने सम्बन्धियों तथा समाजका अस्तित्व रखनेके लिये नये साधनों—हथियारों—का आविष्कार करता है। इसीलिए मनुष्य सामाजिक पशु होनेके साथ-साथ हथियारधारी पशु है।

* "देखिये विश्वकी रूप-रेखा"

५. मानवकी विशेषता

मनुष्यके मस्तिष्ककी बनावट ऐसी है, उसका सेरेब्रम् इतना विकसित है—आजके मनुष्यका ही नहीं क्रोमेग्नन् और नेअन्डर्थलमें भी—कि वह सोच सकता है, विश्लेषण कर सकता है, नवीन रास्ता निकाल सकता है, अनुभवोंसे शिक्षा ग्रहण कर सकता है; तजबोंकी बिनापर भविष्यकी झाँकीको पहलेसे मस्तिष्कमें देख, पहलेसे आहार अर्जनकी योजना बना सकता है, सर्दी-गर्मी प्रतिकारका उपाय सोच सकता है। भविष्यको अनिश्चित छोड़ना अपने उसी मस्तिष्ककी बनावटके कारण, उसके लिये मुश्किल है; क्योंकि वैसा करनेपर उसका हृदय उत्सुकता और भयका हर वक्त शिकार रहने लगता है। जहाँ मस्तिष्कने उसे इस दिशामें इतना बढ़नेका सुभीता दिया, वहाँ शरीरके दूसरे अंगोंने भी उसकी पूरी सहायता की। मनुष्यके पंजे—नाखून—उतने तीखे और मज़बूत नहीं हैं; और न शेर-भेड़ियेकी तरह वह अपने दाँतोंको ही इस्तेमाल कर सकता है; किन्तु इसकी जगह उसके पैर ऐसे हैं, जिन्होंने सारे शरीरके बोझको सँभालनेका भार अपने ऊपर ले लिया है, जिससे हाथ बिल्कुल मुक्त हैं—पशुओंकी भाँति उसका हाथ शरीरके सँभालनेके लिए फँसा हुआ नहीं है। यदि ऐसा न होता, तो दिमाग सोचनेकी ताकत रखते हुये भी हाथसे हथियारोंको उठवा न सकता, न उनमें सुधारकर अनगढ़ पत्थरोंसे लेकर आजके बम-वर्षकों तक पहुँच सकता। मस्तिष्क और मुक्त हाथ मिलकर मनुष्यको मनुष्य बनानेमें सफल हुए हैं। इनमें मस्तिष्कका सीखना-सोचना तथा भाषा द्वारा अपनी कार्यक्षमताको अधिक बढ़ाना बहुत हद तक समाजकी सहायतासे हुआ है, यह हम पहिले बतला चुके हैं।

मनुष्य प्रकृतिसे भिन्न नहीं है, वह उसीका अंग है; यद्यपि वह विकासके उच्चतम शिखरपर पहुँचा हुआ अंग है। प्रकृतिके निम्न

और उच्च अंगोंमें भेद होना लाज़मी है, और वह मनुष्यमें भी पाया जाता है। मनुष्य प्रकृतिका वयस्क—वालिग—पुत्र है, इसलिये वह "ननु" "न च" करता है, किसी चीजको प्रकृति जैसा उसे देती है, वह उसे आँख मूँदकर उसी तौरपर उसे स्वीकार नहीं करता, वह उसमें सुधार करता है, उसे अधिक उपयोगी बनाता है। रास्तेमें पड़े पत्थरोंको फोड़, छील कर तेज किये कड़े पत्थरोंको लिये वह इसी वास्ते घूमता था।

(१) मानव मस्तिष्ककी करामात—आदिम मानुष या तीन लाख वर्ष पूर्वके हैडलवर्गीय मनुष्यसे लेकर चंद हजार वर्ष पहिलेके हमारी ही जातिके मनुष्यों तक उन्हीं छिले हुए चकमक तथा दूसरे सख़्त पत्थरके हथियारोंका बना रहना बतलाता है, कि आरम्भमें एक अवस्थासे दूसरी अवस्था पार करनेके लिये ज्यादा समय लगता रहा; लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि इस सारे समयमें मनुष्यका मस्तिष्क बेकार रहा। मनुष्यके मस्तिष्कने और भी कितनी ही चीज़ें निकाली होंगी, जो कि आजकी तुलनामें नगण्य भले ही हों; किन्तु उस वक़्त वह बहुत महत्त्व रखती थीं। यह सभी चीज़ें वह चकमक पत्थरसे नहीं बना सकता था, इसीलिये लाखों वर्षोंको पारकर वह हम तक नहीं पहुँच सकीं। हम अन्यत्र* बतला चुके हैं कि नवपाषाण युगसे पहिले ही मनुष्य पत्थर, लकड़ी, हड्डीके हथियारोंके अतिरिक्त सीना-पिरोना, जाल-कपड़ा बुनना जानता था। मकान बनाने तथा आगका उपयोग भी उसे मालूम था। इनसे हम कितनी ही और बातोंका भी अनुमान कर सकते हैं, जो मनुष्यके मस्तिष्कसे, इन हजारों शताब्दियों-में निकली होंगी। तो भी जितना ही हम भूतमें जायँ आविष्कारोंकी गति, उतनी ही धीमी होती जाती है। अठारहवीं सदीके अन्तमें शक्ति-संचालित यंत्रोंका ख़्याल अभी दिमाग़में आने ही लगा था; उसका पूरा उपयोग १६वीं सदीसे शुरू हुआ। १६वीं सदीके अन्तमें बिजली

*"देखिये विश्वकी रूपरेखा"

का श्रीगणेश हुआ था, और आज उसका भारी विकास हो चुका है। एक्सरे, हवाई जहाज़, रेडियो वर्त्तमान् शताब्दीकी करामातें हैं। बोलते फिल्मोंको तो मुश्किलसे १२ वर्ष हुए हैं।

समाज—समाजका लक्षण करते हुए, एक लेखकने लिखा है—"समाज क्रिया द्वारा एक दूसरेपर प्रभाव डालनेवाले व्यक्तियोंका एक विस्तृत संगठन है। अपने व्यक्तियोंकी परस्पर प्रभाव डालनेवाली सभी स्थायी क्रियाएँ समाजके अन्तर्गत होती हैं, और वह खुद व्यक्तियोंके परिश्रम (क्रिया)के पारस्परिक सम्बन्धपर आश्रित है।" मनुष्यको प्रकृतिने बाध्य किया सम्मिलित और संगठित होनेके लिये, क्योंकि उसके विना वह अपने अस्तित्व को मनुष्यके तौरपर नहीं क़ायम रख सकता था; और यह सम्मिलन, संगठनके वस्तुओंके उत्पादकके सम्बन्धमें हुआ।

समाज वास्तविक इकाइयों—व्यक्तियों—से बना है, यह स्पष्ट है। व्यक्ति निरन्तर एक दूसरेसे प्रभावित हो रहे हैं। आजकलका उदाहरण ले लीजिये। एक आदमी बाजार जाता है, चीज़ ख़रीदता है। वहाँ वह बाजारकी दरपर प्रभाव डालता है—ख़रीदारोंकी ज्यादा संख्याका एक भाग होनेसे ख़रीदारोंकी अधिकता और विक्रेय चीज़ोंकी कमीके कारण भावको महँगा करता है। यह प्रभाव अत्यल्प भले ही हो—और इकाई भी अत्यल्प होती है—किन्तु वह वहाँ मौजूद है इसमें सन्देह नहीं। फिर तालावमें ढला फेंकनेसे उठी लहरकी भाँति यह प्रभाव सिर्फ़ एक बाज़ारपर ही नहीं, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय जगत् तक फैल जाता है। लगनके दिन हैं, आदमी बाजारमें जेवर-कपड़ा खरीदता है, उससे बाजारपर असर पड़ता है। ब्याह करानेके लिये पुरोहितको बुलाता है, इसका प्रभाव पास-पड़ोसपर धर्मके अनुकूल पड़ता है; और वह फ़िर अपने सदृश प्रभावोंसे मिलकर जगत्में धर्मकी जड़ोंको मज़बूत करता है। पुरोहितको दक्षिणा दी जाती है, वह फिर बाजार में जाकर व्यापारपर प्रभाव डालता है। समाज-

में करोड़ों व्यक्ति प्रवाहमें जल-विन्दुओंकी भाँति एकत्रित हुए हैं।

समाज व्यक्तियोंके योगसे वना है, किन्तु वह व्यक्तियोंका योग मात्र नहीं है। परिमाण या मात्रा गुणमें भी परिवर्त्तन करती है, इसका जिक्र अन्यत्र* हो चुका है। व्यक्तियोंके योगसे मिलकर बने समाजमें भी इसी तरहका गुणात्मक परिवर्त्तन पाया जाता है। व्यक्ति अलग-अलग रहकर जैसे सोचता, जैसी हर्कत करता है; समाजके रूपमें उसके वातावरणमें—आनेपर उसमें अन्तर पड़ता है। क्यों? अब वह समाजसे प्रभावित हो रहा है। जलूस, सभा, बड़े मजमेंमें व्यक्ति प्रवाहमें वह चलते हैं, या कमसे कम उससे प्रभावित जरूर होते हैं—इसीसे मालूम होता है कि समाज व्यक्तियोंके समूहसे बढ़कर है, और उसी तरह जैसे पुर्जोंके ढेरसे घड़ी बढ़कर है।—इस तरह समाज = मनुष्य + मनुष्य नहीं है, बल्कि समाज = मनुष्य × मनुष्य है।

व्यक्तियोंकी हर एक हर्कतका प्रभाव समाजपर पड़ता है, किन्तु परिवर्तित रूपमें। समाज जितना ही छोटा होता है, यह प्रभाव उतना ही अधिक या कम समयमें असर करते देखा जाता है। कारण?—ऐसे समाज या यूथमें व्यक्ति एक दूसरेके बहुत नजदीक आ सकते हैं और विचार-विनिमयका उन्हें अधिक मौका मिलता है। वस्तुतः व्यक्ति समाजपर प्रभाव डालता है, अपने यूथके द्वारा ही।

भाषा, राजनीतिक ढाँचा, विज्ञान, कला, दर्शन और अधिकांश फैशन, रीति-रिवाज, शिष्ट व्यवहार आदि सामाजिक जीवनकी ही उपज हैं, और व्यक्तियोंके पारस्परिक सम्बन्ध, एक दूसरेपर डाले जाते प्रभाव तथा निरन्तर संगतिके परिणाम हैं।

समाजका मानसिक जीवन भी उसके व्यक्तियोंके विचारों और भावनाओंका योग मात्र नहीं है, वह भी व्यक्तियोंके पारस्परिक सम्मिलनकी उपज है, और कितनी ही हद तक नई चीज़ है।

---

* "देखिये विश्व की रूपरेखा" और "वैज्ञानिक भौतिकवाद"

द्वितीय अध्याय

जंगली मानव-समाज

मानव-समाजको एन्गेल्सने तीन युगोंमें बाँटा है—जंगली, बर्बर और सभ्य। इनमें मनुष्यके इतिहासका सबसे बड़ा भाग जंगली मानव-समाजका इतिहास है। नेअन्डर्थल, ग्रिमाल्दी, क्रोमेग्नन् मानव-जातियोंका सारा जीवन इसी युगमें बीता। विशेष प्राकृतिक परिवर्त्तनोंके कारण पृथिवीपर चार हिमयुगोंके आनेका पता लगता है, जिनमें सबसे पिछला दस हजार वर्ष पहिले समाप्त हुआ। दूसरी मानव-जातियाँ इन हिमयुगोंके बीचके समयमें ही खतम हो गईं। यह हमारी सपियन मानव-जाति ही है, जिसका अस्तित्व चतुर्थ हिमयुगके बादसे लगातार चला आ रहा है। हमारी जातिका भी बहुत-सा समय जंगली अवस्थामें बीता। पहिलेवाली जातियोंकी भाँति इसे भी पत्थर के अनगढ़ हथियारों द्वारा मारे शिकार और सूखे-ताजे फलोंपर अपना गुजारा करना पड़ा था।

क. आदिम साम्यवाद

जांगल मानवके पास साधन कम थे, इसलिये उसे अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये व्यक्तिसे अधिक समाजपर भरोसा रखना पड़ता था, और इसीलिये उसकी जो कुछ भी थोड़ी बहुत सम्पत्ति थी, वह सामूहिक थी। "कुछ" इसलिये कहना पड़ रहा है, कि उसके उपयोगकी चीज़ोंमें जल्द ख़राब होनेवाली चीजें ज्यादा थीं। फलसंचयसे आगे बढ़कर जब मृगया (शिकार) के जीवनमें

दाखिल हुआ, तो मारे हुए शिकारके मांसको वह देर तक नहीं रख सकता था। वह "करतल-भिक्षा तरुतलवासः" जैसा जमाना था, इसलिये संग्रह कम था, सम्पत्ति कम थी। जो भी सम्पत्ति थी वह सम्मिलित थी, क्योंकि वह सम्मिलित श्रमसे प्राप्त होती थी। इस अवस्थाको आदिम साम्यवाद कहते हैं। इस आदिम साम्यवादी कालमें उच्चनीच वर्ग नहीं थे, धर्म नहीं, यहाँ तक कि यूथसे व्यक्तिके अलग अस्तित्वका ख्याल भी नहीं था*। सभी मिलकर एक दूसरेकी रक्षा करते थे, साथ मिलकर खाद्य संग्रह करते थे, साथ उसे भोजन करते थे, साथ ही बल परिश्रम करते थे। आवश्यक वस्तुओंका उत्पादन चूँकि वैयक्तिक नहीं सामूहिक था, इसलिये "सम्पत्ति"का सामूहिक होना जरूरी था। किन्तु इस आदिम साम्यवादी समाजके अन्तिम भागमें अवस्थामें परिवर्त्तन होने लगा, और सम्पत्ति तथा असमानता आने लगी थी।

१. मातृसत्ता और ब्याह

उस वक्तकी एक और विशेषता थी, समाजमें स्त्रीका बोलबाला होना, जिसे मातृसत्ता या मातृशाही कहते हैं। वानरों, लंगूरों, वनमानुषोंमें यूथका स्वामी नर होता है, किन्तु मनुष्यके आदिम कालकी यूथप स्त्री होती थी, यह आश्चर्यकी बात मालूम होगी; किन्तु आश्चर्यकी जरूरत नहीं। इस अवस्थामें रहती प्राचीन या आधुनिक जातियोंके बारेमें अन्वेषण करते हुए वैज्ञानिक इसी नतीजेपर पहुँचे हैं। और यह बुद्धिसे विरुद्ध बात भी नहीं है। लंगूरमें क्यों एक जबर्दस्त नर (खेखर)को स्वामित्वका अधिकार होता है?—क्योंकि वही यूथमें सबसे बलवान् होता है। यद्यपि उससे प्राण बचाकर बाहर रहनेवाले "छुटभइयों"की संख्या क़ाफ़ी होती है; किन्तु उन्हें संघशक्तिका

---

*भाषामें 'मैं'से पहिले बहुवचन 'हम'का स्थान है, यह भाषा-शास्त्रियोंकी खोजोंसे मालूम पड़ता है।

पता नहीं; एका करके यूथपतिका मुकाबिला करनेकी उनमें शक्ति नहीं। मनुष्यको संघशक्तिका पता बहुत पहिले लग गया था, इसलिये वहाँ आदिम अवस्थामें यूथप नहीं देखा जाता। उसकी जगह वहाँ परिवार था, और हर परिवारकी अध्यक्षा एक स्त्री थी, क्योंकि विवाहहीन समाजमें माता ही परिवारका मूल थी।

फलसंचय मनुष्यकी पहिली अवस्था थी, दूसरी अवस्थामें मछली और जानवरका शिकार उसकी जीविकाके प्रधान साधन थे। इन दोनों अवस्थाओंमें मानव-समाजपर माताका ही नेतृत्व था। वह निश्चित विवाह और नियमित पति-पत्नीका समय न था। अपनी माताके परिवारके किसी पुरुषसे गर्भिणी हो स्त्री माता बन सकती थी, यद्यपि इसमें माताके कोपका भाजन होनेका ख़तरा भी क़ाफ़ी था। हर माँ एक समय अपने परिवारकी स्वामिनी बननेकी आशा रख सकती थी। निश्चय ही उस समयका परिवार बड़ा नहीं हो सकता था, क्योंकि प्रायः वह एक जीवित माताकी सन्तानपर अवलम्बित होता था। एन्गेल्सने इस युगके स्त्री-पुरुषके सम्बन्ध—विवाह—को यूथ विवाह* कहा है, अर्थात् ब्याहमें व्यक्तिका नहीं यूथका प्राधान्य था। मातृसत्ताके परिवारको नर-मादा दो अलग वर्गोंमें बाँटनेपर गोया एक वर्ग दूसरे वर्गसे पति-पत्नीका सम्बन्ध रखता था—एक परिवारमें स्त्रीका मतलब था पत्नी और पुरुषका मतलब पति। आदिम कालमें मातृसत्ताके परिवारको मानते हुए भी कितने ही आजकलके वैज्ञानिक यूथ-विवाहको नहीं मानते। लेकिन सभी भाइयोंकी एक पत्नी होना अब भी तिब्बती और कितनी ही और जातियोंमें पाया जाता है, जो कि एक वर्ग—पुरुष वर्ग—के लिये एक तरहका यूथ विवाह ही है।

---

*Group marriage.

आगे हम बतलायेंगे कि स्त्रीके अधिकारका ह्रास उस वक्त होने लगा, जब कि जीविकाके अर्जनमें पुरुष अपनेको प्रधान साबित करने लगा, साथ ही वह समाजमें अपनी वैयक्तिक विशेषता दिखानेमें सफल हुआ। फलसंचय और शिकारमें स्त्री पुरुषसे पीछे न थी, अभी उसके लिये घर और बाहर, चूल्हे और हलके कामका बँटवारा नहीं हुआ था। ऊपरसे परिवारके सभी व्यक्ति जानते थे कि उनकी वही एक माता है। यही बात पुरुषोंके बारेमें नहीं कही जा सकती थी; क्योंकि उन पुरुषोंका पिता होना उतना निश्चित नहीं हो सकता था, जिससे कि सारे परिवारके साथ उनकी माता-जैसी घनिष्ठता हो। उस समय स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध परिवारके भीतर ही होना जरूरी था, क्योंकि सारे परिवारको एक साथ मिलकर जीविकार्जन और शत्रुओंसे मुकाबिला करना पड़ता था।

जीविकार्जनके लिये परिवारको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर घूमते ही नहीं रहना पड़ता था, बल्कि आज-कलके खानाबदोशोंकी भाँति अर्जन-क्षेत्रके लिये दो परिवारोंमें झगड़ा होनेका भी डर था। ऐसी अवस्थामें परिवारसे बाहर स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध अपवाद रूपसे ही हो सकता था। फिर इस निकट सम्बन्धमें मामा, भाई, बेटेका ख्याल कहाँ से हो सकता था? मनुष्य ऐसे सम्बन्धोंसे होकर तो अभी हाल-में—ऐतिहासिक युगमें—गुजरा है, और कुछ बातें तो अभी भी मौजूद हैं। मद्रासके तमिल लोगों—ब्राह्मणोंमें भी—अब भी मामाकी लड़की के साथ भांजेका ही नहीं, बल्कि खुद मामाके साथ भांजीका ब्याह साधारण रवाज-सा है। मिश्र और ईरानके शासकों—फर्वा और शाहंशाहों—में बहिन-भाईकी शादीके कितने ही दृष्टान्त मिलते हैं। इनका (अमेरिका)के राववंशमें बहिनके साथ शादी रक्तकी पवित्रताके लिये बहुत ही जरूरी समझी जाती थी। ईरानमें एक समय मातृविवाहकी प्रथा इतनी जारी थी कि ईसाके पाँचवीं-छठीं सदीके

भारतीय ग्रन्थकार "पारसीक-मातृविवाह"* को लोक-रूढ़िके तौरपर अपने ग्रन्थोंमें उद्धृत करते हैं।

२. हथियार और उत्पादनके साधन

मातृसत्ताक आदिम साम्यवादी परिवारमें चिकने या अनगढ़ पत्थरों तथा लकड़ी, हड्डीके हथियार होते थे, यह जिक्र हम कर आये हैं। जाड़ोंके लिये चमड़ेकी पोशाकको भी मनुष्य तैयार करता था। स्विट्जरलैंडमें ६०°/० भालू, मोरावियामें ६०°/० महागज और डेन्मार्कमें ६०°/० घोंघा, सीप, मछली उसकी खाद्य थी, इसका जिक्र भी अन्यत्र हो चुका है।

३. संपत्ति

इस युगकी संपत्तिके बारेमें एन्गेल्सने लिखा है कि इन आदिम साम्यवादी समाजोंके भीतर भी सम्पत्तिका विकास हुआ था, पहिले बाहरी आदमियोंसे बदलैनके द्वारा, फिर धीरे-धीरे वह विक्रय (पण्य) वस्तुका रूप लेने लगा। क्रमशः कितनी ही वस्तुएँ अपने उपयोगके लिये ही नहीं, बल्कि बदला करके दूसरेके उपयोगके वास्ते तैयारकी जाने लगीं, और इसीके अनुसार असमानता बढ़ी तथा कम्यून†—परिवारोंके समूह—के सदस्योंमें सम्पत्तिका तारतम्य बढ़ने लगा। लेकिन यह अवस्था अन्तिम समयकी समझनी चाहिये; साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि समाजके इन ऐतिहासिक युगोंकी सीमाएँ बिल्कुल स्पष्ट नहीं थीं—देश और काल दोनोंमें कहीं एक अवस्थाको बीते दस हजार वर्ष हो चुके, तो कहीं हाल तक वह चली आ रही हैं। आज पूँजी-वादी युगमें भी भारतमें सामन्तशाही चली जा रही है। दास-प्रथा दुनिया-के बहुतसे भागोंसे बहुत पहिले खतम हो चुकी, किन्तु नेपालमें १६२५ ई० तक वह क़ानूनी तौरसे जारी थी। तो भी विकासका क्रम निम्न

---

*Commune.

†देखो टिप्पणी पृष्ठ ८९-९०

क्रमसे ही देखा गया—आदिम साम्यवादी समाज (आदिम कम्यून), जनसत्ता (कबीलाशाही) इन दोनोंमें ही मातृसत्ताकी प्रधानता थी, और दोनों हीमें वैयक्तिक सम्पत्तिके लिये कम स्थान था। जनसत्ताके बाद पितृसत्ता, फिर क्रमशः दासता, सामन्तवाद और पूंजीवादका जमाना आया। आदिम कम्यूनमें वर्ग-भेद न था, वहाँ कमकर और काम-चोर श्रेणियाँ न थीं। इसलिये न शोषण था, और न उसे क़ायम रखनेके लिये क़िसी एक वर्ग—शोषक वर्ग—का शासन था।

तृतीय अध्याय

बर्बर मानव-समाज

आदिम कम्यूनकी आगेकी सीढ़ी बर्बर समाज है। इसकी पहिली अवस्थामें अब भी मातृसत्ता कायम रहती है। परिवार और उससे बने परिमित कम्यूनसे समाज आगे बढ़ता है इसे ही जनसत्ता (कबीलाशाही) कहते हैं। जनसत्ताके साथ मातृसत्ता खतम हो पितृसत्ता स्थापित होती है, जिसके साथ यही नहीं कि स्त्रीका स्थान समाजमें हीन हो जाता है, बल्कि वर्गहीन मानव-समाजमें वर्ग-भेद आरम्भ हो जाता है।

क. जनयुग

१. जन क्या है ?

जंगली अवस्थासे आगेकी स्थितिको एन्गेल्सने जन कहकर लिखा है। जन प्राचीन हिन्दी (इन्दो)-यूरोपीय शब्द है, जिसका अर्थ मनुष्य या मनुष्य-जाति होता है। किन्तु एन्गेल्सने उसे मनुष्योंके एक वंशज समुदाय कबीलेके अर्थमें प्रयुक्त किया है—भारतमें भी जन शब्दका प्रयोग एक-वंशज मनुष्य-समुदायके अर्थमें होता था, यद्यपि वह विकासकी उसी अवस्थाका द्योतक नहीं था। हिन्दी-आर्य जिस वक्त अफगानिस्तान और सिन्धु तटपर पहुँचे, तो वह अलग-अलग जनों (कबीलों), में विभक्त थे, और जिस प्रदेशमें वह जाकर बस गये, वह उन्हीं जनोंके नामसे प्रसिद्ध हो गया। शिवि जन (लोग) जहाँ जाकर बस गया, उसका नाम शिवि-जनपद (देश) पड़ गया, पक्थ जहाँ बसा उसका नाम पक्थ (पठान) जनपद हुआ, मद्रोंका वास मद्र-जनपद,

मल्लोंका मल्ल-जनपद। यह सिलसिला पंजाब ही तक सीमित नहीं रहा, बल्कि युक्तप्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त, राजपूताना आदिमें भी जनोंके नामपर जनपदोंका नामकरण हुआ। संस्कृतमें जनपद और जन दोनोंका प्रयोग अभिन्नताके साथ होता था। बहुसंख्यक व्यक्तियों-का होनेसे जनके लिये शब्दका प्रयोग बहुवचनमें (मद्राः, मल्लाः) होता था, और वही बहुवचनान्त शब्द जनपदके लिये भी ले लिया गया था—मद्राः = मद्र लोग, मद्रजनपद। इस प्रकार भारतीय जन शब्द हिन्दी-यूरोपीय जनके नज़दीक जरूर है, किन्तु समाजके विकासमें वैज्ञानिक उस अवस्थाको जन कहते हैं, जब कि समाजमें मातृसत्ता की प्रधानता है, वर्गभेद स्पष्ट नहीं हुआ है, और आदिम कम्यूनसे समाज बहुत दूर नहीं हटा है। पंजाब या अफ़गानिस्तानमें आनेके समय हिन्दी-आर्य्योंके समाजमें मातृसत्ता नहीं पितृसत्ता थी, आदिम कम्यून नहीं वैयक्तिक सम्पत्ति थी, यद्यपि जहाँ तक आर्योंका अपने भीतरका सम्बन्ध था, सप्त-सिन्धु (पंजाब)के निवासके वक्त उनमें उतनी विषमता न थी, जितनी कि गंगाकी उपत्यकामें। कुरु-पंचालमें बसनेके साथ ही उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिके रूपमें आर्थिक और जातीय वर्गभेद—वर्णभेद—आ उपस्थित हुआ।

जनकी अपेक्षा गोत्र शब्द यह ज्यादा जन-अवस्थाके नज़दीक है। गोत्र का वैसे अर्थ भी है, गौओंकी रक्षाका साधन, स्थान या रक्षक-समुदाय। गौ, एक समय हिन्दी-आर्योंका प्रधान धन था, इसलिये एक-वंशज जनसमुदाय या वंश को ही गोत्र (गाय रखनेवाला) कहा गया। जन-अवस्थामें जहाँ यूरोपीय समाज पशुपालन आरम्भ करता है, हमारे यहाँ वह गोपालन की समृद्धि का समय (अर्थात् एन्गेल्सकी परिभाषामें पितृसत्ताका जमाना) था। गोत्र कालका ज्ञान हमारे पास बहुत अल्प है। वशिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाज आदि जितने गोत्र प्रसिद्ध हैं, वह वस्तुतः गोत्रकाल और पितृसत्ता काल-

के भी नहीं हैं। ये सारे गोत्रकर ऋषि गंगाके आस-पासवाले प्रदेशमें १५०० ई० पू० के आस-पास दासता और सामन्तवादी युगमें हुए थे। संभव है, कुभा (काबुल) और सुवास्तु (स्वात)की उपत्यकामें रहते वक्त अभी गोत्रसत्ता उनमें मौजूद रही हो, और जनसत्ता पितृसत्ताकी मध्यवर्ती अवस्थाको जतलाती हो।

जनसत्ताका आरम्भ बर्बर युगके आरम्भके साथ हुआ। अन्तमें जब वह समृद्धिके शिखरपर पहुँचा, तो साथ ही पितृसत्ताके रूपमें बदलकर अपने गर्भसे उसने अपने वैरी पितृसत्ताको पैदाकर नाशकी ओर क़दम बढ़ाया। जनसत्ताकी अवस्थामें मनुष्यने लिपिका आविष्कार नहीं किया था और न छन्द और गीत हीमें इतना कमाल हासिल था कि उसकी कितनी ही बातें हमारे पास तक पहुँचतीं। हजारों वर्ष पहिले जन-अवस्था पारकर गई जातियोंसे इस सम्बन्ध की सामग्री बहुत कम मिली है। लेकिन सारे मानव-समाजका विकास एक समान नहीं हुआ है, अभी हाल तक कितनी ही जातियाँ जनसत्ता, और पितृसत्ताकी अवस्थाओंमें पाई गई हैं। इनके समाजके अध्ययनसे हमारी उस गुजरी अवस्थापर बहुत प्रकाश पड़ता है। मोर्गनने अमेरिकाके आदिम निवासियों—लाल इंडियनों—के जीवन, रीति-रवाजपर काफ़ी खोज की थी, उसको लेकर एन्गेलसने बर्बर मानवयुगके पिछले भागकी जनसत्ताका जिक्र करते हुए लिखा है—

"अमेरिकाके लाल इंडियन उस अवस्थाके एक अच्छे उदाहरण हैं, जबकि जन-समाज[1] पूर्णतया विकसित था। एक कबीला कई भिन्न भिन्न-भागों, किन्तु आम तौरपर दो भागों—जनतों[2]—में बटा हुआ है। जनसंख्या बढ़नेके साथ एक जनत और कितने ही जनतोंमें बँटता है। इन जनतोंसे प्रथम जनतका सम्बन्ध बिरादरी[3] के तौरपर है। स्वयं पुराना कबीला[4] अब कितने ही छोटे कबीलोंमें बँट गया है—और

[1]Genes. [2]Gentes. [3]Phratry. [4]Tribe.

ऐसे कबीलोंमें बँटा है, जिनमेंसे प्रत्येकमें पुराना जनत मौजूद है। कुछ जगहोंपर सम्बन्धी कबीले एक तरहके संघ द्वारा एक दूसरेके साथ सम्बद्ध पाये जाते हैं। संगठनका यह ढाँचा, उनके इस वक्त के विकसित समाजके काम चलानेके लिये पर्याप्त है। इस सामाजिक अवस्थाके लिये जो संगठन उपयोगी हो सकता है, बस वही संगठन इस रूपमें हमें मिल रहा है। इस तरहके संगठित समाजके भीतर जो भी झगड़े—मत-भेद उठ सकते हैं, उनसे निबटारेके लिये यह संगठन काफी है। बाहरी झगड़ोंका निबटारा वे युद्ध द्वारा करते हैं, जो एक कबीलेके सर्वनाश-के साथ भले ही समाप्त हो सकता है, किन्तु वहाँ किसीको परतन्त्र बनाया जाता कभी नहीं देखा जाता। जनसत्ताका यह भव्य, किन्तु सीमित स्वरूप है; जहाँ परतन्त्रता और दासताका सर्वथा अभाव मिलता है। जन-समाजके भीतर अधिकार और कर्त्तव्यमें कोई भेद नहीं है। लाल-इंडियनके लिये यह प्रश्न कोई अर्थ नहीं रखता कि सार्वजनिक काममें भाग लेना, वंशकी हत्याका बदला लेना या कोई दूसरा शान्ति और सुलहका काम व्यक्तिके कर्त्तव्यमें सम्मिलित है या अधिकारमें। यह प्रश्न उनके लिये उसी तरह बेमानी है, जैसे यह पूछना कि खाना सोना, शिकार करना कर्त्तव्य है या अधिकार।

"जन-संख्या बहुत कम है इसलिये आबादी बहुत ही विरल है, और जहाँ उसकी आबादीका केन्द्र है, सिर्फ वहीं वह घनी है। आबादीके चारों ओर उनके शिकार करनेकी विस्तृत भूमि है, इसके बाहर जंगल-का एक भारी घेरा है, जो कि जहाँ दूसरे कबीलेके साथ सीमान्तका काम करता है, वहाँ साथ ही वह जन-आवासकी रक्षा-प्राचीरसा भी है। श्रम-विभाग बिल्कुल स्वाभाविक है, और वह सिर्फ स्त्री-पुरुषके काम-के सम्बन्धमें है। पुरुष लड़ाई करते हैं, मछली और जानवरका शिकार करने जाते हैं, खाद्य-सामग्री और अपेक्षित हथियार प्रस्तुत करते हैं। स्त्रियाँ घरका काम-काज देखती हैं—खाना-कपड़ेका इन्तिज़ाम,

रसोई, बुनाई, सिलाईका काम करती हैं। अपने-अपने कार्यक्षेत्र में स्त्री-पुरुषका पूरा आधिपत्य है—जंगलका स्वामी पुरुष है, घरके भीतर स्त्रीका राज्य है। अपने बनाये या इस्तेमाल किये जानेवाले हथियारपर अपना-अपना अधिकार है। पुरुष मछली और जानवरके शिकारमें काम आनेवाले हथियारोंका स्वामी है, और स्त्री घरके सामानकी मालकिन। घर कई परिवारोंके लिये एक ही होता है। कभी-कभी वह इतना बड़ा होता है, जिसमें ७०० व्यक्ति तक एक साथ रहते हैं। यह बात अमेरिकाके उत्तर-पश्चिमी तटके इंडियनों, रानी चार्लटद्वीपके हइदों और नूत्का कबीलोंमें अक्सर पायी जाती है। जिस चीजको सब मिलकर बनाते या इस्तेमाल करते हैं, वह सांघिक सम्पत्ति है—घर, बाग, नाव ऐसी ही सम्पत्ति है।"

२. ब्याह

जनसत्ताके कालमें—विशेषतः उसके शुरू के अधिक भागमें अभी माताका ही राज्य था। अधिकतर सम्पत्ति सांघिक होती थी, किन्तु जो थोड़ा-बहुत परिवारकी संपत्ति थी, उसका उत्तराधिकारी पुत्र नहीं पुत्रियाँ होती थीं। बाहरी परिस्थिति जब जबर्दस्त विरोध खड़ा करती है, तभी पुराने रवाज टूटते हैं। केरल (मलवार)के नायरोंमें अभी वर्तमान् शताब्दीके प्रथम पाद तक सम्पत्तिपर पुत्रोंका नहीं पुत्रियों-का अधिकार माना जाता रहा। अब्राह्मण नेता डाक्टर टी. एम. नायर-ने भारी प्रयत्न करके कानून बदलवानेमें सफलता पाई, जिससे कि जायदाद-पर पुत्रोंका भी अधिकार स्वीकार किया गया। लेकिन जांगल और जनसमाजकी व्यवस्थाको आज तक केरलमें जारी रखना, ब्राह्मणोंकी स्वार्थ-पूर्ण नीति और समाजपर एकाधिपत्यका परिणाम था। केरलके नम्बूदरी ब्राह्मणोंमें—जिनमें अधिकांश ज़मींदार, जागीरदार, शतप्रति-शत शिक्षित, खेती और शारीरिक श्रमसे कोई सम्बन्ध न रखनेवाले

होते हैं—सम्पत्तिका उत्तराधिकार सिर्फ़ बड़े लड़केको मिलता है। छोटे लड़के बड़े भाई के आश्रित रह सकते हैं, या घर-जमाई बन दूसरे किसी एकमात्र कन्यावाले परिवारके स्वामी बन सकते हैं, अथवा अपनी विद्या-बुद्धिसे नयी जायदाद बना सकते हैं—जो कि सभीके लिये आसान काम नहीं है। छोटे भाई अग्रजके एकमात्र उत्तराधिकारी बननेको आसानीसे कबूल न कर सकते थे, खास करके जब कि आस-पासकी सारी दुनिया अग्रज उत्तराधिकारका त्याग चुकी हो। ब्राह्मणोंके लिये इसका रास्ता निकालना मुश्किल न था, क्योंकि धर्म-शास्त्र या क़ानून बनाना भी उनके हाथमें था। नायरोंमें पुत्रीका उत्तराधिकार, हो सकता है, पहिलेसे चला आता रहा हो, किन्तु उसे हजारों वर्ष तक चिरायु करनेका काम ब्राह्मणोंका ज़रूर था, और यह काम उन्होंने बिल्कुल निःस्वार्थ भावसे नहीं किया। ब्राह्मणोंमें जिस तरह सम्पत्तिका उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र होता है, उसी तरह ब्राह्मण-कन्यासे शादी करनेका अधिकार भी ज्येष्ठ पुत्र हीको है। यह ज़रूरी भी था, क्योंकि बिना घरबारके, बिना सम्पत्तिवाले आदमी-को कौन अपनी कन्या देगा? इस तरह कितनी ही ब्राह्मण-कन्याएँ चिर-कुमारी ही रहने लगीं। ख़ैर, ब्राह्मण-चिरकुमारीका सवाल तो नहीं हल हुआ, और शायद ब्राह्मण उसे हल करना भी नहीं चाहते थे; किन्तु कनिष्ट पुत्रोंकी समस्या दूसरे तौरपर हल की गई—ब्राह्मण-कुमार नायर-कन्यासे यौन-संबंध स्थापित कर सकता है, इस शर्तके साथ कि नायर-कन्या अपनेको ब्राह्मण-कुमारकी परिणीता स्वीकार करे; किन्तु ब्राह्मण-कुमार वैसा माननेके लिये बाध्य नहीं है। वह अपनी "स्त्री"के हाथका छुआ न पानी पी सकता है, न खाना खा सकता है। स्त्री और सन्तानके भरण-पोषणका उसपर कोई भार नहीं; क्योंकि इसके लिये नायरोंमें उत्तराधिकार कन्याको पहिले हीसे दे रखा गया है। सारी सामाजिक व्यवस्थाको देखनेपर मालूम होता है कि केरल-

में कन्या-उत्तराधिकार एक वर्गके आर्थिक स्वार्थके लिये क़ायम रखा गया, उसमें स्त्रीके अधिकारका ख़याल काम नहीं कर रहा था।

केरलके राजवंशमें राजाकी स्त्रीका सिर्फ़ 'स्त्री', पुत्रोंका सिर्फ़ 'पुत्र' रह जाना, उन्हें रानी और राजकुमारका अधिकार न मिलना भी उपरोक्त अभिप्राय हीको लेकर है।—केरल-राज्योंमें राजाका उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ भांजा होता है, रानी कहलानेका उत्तराधिकार उसकी बहनों या माँ-मौसीको होता है। राजपुत्रियोंमें कितनों हीके "पति" ब्राह्मण-कुमार होते हों, प्रचलित प्रथा इसके बिल्कुल अनुकूल थी।

जन-समाजमें ब्याह-संबंधमें परिवर्त्तन हुआ, और सगोत्र—एक जनके भीतर—विवाह निषिद्ध माना जाने लगा। भाई-बहिन, पिता-पुत्री, माँ-बेटे ही नहीं, एक खूनवाले बहुत-से और संबंधियोंसे यौन-संबंधका निषेध इसी अवस्थामें आरम्भ हुआ; लेकिन इसके अपवाद भी मौजूद थे और आज भी मिल सकते हैं, यह समाजके विकास-की विषम गतिके कारण है। जन-समाजकी विवाह-प्रथाको मिथुन-विवाह* कहा जाता है। यह एक प्रकारका शिथिल एकपत्नी विवाह था, जिसमें एक स्त्री एक पुरुषकी ही पत्नी होती थी, किन्तु उसमें कालिक परिवर्त्तन हो सकता था। इस तरहके ब्याहका उदाहरण हमें महाभारत† की श्वेतकेतुवाली कथामें मिलता है। श्वेतकेतुकी माँ-को एक ऋषि अपने साथ यौन-क्रियाके लिये ले जाना चाहता था। श्वेतकेतुने इसका विरोध किया। सारी घटना उसके पिताके सामने हो रही थी। पिताने कहा—इसमें कोई हर्ज़ नहीं, यही धर्म (समाज अनुमोदित कर्म) है। कहते हैं, इसपर श्वेतकेतुने इस प्रथाको हटा देनेकी प्रतिज्ञा की और ऋषि होकर उसने स्थायी विवाहकी प्रथा जारी की।

---

*Pairing marriage. †महाभारत आदि पर्व २८ अ०

३. हथियार और औजार

जन-युगमें मानव पुराने पाषाणके हथियारोंको और परिष्कृत करनेमें सफल हुआ। छीलकर तेज किये पत्थरके हथियारोंकी जगह अब उसने सख़्त पत्थरोंको घिसकर हथियार बनाने शुरू किये। इनमें फेंककर मारनेवाले ही पत्थर नहीं थे, बल्कि लकड़ी के डंडे लगाकर पत्थरके कुल्हाड़े भी शामिल थे। इन कुल्हाड़ोंको अपने सस्तेपन और उपयोगके कारण ताम्र, पित्तल ही नहीं लौहयुगमें प्रविष्ट जातियाँ भी कितनी ही बार इस्तेमाल करती देखी गई हैं—इंग्लैंडमें १०६६ ई०में हेस्टिङ्ग्सके युद्धमें पत्थरके कुल्हाड़े इस्तेमाल किये गये थे।

धनुष-बाणका आविष्कार सभी नहीं किंतु कुछ जातियोंमें पहिले हुआ था, तो भी हिन्दी-युरोपियनोंमें धनुषका उपयोग बहुत पीछे होता दिखलाई पड़ता है, क्योंकि धनुष-बाण के लिये एक शब्द हिन्दुओं, ईरानियों, स्लावों, पश्चिमी युरोपियनों और रोमक-यूनानियों-की पुरानी भाषामें नहीं मिलता। साथ ही ईरानियों और हिन्दुओं-की भाषामें खेतीके कितने ही शब्दों—यव = जौ, गोधूम = गंदुम् (गेहूँ), व्रीहि = बिरंज (चावल)के होनेसे पता लगता है कि यह दोनों जातियाँ जब एक दूसरे से अलग हुई, तो वह कृषक-अवस्थामें पहुँच चुकी थीं। हिन्दी-आर्योंमें कृषिके बाद तीर-कमानका आना यही साबित करता है कि विकासकी गति सभी जगह एक-सी नहीं होती।

दूसरे हथियार खोदने-काटने के थे, जो हड्डी, पत्थर या लकड़ीके होते थे। उस वक्त वस्त्र बुनने और सिलाईके भी हथियार इस्तेमाल होते थे।

४. सम्पत्ति

मछली, जानवरके शिकारसे मिलनेवाला मांस स्थायी सम्पत्ति नहीं हो सकता। चमड़ा, सींग, हड्डी, सूखे फल देर तक रखे जा सकते हैं और इनसे उपयोगकी दूसरी चीज़ें बदली जा सकती हैं, जिन्हें हम जनकी सम्पत्ति कह सकते हैं। धनुष-बाणके आविष्कारसे मनुष्यकी शक्ति शिकार, स्वरक्षा और शत्रुपर प्रहारके लिये बहुत बढ़ गई, इसमें शक नहीं; तो भी तीरके फल अभी नोकदार पत्थर या हड्डीके ही हो सकते थे।

शिकार जीविकाका ऐसा साधन था, जिसका रोज़ मिलना आसान न था, खासकर जन-संख्या बढ़नेपर। फल भी बारहों मास सुलभ न थे। मनुष्यको इसके लिये कोई तदवीर सोचनी ज़रूरी थी। पहिले सोचनेपर मालूम हुआ कि चारेके कम होनेपर शिकार उस प्रदेश-को छोड़ जाते हैं, उन्होंने इसके लिये घास जमा करने तथा घास बढ़ानेकी तरकीब सोची। शिकारियोंको आजकी भाँति उस वक्त भी वनपशुओंके सद्योजात बच्चे कभी-कभी मिल जाया करते थे, कभी-कभी मनुष्यने मनोरंजनके लिये घोड़े, गाय, भेड़-बकरीके बच्चोंको भी पाला था; किन्तु अब उसे पशु-पालनके आर्थिक लाभ मालूम होने लगे, और इस प्रकार जीविकाका एक नया साधन मनुष्यके हाथमें आया। पशु उसका धन हुआ। यह धन भी जनकी सांघिक सम्पत्ति थी, घर और चरागाहकी भाँति उसपर भी व्यक्तिका अधिकार नहीं स्वीकार किया गया। मनुष्यके लिये उस वक्त व्यक्तिके तौरपर सोचना उतना ही मुश्किल था, जितना कि आज संघके तौरपर सोचना कठिन मालूम होता है।

५. शिल्प और व्यवसाय

संक्षेपमें जन-कालमें जो घर, घासकी खेती, शिकारगाह, पशु थे, सभी सांघिक धन थे, मनुष्य पहिले कच्चा मांस खाता था, किन्तु

जन-अवस्थामें पहुँचनेसे पहिले ही भुने मांसका स्वाद उसे मालूम हो गया था। कच्चेसे आगका भुना मांस विशेष स्वाद रखता है, इसे किसी जङ्गलकी आगमें जल-मरे जानवरको खाकर उसने जाना होगा। पानीमें पकाकर मांसको खानेके लिये बर्तनके आविष्कार होने तककी प्रतीक्षा करनी थी। आरम्भमें पशुपालन शिकारके परिष्कृत रूपके तौरपर मांस और चमड़ेके लिये स्वीकार किया गया था। दूध-मक्खनका उपयोग बहुत पीछे किया जाने लगा।

जन-समाजके शिल्पमें पहिलेसे कोई भारी परिवर्त्तन हुआ हो, इसका पता नहीं, किन्तु शिकारके अतिरिक्त पशुपालनका व्यवसाय खुल जानेपर धीरे-धीरे व्यवसायी श्रेणियोंकी सृष्टि हुई। दोनों एक दूसरेकी चीज़ोंको लेनेके लिये निश्चय ही विनिमयकी चीज़ों-को तैयार करने लगे होंगे, और इससे गृहशिल्पमें तरक्की—यदि संख्या-में नहीं तो विशेषतामें—हुई होगी। चिर-अभ्याससे पोस्तीन पहिलेसे बेहतर बनने लगी होगी, जूते और दूसरी चीज़ोंकी बनावटमें भी निपुणता बढ़ी होगी।

क्रोमेग्नन् मानवकी चित्रकलाका हम जिक्र कर आये हैं। इस कालमें भी वर्णचित्र और रेखाचित्र भी बने ज़रूर होंगे, गंगपुर (छत्तीसगढ़)में पत्थरपर उत्कीर्ण कुछ चित्र मिले हैं, जिनमें शिकारके दृश्य दिखलाये गये हैं। ऐसे उत्कीर्ण चित्र दुनियाके और देशोंमें भी मिले हैं। इन चित्रोंमें देव, भूत तथा दूसरे धर्म-सम्बन्धी विश्वासोंकी गंध नहीं दीख पड़ती। यह चित्र सिर्फ़ खाली मनोरंजनकी चीज़ हो सकते थे, वह अभी व्यवसायका रूप नहीं ले सकते थे। व्यवसाय या पेशे तो कपड़े, पोस्तीन, जूतेके भी अभी नहीं हो पाये थे। यह सभी चीजें अपने-अपने घरोंमें बनती थीं, तो भी विनिमयमें चतुर हाथों-की चीजोंकी माँग ज्यादा होती थी; इसलिये शिल्प-चातुरीको प्रोत्साहन मिलना ज़रूरी था।

६. शासन

जन एक वंशके लोगोंका समाज था। वह जंगलों या पहाड़ियोंकी प्राकृतिक सीमाके भीतर एक स्थानपर रहता था—स्थिर वास न रहनेपर भी अपनी-अपनी विचरण-भूमि हरएक जनकी निश्चित थी। उनके भीतरी झगड़े जनकी पंचायत करती, और यदि दूसरे जनसे ख़ूनका बदला लेना होता या अपनी चर-भूमिकी रक्षाकी ज़रूरत पड़ती, तो सारे वयस्क पुरुष अपने पत्थर, लकड़ी, हड्डीके हथियारों या तीर-कमानको लेकर लड़ने जाते। जनके शासन-तंत्रको सिर्फ़ आन्तरिक न्याय और बाह्य युद्धका ही काम नहीं था, बल्कि सारे जनकी आर्थिक योजनाका संचालन भी उसीको करना पड़ता था। जाड़ोंके लिये पोस्तीन, ईंधन, आहारका कैसे इन्तिजाम करना चाहिये? हिमपात और भूखे भेड़ियेसे बचनेके लिये जनको क्या तदबीर करनी चाहिये? बरसातकी वर्षा- बाढ़ और गर्मीकी धूप, आँधी, खान-पान-सभीका इन्तजाम जन-संघको करना था। इस प्रकार जन-शासनकी जिम्मेवारियाँ ज्यादा थीं, तो भी बिना पुलिस, बिना जेल, बिना दूसरे आधुनिक साधनोंके वह बहुत उत्तमतासे अपने कर्त्तव्यको पूरा करता था। एन्गेल्सने एक मानव-तत्त्ववेत्ताके शब्दोंमें जन-समाजका इस प्रकार वर्णन किया है—

"अपनी स्वाभाविक सादगीमें यह जन-संस्था कितनी आश्चर्यजनक थी! वहाँ न सैनिक थे, न सिपाही, न पुलिस। न वहाँ सर्दार थे, न राजा, न उपराजा, न मजिस्ट्रेट या जज़। न जेल था, न दीवानी मुकदमे। इसपर भी सारा काम बड़ी सुगमतासे चल रहा था। जन, जनत या कबीला अपने झगड़ोंको स्वयं फैसला करता था। ख़ूनका बदला लेनेकी बहुत ही कम ज़रूरत पड़ती थी—आजकलकी फाँसी, मृत्युदंड उसीका अवशेष है, यद्यपि वह उतना विरल नहीं है। आजके हमारे शासन-विभागकी पेचीदगियाँ और कितने ही बेकारकी

रीति-भाँतिकी वहाँ आवश्यकता न थी, यद्यपि वहाँके शासन-विभाग-को आजसे अधिक काम रहते थे। सांघिक घर कितने ही परिवारोंके व्यक्तियोंके उपयोगकी चीज़ थी। भूमि सारे कबीले की थी, सिर्फ़ बागकी थोड़ी-सी भूमि परिवारके सुपुर्द थी।

"जन, कबीला और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली संस्थाएँ हरएक व्यक्तिके लिए पवित्र, और अनुल्लंघनीय चीजें थीं। वह (जन) प्रकृतिकी तरफ़से बनी लोकोत्तर संस्था भी समझी जाती थी। मानवका चिन्तन, वेदन, क्रिया सभी बिना किसी शर्तके उसके मातहत थीं।"

७. धर्म

प्राकृतिक शक्तियों—बिजली, बादल, आग, सूर्य, बहती धारा क्या सभी हिलने-डोलनेवाली चीजोंसे मानवके हृदयमें भयका संचार तो आदिम युगसे ही हुआ होगा। नेअंडर्थल मानवका मुर्दोंको बड़ी तैयारीके साथ दफनाना यह भी बतलाता है, कि मृत्यु भी उसके मनमें एक खास तरहका भाव पैदा करती थी। रात, विशेषकर अँधेरी रात तो काल्पनिक नहीं वास्तविक शत्रुओंका भय हर वक्त सामने उपस्थित किये रहती थी। किन्तु, इन भयके कारणों—और हर्षके कारणोंको भी ले लीजिये—को इस युगके मानवने धार्मिक भावसे ग्रहण किया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। धार्मिक भाव लानेका मतलब है आत्मसमर्पण करना, इन अज्ञात या अवास्तविक शत्रुओंको खुश करनेके लिये हीनता प्रकट करना। उस वक्त मानव इन अज्ञात शत्रुओंसे भय भले ही खाता हो, किन्तु अभी उसने उनके सामने हथियार डालना नहीं सीखा था। वह उन्हें कल-बल-छलसे जरूर अपने वशमें करना चाहता था। इस प्रकार धर्मसे जो अर्थ आजका सभ्य-असभ्य-समाज

---

*माता-देवीकी पूजा दुनियाकी सभी पुरानी जातियोंमें देखी जाती है। हो सकता है, वह इसी युगमें प्रचलित हुई हो।

लेता है, वह एक प्रकारसे उस वक्त मौजूद न था। फिर भी धर्मके लिये आवश्यक भूमि—अज्ञान तथा भय वहाँ मौजूद थे। सिर्फ उसीसे जीविका कमानेवाले एक स्वार्थी और चालाक पुरोहितवर्गकी और ज़रूरत थी, जिसे कि अगले समाजने प्रस्तुत किया।

जन-समाजका आचार या सदाचार बहुत सीधा-सादा था। वैयक्तिक सम्पत्ति न होनेसे चोरीका वहाँ सवाल नहीं था। सांघिक जीवन लोगोंके नस-नसमें भरा हुआ था, जिससे कितने ही समाज-विरोधी कामोंका न करना आदतमें शामिल था। झूठ तो अब भी पिछड़ी जातियोंमें हम बहुत कम पाते हैं, उसका तो सभ्यता—वैयक्तिक सम्पत्ति वाली सभ्यतासे—चोली-दामनका सम्बन्ध है। आचार वस्तुतः समाजको एक खास अवस्थामें रखनेके लिए होता है, और वह अधिक अस्वाभाविक रूप उस वक्त ले लेता है, जब कि किसी वर्गके विशेष स्वार्थ को अक्षुण्ण रखनेके लिए बाँधके तौरपर इस्तेमाल किया जाता है। जन-समाजका आचार शास्त्र बहुत सीधा-सादा था। जन-जीवन—सांघिक जीवन—के विरोधी सभी काम वहाँ दुराचार समझे जाते थे। चोरीको दुराचार और भारी अपराध बतानेकी ज़रूरत तो उस वक्त पड़ी, जब कि सांघिक अधिकार हटाकर सम्पत्तिपर वैयक्तिक अधिकार कबूल किया गया।

८. संक्रान्ति-काल

प्रकृतिके राज्यमें वस्तुओंकी सीमाएँ निश्चित करना सबसे मुश्किल है, वस्तुतः नपी-तुली सीमा प्रकृतिको पसंद ही नहीं है इसे पहले भी हम कह आये हैं। जन-समाजकी साम्यवादी दुनिया कब और कैसे पितृसत्ता—पुरुष-प्रधानता—वाले युगमें परिणत हो गई, यह भी उसी तरहकी बात है। बल्कि, एक तरहसे देखनेपर पितृसत्ता युग ही जन-सत्ता और सभ्यताका संक्रान्ति-काल है। पितृसत्ता क़ायम होनेपर

जन-शासनके जन-तांत्रिक और साम्यवादी रूपको धक्का ज़रूर लगा; किन्तु उसका असर तभी नष्ट हुआ, जब कि व्यक्तिगत संपत्तिका पूरा दौर-दौरा हो गया; और जन-समाज एक खूनसे सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियोंका समाज न रहा। यह अवस्था पितृसत्ताक समाजमें बिल्कुल खतम नहीं हो सकी थी; इसीलिये पितृसत्ताक समाजको जन-समाजसे अलग वर्णन करनेका मतलब यह नहीं समझना चाहिये कि उसका इससे कोई सम्बन्ध न था।

जन-युगके समाप्त न होनेपर भी जब कि हम यहाँ उसके इस प्रकार विशेष प्रकरणको समाप्त कर रहे हैं, तो यहाँ जनके अन्तिम दिनोंके बारेमें भी कह देना ज़रूरी समझते हैं। एन्गेल्सने इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

"आइये, हम देखें कि सामाजिक क्रान्तियोंके दौरानमें जनका क्या हुआ? जिस नये समाजने जनका स्थान ग्रहण किया, वह उसकी बिना सहायताके आ मौजूद हुआ था, और उसपर जन-संस्थाका वस न था। जनके लिये यह ज़रूरी था कि वह एक या अनेक जनोंसे बना क़बीला हो और बिना किसी दूसरेके दखलके एक ही प्रदेशमें रहे, तथा उसपर एकाधिपत्य रखे। लेकिन, समय बीतनेपर यह असंभव हो गया। सभी जगह जनकी भूमिके भीतर दूसरे जनों, कबीलोंके लोग आकर मिलने लगे। अब तक युद्ध होनेपर एक जन दूसरे जनको बिल्कुल नाश भले ही कर दे, और नर-भक्षक होनेपर मनुष्योंको चाहे खा भी जाये; किन्तु परतंत्र करना, बंदी बनाना जन-समाजका काम न था। आगे दासता-युगमें दासताका सूत्रपात पितृसत्ताके समाजमें ही हो गया था, जब कि मारनेकी अपेक्षा शत्रुको दास बनाकर काम लेनेमें ज्यादा लाभ समझा गया। लेकिन, इससे जनकी एकवंशिकता और नष्ट होने लगी।

ख. पितृसत्ता

पहिलेसे भी पुरुषका काम था, जीविकाके साधन और हथियार प्रस्तुत करना, और इसीलिये इन चीजोंपर उसका अधिकार होना स्वाभाविक था। पाले हुए पशु, जीविकाके अब नये साधन हाथ लगे थे। इन पशुओंको पालतू बनाना तथा चराना पुरुषका काम था, इसलिये पशु पुरुषकी चीज थे। पशुओंके विनिमयमें मिले सामान या दास भी पुरुषकी चीजें थीं। जीविकाके साधनोंसे पैदा किये तथा ख़र्च करके बच रहे सामान पुरुषकी सम्पत्ति थी। स्त्रीका इन अतिरिक्त वस्तुओंमें सहभोग था; किन्तु उससे वह उनकी स्वामिनी नहीं हो सकती थी—जैसा कि आज भी है। जङ्गली मानव योद्धा और शिकारी होते हुए भी स्त्रीके नीचे रहनेमें सन्तुष्ट थे, यद्यपि वह ज़्यादा क्रूर और साहसी थे; किन्तु अपेक्षाकृत नरम स्वभाववाला पशुपालक मानव अब अपनी स्थितिको जानता था, कि वह काफ़ी स्थायी धन-पशुओंका स्वामी है, इसलिये उसने धीरेसे स्त्रीको सिंहासनसे खिसका दिया, और ख़ुद समाजका नेता बन बैठा। स्त्रीका स्थान अब पुरुषसे निम्न हो गया, किन्तु वह उसके लिये शिकायत नहीं कर सकती थी। स्त्री-पुरुषमें श्रमका जो विभाग हुआ था, उसने उनके भीतर सम्पत्तिका भी विभाग कर दिया था—उपभोगके तौरपर नहीं वास्तविक उपार्जक और स्वामीके तौरपर। यह स्वामित्व अब तक इसी तरह चला आया। किन्तु अब उसने बिल्कुल उल्टा रूप लिया; क्योंकि परिवारसे बाहर श्रम-विभागका वह रूप नहीं रह गया था। घरके भीतरके कामकी जिम्मेवारी पहिले भी स्त्रीपर थी; किन्तु अब उसका महत्त्व उतना न था कि जिसके कारण स्त्रीको प्रधानता मिली थी, अब भी उसकी वही घरके भीतरी कामकी जिम्मेवारी थी; किन्तु अब वही उसको अपने प्रधानतासे च्युत करनेका कारण बनी। यह क्यों?—इसीलिये कि स्त्रीका काम पुरुषके जीविकार्जनके नये

काम—पशु-पालन—और उसके उपयोगके सामने नगण्य-सा था। पशु-पालन मुख्यता रखता था, अपने परिमाण और उपयोगिताके अधिक होनेसे; जब कि घरके भीतरका काम उसका परिशिष्ट मात्र था। यह भाव तबसे आज तक एकसा चला आ रहा है। किसी बात-पर पुरुष ताना दे बैठता था—तुम तो घरके भीतर 'आराम'से बैठी हो, तुम्हें क्या मालूम कितना खून-पसीना एक करके रोजी कमाई जाती है। हालाँकि श्रमके घंटों और चिन्ताको देखनेपर स्त्रीको कम काम नहीं करना पड़ता, ऊपरके कामचोर वर्गकी स्त्रियाँ इसका अपवाद ज़रूर हैं। यह साफ़ है कि स्त्रीकी स्वतंत्रता और समाजमें उसका सामान स्थान तब तक कोरी कल्पना ही रहेगी, जब तक कि समाजके लिये जीविका-उत्पादनसे उसे अलग रखा जायगा, और उसे घरकी चहारदीवारीकी 'रानी' बनाकर रखा जायगा। स्त्रीकी स्वतंत्रता सम्भव तभी होगी जब कि वह बिना रोक-टोक जीविका-उत्पादनके काममें पूर्णतया भाग लेने लगेगी और घरके कामका बोझ उसके ऊपर नाममात्र रह जायगा।

पुरुषने उत्पादनमें प्रधान स्थान ग्रहण किया, उसके साथ परिवार-में पुरुषके एकाधिपत्य होनेकी सारी रुकावटें दूर हो गईं। स्त्री-की प्रधानता—मातृसत्ता—समाप्त हुई; और पुरुषकी प्रधानता—पितृसत्ता—का निष्कंटक राज्य कायम हुआ। जिस पशु-धनने उसके उत्पादक पुरुषको समाजका प्रधान बनाया, उसीने समाजपर व्यक्तिके प्रभुत्वको बहुत बढ़ा दिया और साथ ही वैयक्तिक सम्पत्ति-का रास्ता खोल दिया। इस प्रकार पितृसत्ताकी स्थापनाके साथ आदिम साम्यवादका रहा सहा प्रभाव भी जाता रहा।

१. भिन्न-भिन्न देशोंमें पितृसत्ता

(१) भारतमें—दुनियाकी प्राचीन जातियोंके इतिहासका यही समय—पितृसत्ता सबसे पुराना काल है, जिसके बारेमें पहिले-पहल

हमें कुछ क्षीण-सा प्रकाश मिलता है। वैदिक आर्य यद्यपि पितृसत्तासे बहुत आगे बढ़ चुके थे, ख़ासकर उस वक्त जब कि गंगाकी उपत्यका-में १५०० ई० पू०के क़रीब वेद रचे जा रहे थे। तो भी पितृसत्ता-काल-की स्मृतियाँ अभी बनी हुई थीं, इसीलिये वेद-मंत्रोंमें पितरों—मृतों ही नहीं, जीवितों—की प्रशंसा, सत्कारकी बातें देखी जाती हैं। यह बिल्कुल संभव है कि अफ़ग़ानिस्तानमें रहते वक्त आर्योंका समाज पितृसत्ताक रहा हो, पंजाबमें पराजित आर्य-भिन्न जातियोंके संपर्कमें आकर वह दासता-कालमें प्रविष्ट हुए, किन्तु उनकी अपनी भीतरी व्यवस्था पितृसत्ताक ही रही—परिवारमें पितृसत्ताक, जनपदमें प्रजा-तांत्रिक। पंजाबमें वस्तुतः शुरूसे सिकन्दरके समय (३२२ ई० पू०) तक राजतंत्रका कोई महत्त्व नहीं देखा जाता। पितृसत्ता ही आगे राजतंत्र और गण (प्रजातंत्र) दो धाराओंमें बही। सप्तसिन्धु (पंजाब)—जहाँ आर्य सदा बहुसंख्यक रहे—गणतंत्रका हामी रहा। भारतीय आर्योंके सबसे पुराने ग्रंथ ऋग्वेदमें पंजाबकी नदियोंका जिक्र है, कुछ जातियोंका भी जिक्र है; किन्तु शुद्ध पंजाबी राजाका वहाँ कोई जिक्र नहीं है। हाँ गंगा-उपत्यकासे एकाध राजा ज़रूर वहाँ शरणार्थी-के तौरपर पहुँचे, और किसी समय उन्होंने उससे नाजायज फ़ायदा उठाया भी; किन्तु पाँचों दरियाओंकी भूमिको वह राजतंत्रवादी बनाने-में सफल नहीं हुए। सिकन्दरके हमलेके वक्त अम्भी, पुरु (पोरस) जैसे दो-एक राजाओंका जिक्र आता है, किन्तु उनके बारेमें पक्की तौरसे नहीं कहा जा सकता कि वह वास्तविक राजा थे, या गण-नायक। शाक्योंके गणनायक शुद्धोदनको भी 'राजा' कहा जाता था, भद्दिय, दंडपाणि जैसे कुछ और व्यक्तियोंको भी उसी समय शाक्योंका 'राजा' कहा गया है, यद्यपि इसमें सन्देहकी गुंजाइश नहीं है कि शाक्योंका गण(प्रजातंत्र) था (राजतंत्र नहीं)। वैशाली (वज्जी)का भी गण था, किन्तु वहाँ भी गणकी शासन-संस्थाके सदस्योंको राजा

कहा जाता था। जो भी हो, अम्भी और पुरुके वास्तविक राजा माननेपर भी अधिकांश पंजाबमें प्रजातंत्रका होना बतला रहा है कि वहाँ वही व्यवस्था अधिक मान्य थी।

गंगा-उपत्यकामें इतिहासके आरम्भसे ही हम कुरु, पांचाल, काशी, कोसलके राज्योंको स्थापित देखते हैं। वेद्के कवि या ऋषि विश्वामित्र, वशिष्ठ, भरद्वाज आदि इन्हीं राजाओंके कृपापात्र थे, और उन्होंने दान-स्तुतियों*में इनमेंसे कितनोंकी प्रशंसा की है। गंगा-उपत्यकामें जब आर्यजन गये, तो अपने साथ राजतंत्र लेकर गये इसका प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि आरम्भिक कालके बारेमें वेद चुप हैं। वह उस वक्त पर प्रकाश डालते हैं, जब कि कुरु और पांचालमें दो शक्तिशाली राजतंत्र कायम थे, और इन राजाओंके वशिष्ठ और विश्वामित्र जैसे जबर्दस्त ऋषि पोषक, पुरोहित और राजकवि थे। निश्चय ही यह इन जनपदोंपर आर्योंके आधिपत्यका आरम्भिक, अविकसित समय नहीं था। आरम्भिक समयका पता हमें सिर्फ़ इन जनपदोंके नामोंसे मिलता है, जो कि सदा वहाँ गये कबीले (जन)-के नाम और वह भी बहुवचनमें देखे जाते हैं—"पंचाल देशमें गये" के स्थान पर "पंचालोंमें गये" (पंचालेषु गताः) इससे पता यही लगता है कि वहाँ पहुँचते वक्त आर्योंमें व्यक्ति या राजाकी प्रधानता न थी, बल्कि जन या कबीला ही प्रधान था। मातृसत्ता और सांघिक संपत्तिका हमें वहाँ कोई पता नहीं मिलता, और मालूम होता है कि जैसे वैयक्तिक संपत्ति अनादि कालसे चली आई हो। इससे उनका समाज पितृसत्ताक ही सिद्ध होता है। इसी पितृसत्तासे कुरु-पंचालवालोंने एक तरफ़ आर्य-भिन्नोंसे लड़नेवाले अपने सेनानायकोंको राजा होने दिया और दूसरी ओर बढ़ती धार्मिक व्यवस्था और धार्मिक कृत्य-

*ऋग्वेदकी ख़ास-ख़ास ऋचाएँ, जिनमें दाता राजाकी स्तुति-(प्रशंसा) की गई है।

कलापोंका संचालन करनेके लिये एक अलग ब्राह्मण-वर्ग क़ायम किया। ऐतिहासिक काल (ऋग्वेदके आरम्भिक समय)में भी पंचालके राजा विश्वामित्र, और कुरुके राज्याधिकारी देवापिको क्षत्रियसे ब्राह्मण होते देखते हैं। पितृसत्ताके आरम्भिक समयमें धार्मिक और शासनकृत्य पितर ही करते थे, यह इब्रानी और दूसरी जातियोंके इतिहाससे सिद्ध है। गंगा-उपत्यकामें इन दो कृत्योंको दो भागमें बाँटकर राजा और पुरोहित (ब्राह्मण)के अलग वर्ग क़ायमकिये गये। आरम्भमें राजा और पुरोहित वरण किये (चुने)जाते थे, किन्तु अधिकारको वरणसे जन्मगत बना देनेके उदाहरण इतिहासमें भरे पड़े हैं।

सारा ब्राह्मण या वैदिक साहित्य राजतंत्रकी जितनी पुष्टि और गणतत्रकी उपेक्षा करता है, उससे मालूम पड़ता है कि पितृसत्ता जब गणतंत्र और राजतंत्र (ब्राह्मणतंत्र)में विकसित हो रही थी, उसी समय समझ लिया गया था कि ब्राह्मण-वर्गका मेल सिर्फ़ राजतंत्रसे ही हो सकता है। राजतंत्र सफल क्यों हुआ? इसका कारण जनपदकी जनताकी बनावट थी, जिनमें आर्योंके अतिरिक्त पराजित अनार्य भी क़ाफ़ी संख्यामें और पर्याप्त संस्कृत भी मौजूद थे। पितृसत्ताक तथा गणसत्ताक दोनों ही समाज पूर्वजोंके खूनका जबर्दस्त पक्षपाती था, गणोंमें जनसत्ता ज़रूर थी; किन्तु वह सिर्फ़ सफ़ेद आर्यों के लिये, उसके उसी जनके लिये जिसने उस जनपदको 'बसाया'। वहाँ आर्यजनोंका अनार्यजनोंसे द्वन्द्व था, और दोनोंको दबानेके लिये सिवाय शासक और शासित बननेके दूसरा रास्ता न था। इसके विरुद्ध राजतंत्र इस द्वन्द्वको "हटानेके लिये" दो प्रतिद्वन्द्वी वर्गोंके उपर अपनेको दोनोंको एक दृष्टिसे देखनेवाला—घोषित करता था। अनार्यजनोंको उतना अधिकार न मिला, किन्तु गणतंत्रकी अपेक्षा राजतंत्रसे वह इसलिये सन्तुष्ट थे, कि जनसत्ता चाहे उन्हें नहीं मिली किन्तु आर्यजन भी तो उससे वंचित किये गये।

२. फिलस्तीन (यहूदी)में—इब्रानी (यहूदी) जातियोंकी पितृसत्ता बाइबलके पढ़नेवाले अच्छी तरह जानते हैं। बल्कि, पितृसत्ता-को उनके ही मूसा, दाऊद, इब्राहीम आदि महान् पितरों*से लिया गया है। जब तक यहूदी कबीले बढ़कर दूसरे स्थानोंमें फैलने तथा भिन्न जातियों या कबीलोंमें मिश्रित होने नहीं लगे, तब तक उनका यह पितृसत्ताक समाज अक्षुण्ण रहा। बाइबलके यह महापितर शासक और पुरोहित दोनों थे, उनके यहाँ धर्म और शासनका बँटवारा नहीं हो पाया था। मिश्र, असुर, पारसी, यूनानी या रोमक राजशक्ति द्वारा पराजित होनेपर यहूदी महापितर सिर्फ़ प्रधान पुरोहित रह गये। यहूदियोंने पुरानी पितृसत्ताको जाग्रत करनेकी बहुत बार कोशिश की; किन्तु उन्हें कभी स्थायी सफलता नहीं मिली।—घड़ीकी सूइयोंकी गति पीछेकी ओर करना संभव नहीं है।

३. ईरानमें—ईरानियोंका प्रथम राजा देवक मद्र या मिडिया-के राजवंशका संस्थापक (मृत्यु ६५५ ई० पू०) था। इसके बारेमें कहा जाता है†—"न्यायके लिये उसकी कीर्ति अपने गाँवसे निकल-कर आसपासके गाँवों तक फैल गई और लोग अपने झगड़ेको निपटानेके लिये उसके पास पहुँचने लगे। उसमें उसका इतना समय चला जाता था कि उसने इस कामको छोड़ दिया। न्यायकी व्यवस्था न होनेसे गाँवोंमें अशान्ति फैल गई। इसपर लोगोंने सोचा, अगर इसी तरहसे अव्यवस्था रही तो देशमें हमारा रहना मुश्किल हो जायगा। आओ, हमलोग अपना एक राजा बनायें जो राज्यकी व्यवस्था देखेगा और हमलोग शान्तिपूर्वक अपने घर-बारका काम देखेंगे। उन्होंने दइउक्कू (देवक)को अपना राजा चुना और हग्म-तन (हमादान)को राजधानी बनाया।"

*Patriarch.

इससे यह तो साफ़ है कि मद्र जातिने देवकको राजा बना पितृसत्ताके स्थानपर राजसत्ता कायम की; किन्तु इस कथामें सैनिक पहलूको छोड़कर सिर्फ़ राजनीतिक या शासनके पहलूपर ही सारा जोर दिया गया है। इतिहास हमें बतलाता है कि मद्र-प्रदेश असुर साम्राज्यके प्रभावक्षेत्रमें था। स्वतंत्रता-प्रेमी मद्र परतंत्र नहीं बनना चाहते थे, इसीलिये उन्हें दबानेके लिये असुर राजाओंको कई बार वहाँ मुहिम भेजनी पड़ी थी। सबसे अन्तिम चढ़ाई असुर हद्दनने ६७४ ई०में की थी। बात असल यह मालूम होती है कि ईरानी अलग-अलग कबीलोंके महापितरोंके नेतृत्वमें असुर साम्राज्यसे संघर्ष करनेमें असफल हुए थे। सारे कबीलोंको संगठितकर असुर-सेवाका मुकाबिला करने हीपर वह सफल हो सकते थे इस तरहके संयुक्त मुकाबिले-के लिये एक सेना-संचालनकी ज़रूरत थी। देवकमें नेतृत्वके स्वाभाविक गुण थे। वही सेनानायक बना और पीछे उसी पदको स्थाई करके वह राजा बना दिया गया। यह निश्चित ही है कि बिना इस तरह-के राजतंत्रके मद्र लोग सफल नहीं हो सकते थे। पितृसत्ताकी बिखरी शक्तिको राजसत्ताकी संगठित शक्ति दबानेमें हमेशा सफल होती रही है; इसीलिये हम पितृसत्ताके बाद राजसत्ताको आते देखते हैं; बल्कि कहना चाहिये, पितृसत्ताने सामान्तसत्ताका रूप लिया, सामन्त सत्ताकी ही अधिक विकसित और शक्तिशाली रूप राजसत्ता है।

श्रमके उत्पादनकी उन्नति, आर्थिक शक्तियोंका विकास और केन्द्रीकरण तो मूल भित्ति हैं ही, साथ ही प्रबल शत्रुओंके मुकाबिले-में उसी भित्तिके आधारपर राजनीतिक और सामरिक शक्तियोंका केन्द्रीकरण उसके बाद सबसे आवश्यक चीज़ है, यह बात मनुष्यको साम्राज्यवाद और फासिज्मसे बहुत पहिले मालूम हो गई थी। आदिम साम्यवादी समाज (कम्यून)से जन-समाज इस विषयमें बढ़ा था;

*'ईरान' पृष्ठ ५

इसीलिये वह उसका स्थान ले सका। पितृसत्ताने, चाहे विस्तारमें न सही, किन्तु गम्भीरतामें, इस संगठनको और मजबूत किया। जनतंत्रकी स्वतंत्रता-प्रियताको कम करनेके साथ उसने स्वेच्छाचारिताको हटाया और एक प्रकारका सामरिक अनुशासन लाकर जनकी संस्थाको तो नहीं, किन्तु जनकी शक्तिको मजबूत किया। इसलिये पितृसत्ता आर्थिक शोषणपर अवलंबित अपनी ऊँच-नीच श्रेणी, वैयक्तिक स्वार्थ आदि दोषोंके रहते भी कामयाब हुई। सामंतसत्ता पितृसत्तासे भी अधिक विस्तृत शक्तिको केन्द्रितकर सबल बनानेमें सफल हुई। केन्द्रीकरणसे उत्पन्न इस प्रबल राज्य (दबाव)-शक्तिके महत्त्व हीको देखकर पुराने भारतीय समाजमें चक्रवर्तीकी कल्पना चली। सामन्त राजा ही नहीं, चक्रवर्ती (सारी पृथिवी या उसके एक महाद्वीपका राजा) बनना चाहते थे, स्वयं लोगोंमें भी इसके लिये प्रशंसाके शब्द सुने जाते थे। केन्द्रीकरणसे क्या फ़ायदा था, यह तो हमने बतलाया; किन्तु उससे इस प्रश्नका उत्तर नहीं मिलता कि क्यों उसमें सफलता हुई। इसके बारेमें हम आगे कहेंगे। यहाँ इतना ही स्मरण रखना चाहिये कि सबकी जड़में उत्पादनकी प्रक्रियाका विकास काम कर रहा था। पशुपालन द्वारा उत्पादनशक्ति बढ़ाई, इससे पुरुषको स्त्रीसे आगे बढ़कर समाजका नेतृत्व छीन लेनेमें सफलता हुई। आगे कृषि, शिल्प, ताँबे, पीतल, लोहेके हथियार—उत्पादन और लड़ाई दोनोंमें काम करनेवाले—आविष्कृत हुए, जिससे वैयक्तिक सम्पत्ति द्वारा व्यक्तिका प्रभाव अधिक बढ़ा और उसने समाजको अपने गिर्द जमाकर उसकी शक्तियोंका केन्द्रीकरण किया।

(४) *मिश्रमें*—मानव-समाजके विकासमें मिश्रका जबर्दस्त हाथ है। जहाँ तक ऐतिहासिक खोजोंसे मालूम हुआ है, मिश्र ही वह देश है, जहाँ मानव-संस्कृतिका सबसे पहिले विकास हुआ। मेसोपोतामिया (बाबुल और असुर) की संस्कृति मिश्री संस्कृतिकी ऋणी

है, सिन्धु-उपत्यका (मोहन-जो-डरो, हडप्पा)की संस्कृति मेसोपोतामीय संस्कृतिकी समकालीन तथा परस्पर प्रभावित सभ्यता थी। सिन्धु-संस्कृतिकी जो सामग्री अभी तक हाथ आई है, उसमें रहस्य खोलनेकी कुन्जी हमें नहीं मिल सकी है, तो भी ऐसा माननेके लिये कोई कारण नहीं है कि वह मिश्री संस्कृतिसे पुरानी है—संभावना तो यही है कि अपनी भगिनी मेसोपोतामीय संस्कृतिकी भाँति यह भी नील-उपत्यकाकी ऋणी है। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि सारी मानव प्रगतियोंका एक मात्र उद्गम स्थान मिश्र ही है।

मानव संस्कृतिके मिश्रमें विकसित होनेमें कितनी ही सुविधाएँ थीं। दक्खिनसे उत्तरकी ओर बहनेवाली नील नदी जिस भूमिको सिंचित करती है, वह खानाबदोशोंके बस जानेके लिये बहुत अनुकूल थी। अन्तिम हिमयुगके समाप्त होते समय सहराकी मरुभूमि घासका मैदान था, वहाँ ऋतुकी कठोरता कम तथा फल-फूलकी इफरात थी। मालूम होता है, मनुष्य फल-मूल-संचय और शिकारकी अवस्था यहाँ बिताकर नील-उपत्यकामें सबसे पहिले आबाद हो गया। उस वक्त सहरासे नील-उपत्यकामें आना आजकी भाँति कठिन न था; क्योंकि निर्जल रेतका अभी वहाँ प्राबल्य न था। इन खानाबदोशोंको पशु-पालन आरम्भ करनेके लिये जहाँ चरागाहका सुभीता था, वहाँ कृषिके लिये पहिले-पहल जिस जौकी ओर उनका ध्यान गया, वह यहाँ जङ्गली जौके रूपमें मौजूद था। यही जौ पशुके चारेके बाद मनुष्यके भोजनमें परिणत हो गया। पशु-पालन-अवस्थामें—खासकर जब चारेको वह रोपने लगा—मनुष्यका घुमन्तूपन कम हुआ, खेतोंके बाद तो वह स्थायी घर बनाकर बसने लगा। हाँ, तो नील-उपत्यकाकी विशेषता, जिसके बारेमें मैं कह रहा था, यह थी कि नीलका जल भूमध्य-रेखाके पासवाले पहाड़ों और झीलोंसे आता था। भूमध्य-रेखापर जिस तरह रात-दिन समान होते

हैं, उसी तरह ऋतु भी एकरस, तथा वर्षा भी एक-सी होती है। नीलकी बाढ़ उस युगमें भी वहाँके कृषकोंकी जान थी। मनुष्यको ऋतु तथा बाढ़के इस नियमित आगमनसे पूरे विश्वासके साथ कृषि-संबंधी नये प्रयोगके करनेका मौका मिला। जौके खेतोंके बढ़ानेके साथ उसने पानीकी छोटी-छोटी नहरें निकालकर सिंचाई शुरू की। नीलवासी इस प्रकार कृषिके ही नहीं सिंचाईके भी आदिम आविष्कारक हुए। मालूम होता है, नीलवासी ही सबसे पहिले घुमन्तूपनको छोड़ स्थायी वासवाले मनुष्य हुए। बस जानेपर अब एक जगहसे देखे जानेवाले प्राकृतिक परिवर्त्तनोंको समझनेका उन्हें अच्छा मौका मिला। उन्होंने देखा कि नीलकी बाढ़ एक निश्चित समयके बाद लगातार आती रहती है, उन्होंने यह भी देखा कि बाढ़ हमेशा उस समय आती है जबकि लुब्धक (लोधवा) तारा कितने ही मासों तक अस्त रहनेके बाद फिर उगना शुरू होता है। उसने लुब्धकके अस्त होने और उगे रहनेके दिनको गिनकर और वर्षका परिमाण जान लिया। अब बाढ़के आनेके पहिलेसे भविष्यद्वाणी की जा सकती थी। जिस मनुष्यने पहिले पहिल इस सच्चाईको खोज निकाला, उसका सन्मान बढ़ना जरूरी थी। वह महापितर, सामन्त और राजा बन सकता था, लोग उसे 'सर्वज्ञ' और सर्वशक्तिमान्' समझनेकी भूल आसानीसे कर सकते थे। मिश्रके आदिम फरऊन इसी तरहके 'सर्वज्ञ' 'सर्व शक्तिमान्' रहे होंगे, जो पीछे मनुष्यके अधिक समझदार होनेपर भी उसी तरह कहे जाते रहे, जैसे कि आजके भी समझदार भारतीय शिक्षित झूम-झूमकर "राम राम" "कृष्ण कृष्ण" कह नाचते देखे जाते हैं।

मानवतत्त्वज्ञोंका कहना है कि कृषि, सिंचाई, वर्ष-गणना तथा कितनी ही और विद्याओंका आविष्कार पहिलेपहल नील-तटपर हुआ। पीछे वह दजला-फुरातकी उपत्यका (मेसोपोतामिया में ही नहीं, सिन्धु-उपत्यका, चीन, प्रशान्त-सागरके द्वीपों, अमेरिका और यूरोप तकमें फैल गई।

पितृसत्ता-कालमें वैयक्तिक सम्पत्तिकी पूरी स्थापना हो गई थी। पशुपालन और कृषिके आविष्कार इसके बड़े सहायक थे। कितने ही पंडितोंका कहना है कि वैयक्तिक सम्पत्तिसे पहिले मानव जातिके आपसमें झगड़नेके उतने कारण न थे, वह साथ रहकर फल-मूल जमाकर शिकार खेल अर्जित वस्तुको बाँटकर गुजारा कर सकती थी, या भोजनके अभावमें साथ ही भूखी रह सकती थी। वैयक्तिक सम्पत्तिने मनुष्यमें लोभ—स्वार्थपरताकी वृद्धि की, और तबसे समाजमें भारी कलहका सूत्रपात हुआ।

२. परिवार और विवाह

जन-समाजमें एक ढीला-सा मिथुन-ब्याह शुरू हो गया था। उसमें पति-पत्नीका भाव होनेपर भी पत्नीके लिये कठोर नियम नहीं था कि वह दूसरे पुरुषके पास न जाये, खासकर जब कि स्त्रीकी ही प्रधानता—मातृसत्ता—का युग था। किन्तु समाजमें जब पुरुष प्रधान हो गया, सम्पत्तिका उत्पादन और स्वामित्व उसके हाथमें चला गया, तो स्त्रीकी वह स्वच्छन्दता उसे कहाँ पसन्द हो सकती थी? फलतः स्त्रीको पुरुषकी वशवर्त्तिता स्वीकार करनी पड़ी और एक-विवाहकी प्रथा जारी हुई—एक स्त्रीका एक ही पति और वह भी नियत होगा। पतिके मरनेपर दूसरे ब्याहकी कोई रुकावट न थी। एक-विवाह स्त्रीके लिए तो बिल्कुल कड़ाईके साथ मान लिया गया; किन्तु पुरुषपर वह नियम उतना लागू नहीं था। एशियामें तो खुल्लमखुल्ला एक पुरुष कई स्त्रियोंसे शादी कर सकता था, और भारत तथा कितने ही और देशोंमें अब भी शर्मकी बात नहीं समझी जाती। यूरोपमें ब्याहमें एक-पत्नीत्व बहुत बर्ता जाता था। और ऐतिहासिक समयमें यूनान, रोम और यूरोपके आजकलके देशोंमें भी एकसे अधिक स्त्रीके साथ ब्याह करनेको समाज क्षम्य नहीं समझता रहा, जिससे कमसे

कम इस बातमें तो यूरोपीय समाज एशियासे (और हमारे देशसे भी) ज़रूर आगे बढ़ा हुआ था। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि यौन-सम्बन्धमें यूरोपने स्त्रीको पुरुष-जैसी समानता दी थी। ब्याह एक स्त्रीसे ही जायज होनेपर भी रखेलियों और वेश्यागमनके लिए पुरुषको एक तरहसे खुला अधिकार था। उसके लिये उसके साथ वह कड़ाई नहीं बर्ती जाती थी, जो कि स्त्रीके वैसा करनेपर। स्त्रीके ऐसी स्वेच्छाचारिता करनेपर तो समाज उसके जीवनको दूभर कर देता था। यहाँ भी पुरुषका पलड़ा इसीलिये भारी समझा गया कि वह अपनी उत्पादित सम्पत्तिके कारण समाजका चौधरी बन गया है। स्त्री-पुरुषके सम्बन्धके ही बारेमें नहीं और भी कितने ही सामाजिक सम्बन्धोंमें यह पितृसत्ताका युग बिल्कुल नया परिवर्त्तन उपस्थित करता है। उनके समाजमें आदिम साम्यवाद कुछ निर्बल ज़रूर पड़ा था, किन्तु वह बिल्कुल नष्ट नहीं हो गया था; लेकिन, पितृसत्ताके स्थापित होनेके साथ वह समाप्त होता है, और हम वर्गभेदवाले समाज-में प्रवेश करते हैं।

३. हथियार और औज़ार

पितृसत्ताके स्थापित होनेके साथ हम बर्बर-संस्कृतिके उच्चतम शिखरपर पहुँचते हैं। पत्थर, हड्डी, सींग, लकड़ीके हथियारोंको आदमी बहुत दिनोंसे इस्तेमाल कर रहा था, अब उसने ताँबा खोज निकाला, जिससे मानवकी शक्तिमें क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुआ। अब वह उस ताँबेके कुल्हाड़े, तलवार, भाले और तीरके फल इस्तेमाल कर सकता था। जिस जातिने पहिलेपहल इस अज्ञात धातुको ढूँढ़ निकाला होगा, उसने पाषाण-अस्त्र-धारियोंको वैसे ही दबाया होगा, जिस तरह अस्त्रोंमें अधिक शक्तिशाली यूरोपीय जातियोंने एशिया, अफ्रिका-की पिछड़ी हुई जातियोंको आक्रान्त किया। इसके कहनेकी

आवश्यकता नहीं, कि प्रथम धातु बर्तनेवाली जाति मिश्री थे। मिश्रका
सबसे पुराना पिरामिड चियोफ ईसासे चार हज़ार वर्ष पूर्व बनाया गया।
उसमें चिने विशाल पाषाणखंड ताँबेकी छिन्नियोंके सहारे ही फाड़े गये
थे। इसके बारेमें हम अन्यत्र कह आये हैं, कि उन्होंने छिन्नीसे सिर्फ़
लकड़ीके पच्चर डालने भरके लिये अवकाश बनाया था, बाकी
पत्थर फाड़नेका काम लकड़ीके भीगने-फूलनेसे उत्पन्न अणु-गुच्छोंकी
शक्तिका था।

सम्भव है, इसी कालमें मनुष्यने जस्ता-ताँबेसे मिश्रित धातु
पीतलका भी पता लगाया हो।

ताँबेके मिलनेसे जहाँ मनुष्य अपने मानव और पशु शत्रुओंके
मुकाबिलेमें अधिक मजबूत हो गया था, वहाँ अब उसे शिल्प-सम्बन्धी
हथियारों, हलके फालों तथा दूसरे सामानको अधिक मज़बूत बना
सकता था। मिट्टीके बर्तनोंको आरम्भकर अब वह उन्हें ताँबेका
बनाने लगा था। इससे अब वह भुने ही नहीं, पके मांस और अनाज-
को खा सकता था।

अपने तेज हथियारोंसे जंगलको साफ़कर अब मानव खेतीको
ज्यादा बढ़ा सकता था।

४. सम्पत्ति

पशुपालनने पितृसत्ताको स्थापित किया और पुरुषकी प्रधानता-
के साथ वैयक्तिक सम्पत्तिका रास्ता खोल दिया। कृषिने आदमीको
घुमन्तूसे स्थिर बनाया, यद्यपि भूमिको अब भी वैयक्तिक नहीं सांघिक
सम्पत्ति माना जाता था, किन्तु उपयोग और उपज वैयक्तिक बन गये
थे—भूमिका सांघिक होना तो पिछली शताब्दी तक भारत और रूसमें
रहा है। अम्दो (कन्सू, चीन)के कितने ही तिब्बतीय कबीलोंमें अब

*देखिये "विश्वकी रूपरेखा"

भी भूमिपर परिवारका नहीं सारे गाँवका अधिकार होता है। तीसरे साल खेतको परती छोड़ दिया जाता है, उसके बाद उसे जोतनेके लिये हर परिवारमें बाँटा जाता है। दो सालकी जुताईके बाद फिर एक सालके लिये खेतको परती छोड़ दिया जाता है। सिक्खोंके शासनकाल तक (उन्नीसवीं सदीके पूर्वार्द्धमें) पंजाबके बहुतसे भागोंकी जमीनपर सारे गाँवका स्वामित्व माना जाता था। परिवारको जोतनेके लिये ज़मीन मिलती थी, किन्तु वह उसे रेहन या बै नही कर सकता था। जारशाहीके अन्तिम दिनों (१६१७ ई०) तक रूसमें बहुत-सी जगहोंमें यही प्रथा जारी थी, जिसे अक्तूबर-क्रान्तिने साम्यवादी सम्पत्तिको और व्यापक बनाकर हटाया।

लेकिन उस युगमें जब एक बार वैयक्तिक सम्पत्तिका दौर शुरू हो गया, और लोगोंमें उसका लालच फैल गया; तो कितनी ही जातियोंमें भूमिका वैयक्तिक होना ज़रूरी हो गया। भूमिपर वैयक्तिक स्वत्व स्थापित होनेपर उसका विनिमय—रेहन या बेंचीके रूपमें—भी होने लगा। इस प्रकार वैयक्तिक सम्पत्तिने, किसी परिवारको अधिक पशु-खेतवाला, किसीको कम या पशु-खेतसे वंचित बना समाजमें विषमता स्थापित की। नई व्यवस्था, इसमें शक नहीं, किसी उच्च भावना या आदर्शसे प्रेरित होकर नहीं अस्तित्वमें आई। इसकी जड़में जुगुप्सित लोभ, निर्दय मनस्विता, नीच प्रतियोगिता और सार्वजनिक सम्पत्तिकी स्वार्थपूर्ण लूट काम कर रही थी।

बुद्ध और वैयक्तिक सम्पत्ति—सांघिक सम्पत्तिको उठे हुए पीढ़ियाँ गुजर गईं, तो भी उसके प्रशंसक तथा वैयक्तिक संपत्तिके निन्दक होते रहे। नवीं शताब्दीके तिब्बतीय सम्राट् मुने-चेन्पो (८४६-४७ ई०)-ने तो इस विषमतासे उत्पन्न बहुसंख्यक जनताके असन्तोष और असह्य दरिद्र्यको दूर करनेके लिये सम्पत्तिको सांघिक नहीं, बल्कि उसका समान वितरण किया। मुने-चेन्पोके इस अनोखे साम्यवादमें बुद्धके

उपदेशोंसे प्रोत्साहन मिला था, यद्यपि बुद्ध सम्पत्तिके व्यक्तिमें वितरण करनेके नहीं, संघीकरणके पक्षपाती थे। इस विषयमें उनके विचार अग्गञ्ञसुत्त (दीघनिकाय* २७)के उपदेशमें आये हैं। लोक और मानव-समाजके प्रारम्भकी बात कहते हुए बुद्धने कहा—

"...(लोक)के विवर्त्त (प्रकट) होनेपर...सभी जगह पानी ही पानी होता है। बहुत अन्धकार फैला रहता है। न चाँद और न सूर्य दिखाई देते हैं। न नक्षत्र और न तारे दिखाई देते हैं। न रात और दिन मालूम पड़ते हैं। न मास और न पक्ष मालूम पड़ते हैं। न ऋतु और न वर्ष। न स्त्री और न पुरुष...।

"...तब गरम दूधके ठंढा होनेपर ऊपर मलाईके जमनेकी भाँति *रसा* पृथिवी फैली। ....चाँद और सूरज प्रकट हुए...मास और पक्ष....ऋतु और वर्ष मालूम पड़ने लगे। (फिर) नागफनी-सी भूमिकी पपड़ी प्रकट हुई।...(फिर) भद्रलता (एक स्वादिष्ट लता) प्रकट हुई।...सत्त्व (प्राणी) भद्र-लताको खाने लगे।...(फिर) बिना-बोया जोता (खुदरू) चावल प्रादुर्भूत हुआ।...उस बिना बोये जोते चावलको वह बहुत दिनों तक खाते रहे।...परस्पर आँख लगाकर देखनेसे (स्त्री-पुरुषमें) राग उत्पन्न हो गया...। उन्होंने मैथुन कर्म किया। ....उस समय लोग जिन्हें मैथुन करते देखते उनपर कोई धूली फेंकता, कोई कीचड़ फेंकता और कोई गोबर फेंकता था—'हट जा वृषली (शूद्री)! हट जा वृषली! कैसे एक सत्त्व दूसरे सत्त्वको ऐसा करेगा!!' सो आज भी लोग किन्हीं-किन्हीं देशोंमें (नवोढ़ा) वधूको ले जाते समय धूली फेंकते हैं...., यह उसी पुरानी बातका स्मरणकर; किन्तु उसका अर्थ नहीं जानते।...उस समय जो अधर्म समझा जाता था, वही अब धर्म समझा जाता है।...(फिर) घर बनाना आरम्भ किया।

---

*देखो "दीघनिकाय" (मेरा अनुवाद) पृष्ठ २४२–४४

"तब किसी आलसीके मनमें यह आया—'शाम-सुबह, दोनों समय चावल लानेके लिये जानेका कष्ट क्यों उठावें ! क्यों न एक ही बार शाम-सुबह दोनोंके खानेके लिये शाली (चावल) ले आयें। तब वह प्राणी एक ही बार....ले आया।' तब कोई दूसरा प्राणी उस प्राणी-के पास गया, जाकर बोला—'आओ, हम लोग शालि लानेके लिये चलें।' 'हे सत्त्व! हम ले आये हैं।'

"तब वह सत्त्व भी उस सत्त्वकी देखादेखी एक ही वार शाली ले आया।...(तीसरा) सत्त्व भी उसकी देखादेखी एक ही बार चार दिनोंके लिये शाली ले आया...।"

"तबसे प्राणी (अपने अपने लिये) शालीको एक जगह जमा करके खाने लगे। (उनके इस पापसे) चावलके ऊपर भूसी भी होने लगी। एक बार उखाड़ लेनेपर फिर नहीं जमनेके कारण वह स्थान खाली मालूम होने लगा, और शाली(का खेत) खंड-खंड दिखलाई देने लगा।

"तब वे सब इकट्ठे होकर चिल्लाने लगे—'हम प्राणियोंमें पाप प्रकट हो रहे हैं।' उन्होंने शाली(का खेत) बाँट लिया और (खेतों-में) मेंड़ बाँध दी।

"तब कोई लालची सत्त्व अपने भागकी रक्षा करता दूसरेके भाग-को चुराकर खा गया। उसे लोगोंने पकड़कर कहा—'हे सत्त्व! तुम यह पाप कर्म कर रहे हो।....मत फिर ऐसा करना।' ...दूसरी बार भी, तीसरी बार भी लोगोंने...पकड़कर कहा—'हे सत्त्व! तुम यह पाप कर्म कर रहे हो।' फिर (कोई उसे) हाथसे मारने लगा, कोई ढलेसे, कोई लाठीसे। उसीके बादसे चोरी, निन्दा, मिथ्या-भाषण और दंड-कर्म होने लगे।

"तब वे प्राणी इकट्ठे हो कहने लगे—'प्राणियोंमें पाप प्रकट हुए हैं।....अतः (आओ) हम लोग एक ऐसे प्राणीको निर्वाचित करें, जो

हम लोगोंके निन्दनीय कर्मोंकी निन्दा करे, उचित कर्मोंको बतलावे, निकालने योग्यको निकाल दे। और हम लोग उसे अपनी शालि (धन)मेंसे भाग दें।'

"तब वे अपनेमें (सबसे अधिक) वर्णवान् (सु-रंग), दर्शनीय और महाशक्तिशालीके पास जाकर बोले—'हे सत्त्व! (तुम) उचित-अनुचितको ठीकसे अनुशासन करो। निन्दनीय कर्मोंकी निन्दा करो, उचित कर्मोंको बतलाओ, निकालने योग्यको निकाल दो; हम लोग तुम्हें शालिका भाग देंगे।' उसने 'बहुत अच्छा' कहकर स्वीकार कर लिया। महान् जन (महाजन) द्वारा (यह निर्वाचित) सम्मत होनेसे 'महासम्मत' (यही) उसका पहिला नाम पड़ा। क्षेत्रों (खेतों)का अधिपति होनेसे 'क्षत्रिय' दूसरा नाम पड़ा। धर्मसे सबका रंजन करता था, अतः 'राजा' तीसरा नाम पड़ा।"....

बुद्धके इस भाषणसे साफ़ मालूम होता है कि उनके मतमें सांघिक सम्पत्तिको वैयक्तिक बनाना और भूमिका बाँटना पाप और अधोगति थी। समयके फेरसे अयुक्त बात युक्त मानी जाने लगती है। वैयक्तिक सम्पत्तिने उन्हें अपने ऊपर राजा ला रखनेके लिये मजबूर किया।

बुद्ध संघको व्यक्तिसे ऊपर मानते थे, संघका स्वार्थ—कम-से कम भोग-सामग्रीके बारेमें—उनकी दृष्टिमें व्यक्तिके स्वार्थसे बढ़कर है। एक बार बुद्धकी सौतेली माँ प्रजापती गौतमीने एक धुस्सा-जोड़ा देते हुए कहा*—"अपना ही काता, अपना ही बुना मेरा यह नया धुस्सा-जोड़ा है—इसे स्वीकार करें।" बुद्धने जवाबमें कहा—'गौतमी, इसे संघको दे दे। संघको देनेसे मैं भी सन्मानित हूँगा, और संघ भी।' और आग्रह करनेपर बुद्धने कहा—'किसी

---

*दक्खिना-विभंग सुत्त (मज्झिम निकाय १४२, मेरा अनुवाद पृष्ठ ५७६)

तरह भी मैं वैयक्तिक दानको संघ-विषयक दानसे अधिक नहीं मानता।"* बुद्धने यहाँ अपनेको एक व्यक्ति मानते हुए व्यक्तिसे ऊपर संघको कह वह कपड़ा दिलवाया।

संघका महत्त्व उनकी दृष्टिमें कितना था इसे भिक्षुओंके लिये बनाये नियम (विनय) भी बतलाते हैं। उनके कुछ उदाहरण लीजिये—

"जो कोई भिक्षु संघके मंच, पीढ़ा, बिस्तरा और गद्दे को खुली जगह बिछा या बिछवाकर वहाँसे जाते वक्त न उठाता है न उठवाता है, या बिना पूछे ही चला जाता है; उसे प्रायश्चित्त लगेगा।"*

"जो कोई भिक्षु जानते हुए संघके लाभको (एक) व्यक्तिके लाभके रूपमें परिणत कराये, उसे प्रायश्चित्त लगेगा।"†

बुद्धने जिस आर्थिक साम्यवादको स्वीकार किया था, उसे सारी जनतामें फैलानेकी कोशिश नहीं की, उसे उन्होंने केवल अपने भिक्षुओंके संघके लिये अनिवार्य कर दिया था। भिक्षु सिर्फ़ आठ चीजें वैयक्तिक सम्पत्तिके तौरपर रख सकते थे, वह थीं—

भिक्षापात्र (मिट्टीका)	१
पहिननेके वस्त्र (चीवर)	३
सुई	१
अस्तुरा	१
कमरबंद	१
जलछक्का	१

---

*दक्खिना विभंग सुत्त (मज्झिम निकाय १४२, मेरा अनुवाद पृष्ठ ५७६)।

†भिक्षु-प्रातिमोक्ष ५।१४ (विनयपिटक पृष्ठ २४) ‡वही ५।८२ (पृष्ठ ३०)

इन आठ चीजोंके अतिरिक्त सारी चीजें संघकी होती थीं, व्यक्ति उन्हें सुरक्षित रखते हुये इस्तेमाल कर सकता था। कीटागिरि (काशी)-में संघका एक आवास (विहार) था, वहाँके भिक्षुओंने विहार और उसकी चीजोंको आपसमें बाँट लिया। बुद्धने सुननेपर उन्हें फटकारा—*"कैसे वह नालायक सांघिक शयन-आसनको बाँट डालेंगे।" फिर घोषित किया—"यह पाँच अविभाज्य है, विभाजित नहीं करने योग्य हैं। विभक्त कर डालनेपर भी यह बिना विभक्त किये जैसे होते हैं—(१) आराम (बाग) और आरामके मकान ; (२) विहार और विहारका मकान ; (३) चारपाई-चौकी, गद्दा, तकिया…; (४) लोहे (ताँबे)का घड़ा, लोहेका भाँडा, लोहेका वारक, लोहेकी कढ़ाई, बसूला, फरसा, कुदाल, खनती ; (५) बल्ली, बांस, मूँज, भाभड, तृण, मिट्टी, लकड़ीका बर्त्तन, मिट्टीका बर्त्तन।"

भिक्षुके मरनेपर उसकी जो आठ वैयक्तिक चीज़ें हैं, उनपर उसके शिष्यका नहीं संघका अधिकार माना जाता था। हाँ, यदि रोगी-अवस्थामें किसीने अच्छी तरह सेवा की हो तो उसके बारेमें नियम था—†

"मरे भिक्षुके पात्र-चीवरका स्वामी संघ है ; यदि रोगि-परिचारकने बहुत काम किया हो तो…संघ तीन चीवर और पात्र रोगि-परिचारकको दे दे।"

देनेकी कार्रवाईके बारेमें कहा—"…वह रोगि-परिचारक-भिक्षु-संघके पास जाकर ऐसा कहे—'भन्ते ! (माननीय !) अमुक नामवाला भिक्षु मर गया है। यह उसका त्रिचीवर और पात्र है।' फिर (कोई) चतुर समर्थ भिक्षु संघको सूचित करे—'पूज्य संघ मेरी सुने। अमुक नामका भिक्षु मर गया। यह उसका त्रिचीवर और पात्र है।

*विनयपिटक पृष्ठ २६२ (महावग्ग ८।७।६)

†वहीं पृष्ठ ४७१ (चुल्लवग्ग ५।३)

यदि सघ उचित समझे तो त्रिचीवर और पात्रको इस रोगि-परिचारक-को दे दे। यह सूचना (ज्ञप्ति) है।'

इसके बाद मूल प्रस्तावको रखा जाता था, जिसको अनुश्रावण कहते थे—

"भन्ते संघ! मेरी सुने—अमुक नामवाला भिक्षु मर गया है। यह उसका त्रिचीवर और पात्र है, संघ इस त्रिचीवर और पात्रको इस रोगि-परिचारकको देता है। जिस आयुष्मान्‌को ...(यह) स्वीकार हो, वह चुप रहे, जिसको स्वीकार न हो, वह बोले।"

संघके सामने इन्हीं शब्दोंमें तीन-बार प्रस्ताव दुहराया जाता था। तीसरी बार तक यदि किसीको एतराज हुआ तो वह बोल सकता था। मतभेद होनेपर 'हाँ' 'नहीं'की परिचायक लकड़ीकी दो भिन्न-भिन्न रंगवाली शलाकाओंसे वोट (छन्द) लिया जाता था। यदि तीसरी बार तक भी सारा संघ चुप रहता था, तो *वक्ता धारणा*—प्रस्तावके स्वीकृत हो जानेकी—सूचना निम्न शब्दोंमें घोषित करता—"संघको (यह प्रस्ताव) स्वीकार है, इसीलिये चुप है—ऐसा मैं समझता हूँ।"

रोगि-परिचारक इन तीनों चीवरों और पात्रको ले अपनी वैयक्तिक संपत्तिको बढ़ाता नहीं था; क्योंकि आठ चीजोंकी गिनतीको वह बढ़ा नहीं सकता था। नई चीजोंको स्वीकार करनेपर उसे पहिलेकी चीज़ें संघके भंडारमें जमा कर देनी पड़ती थीं।

बुद्धने इस प्रकारका साम्यवाद एक परिमित क्षेत्र—भिक्षु संघ—में चलाना चाहा, किन्तु वह चल नहीं सका। शताब्दी भी नहीं बीतने पाई कि वैयक्तिक सम्पत्ति भिक्षुओंमें बढ़ने लगी, और आज तो वहाँ सांघिक सम्पत्तिका नाम भर है। इस साम्यवादके असफल होनेके कारण थे—एक तो आर्थिक परिस्थितियाँ उस समयके दासतायुक्त सामन्तवादी समाजको जिस ओर विकसित कर रही थीं, बुद्धका

साम्यवाद—जो उत्पादनका नहीं सिर्फ़ वितरणका साम्यवाद था—उसके अनुकूल न था। बाकी सारे समाजके व्यक्तिवादी होनेपर उसके एक छोटेसे भागमें संघवादका चलना सम्भव न था।

५. शिल्प और व्यवसाय

इस युगमें गृह-शिल्प, पशुपालन, विनिमय और कृषिके अतिरिक्त धातु-शिल्प भी आरम्भ होकर बढ़ने लगा था। शिकार और फल-संचयन अब पिछड़ी जातियोंकी जीविका रह गये थे, और ऐसी जातियाँ आज भी मिलती हैं जो जंगली-अवस्थासे आगे नहीं बढ़ पाईं।

(१) *पशुपालन*—भेड़, बकरी, गाय, भैंसे, घोड़े, गदहे सभी देशानुसार पशुपालनमें शामिल थे। यदि जन-युगमें मनुष्यने मांस-चमड़ेके अतिरिक्त दूध, घी या सवारीका उपयोग नहीं जान पाया था, तो इस युगमें उन्हें सीखा। इन जानवरोंमें घोड़ा छोड़ बाकी सभी अफ्रीकामें पाये जाते हैं, इसलिये कोई आश्चर्य नहीं यदि इनके पालतू बनानेका काम मिश्रियोंने शुरू किया हो।

(२) *कृषि*—जंगली जौसे मिश्रियोंने कैसे जौकी खेती शुरू की इसका जिक्र कर आये हैं। आर्य तो भारतमें बहुत पीछे—२००० ई० पू०के करीब—पहुँचे, किन्तु उससे पहिले (३००० ई० पू०में) दासता—सामन्तशाही सभ्यता—सिन्धु-उपत्यकामें विद्यमान थी और लोग चावल-की खेती करते थे। बागवानी यद्यपि भारतीय आर्योंको १५०० ई० पू० तक अज्ञात-सी थी, किन्तु दूसरी जातियोंमें इसका प्रचार था और एन्गेल्सके कथनानुसार अनाजसे पहिले मनुष्यने फलदार वृक्षोंको लगाना शुरू किया।

(३) *विनिमय*—जन-युगमें अतिरिक्त तथा उपयोगी वस्तुओंका विनिमय होने लगा था, किन्तु अब तो सांघिक स्वार्थकी जगह वैयक्तिक स्वार्थ स्थापित हो गया था, इसलिये हर एककी इच्छा होती थी, कि

जल्द नष्ट होनेवाली चीज़ोंको देकर चिरस्थायी चीज़ें तथा थोड़े दामसे तैयार हुई चीज़ोंको देकर ज्यादा अच्छी चीज़ें ख़रीदी जायें, ऐसी चीज़ें ली जावें, जो देर तक सुरक्षित रखी जा सकें तथा आवश्यकता पड़नेपर जिन्हें भोग-सामग्रीसे बदला जा सके। पहिले पशु—आर्यों-में गौ—ने मुख्य स्थान ग्रहण किया था, अब ताँबा भी मालूम हो गया था, इसलिये भिन्न-भिन्न वजनके डलोंको आजकी मुद्राकी भाँति व्यवहार किया जाने लगा। विनिमयका काफी प्रचार हो जानेपर भी एक उत्पादक अपनी चीज़को सीधे दूसरे उत्पादकसे बदलता था—अभी बीचके बनियावर्गकी सृष्टि नहीं हुई थी।

(४) *धातु-शिल्प*—कड़े पत्थरोंकी तलाश करते मनुष्यको ताँबे-के प्रायः शुद्ध टुकड़े मिले। पत्थरसे बढ़ चढ़कर इसकी तेज और मज़बूत धारकी उपयोगिताको समझनेमें उसे देर न लगी। प्राचीन मिश्र, मेसोपोतामिया और सिन्धु-उपत्यकाके लोग लोहेसे बिल्कुल अपरिचित थे। खुदाईसे जितने धातुके सामान वहाँ मिले हैं, वह ताँबेके हैं। ई० पू० २०००में जब हिन्दी आर्य अफगानिस्तानमें पहुँचे, तो उन्हें लोहा मालूम न था। लोह शब्द तो संस्कृतमें ई० पू० चौथी तीसरी शताब्दीमें भी ताँबे के लिये इस्तेमाल होता था। लंकामें एक बहुत बड़ा मठ था, जिसे लौहमहाप्रासाद इसलिये कहते थे कि उसकी छत ताँबे (लोह)की थी। अयस् शब्द आजकल लोहेके लिये संस्कृतमें ही नहीं पश्चिमी यूरोपकी भाषाओंमें भी (आइज़न, आइरन्) प्रयुक्त होता है; किन्तु वैदिक कालमें, उसे भी ताँबे-के ही अर्थमें प्रयुक्त किया जाता था। जब लोहा निकल आया, तो ताँबेके लिये इस्तेमाल होने वाले इस शब्दको लोहेमें रूढ़ करने-की चेष्टा की गई। पहिले ताँबेको ताम्र-अयस् कह लोहेके लिये कृष्ण-अयस् (काला-अयस्)का प्रयोग आरम्भ हुआ, फिर धीरे-धीरे ताम्र ताँबेके लिये और अयस् सिर्फ़ लोहेके लिये रह गया।

लोहा लोह—लाल रंगवाली—धातुका नाम था, जो ताँबेपर ही ज्यादा घटता है, किन्तु उसे भी रूढ़ि करके लोहा-वाचक बना लिया गया।

पीतलका आविष्कार १५०० ई० पू० और लोहेका १४०० ई० पू० कहा जाता है; यदि यह ठीक है, तो यह दोनों धातु ज़रूर सभ्यता-युगके सामन्तवादी कालकी देन हैं।

ताँबेके आविष्कारने भी समाजमें भारी परिवर्त्तन किया। पचासों तरहके हथियार, बर्तन, और मिश्रमें रंग भी इससे बनने लगे। इसकी बनी चीजोंकी बढ़ती संख्या और तरह-तरहके लाभ इसके लिये काफ़ी थे, कि धातु-शिल्प एक अलग उद्योगका रूप ले ले, और दासतायुग में पहुँचते-पहुँचते वैसा हुआ भी। ताँबेका काम करनेवाले ही पीछे लोहेका काम भी करने लगे। तिब्बत, हिमालय तथा भारतके कितने ही प्रान्तोंमें लोहार आदिम जातियोंमें गिने जाते हैं, और उनमें कितने ही अब भी घुमन्तू हैं; जो बतलाता है, कि इन्होंने इस शिल्पको बहुत पहिले सीख लिया था। छोटानागपुर और मध्यप्रान्तमें आदिम जातियोंकी बस्तियोंके पास पाये जानेवाले इन धातुओंके कूट या झावें भी इसी बातकी पुष्टि करते हैं।

धातुके आविष्कारके बाद भी पत्थरके हथियार बहुत पीछे तक चलते रहे हैं, यह हम बतला आये हैं। आज अच्छी-अच्छी बंदूकें एक ओर तैयार होकर बिक रही हैं; दूसरी ओर हमारे, और दूसरे मुल्कोंमें भी आदिम निवासी तीर-कमान ही चला रहे हैं। सवाल यहाँ कीमत और पैसेका भी आ जाता है। भारतमें पुरानी जगहोंकी खुदाइयोंमें ई० पू० चौथी-पाँचवीं सदी तक पाषाणके हथियार घरोंमें पाये गये हैं, जैसे भीटा (इलाहाबाद)की खुदाईमें। यदि उस वक्त तक पाषाण-हथियारका इस्तेमाल कहीं-कहीं कोई कर रहा हो तो आश्चर्यकी बात नहीं। इंग्लैंडमें १०६६ ई०में हेस्टिंग्सकी लड़ाईमें पत्थरके कुल्हाड़े इस्तेमाल हुए थे, यह हम कह आये हैं।

ताँबेके बर्त्तनोंके बनानेसे पहिले मिट्टीके बर्त्तन इसी युगमें बनने लगे थे, और आगे चलकर यह एक स्वतंत्र पेशा बना—यद्यपि तिब्बत जैसे देशोंमें अब भी साधारण गृहस्थोंके घरोंमें बनते देखा जाता है।

६. वर्ग-भेदका आरम्भ

आदिम कम्यून (साम्यवादी समाज)के कालमें वैयक्तिक सम्पत्ति क्या, संघसे अपने अलग अस्तित्वका व्यक्तिको खयाल भी न था। वहाँ ऊँच-नीच, धनी-ग़रीबका भेद न था। उत्पादन सामूहिक था और भोग भी सामूहिक। वहाँ न वर्ग था, न वर्ग-शासन। किन्तु अब हम दूसरी दुनियामें पहुँच चुके हैं। *जन-सत्ता*की जगह एक व्यक्ति—पितर—का नेतृत्व और साथ ही कितनी ही सम्पत्तिपर वैयक्तिक स्वामित्व स्वीकार कर लिया गया था। फल-संचय तथा शिकारकी अनिश्चित जीवन-वृत्तिकी जगह अब पशुपालन और कृषि जैसे जीविकाके साधन हाथ-में आ गये थे, जिससे कि शायद ही कभी मानव अकाल और महामारी-के शिकार होते थे। ऊपरसे विनिमय, गृह-शिल्प और धातु-शिल्पसे वैयक्तिक सम्पत्तिको बढ़ानेका रास्ता भी खुल गया था। आदिम साम्यवाद और *जन*-समाजमें उत्पादनकी गति धीमी थी, किन्तु अब नये शिल्प, नये हथियार, नयी धातुयें आदमीके हाथमें आई थीं, जिनसे उत्पादनको कई गुना बढ़ाया तथा जीवनको अधिक समृद्ध बनाया जा सकता था। आदिम साम्यवाद और *जन*-समाजके बहुत छोटे-छोटे गिरोह थे, जन-संख्या तथा जीवनोपयोगी सामग्रीकी वृद्धिके कारण भिन्न-भिन्न गिरोहोंमें जो प्रलोभन तथा पर-धन-अपहरणकी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई, और उससे जो द्वन्द्व बढ़ा, उसमें वही सफल हो सकता था; जो संख्या और संगठनमें ज्यादा बढ़ा हुआ हो; इसी वजहसे पितृ-सत्ताका जन्म हुआ, यह हम बतला आये हैं। वैयक्तिक सम्पत्तिके बढ़ाने-की घुड़दौड़में महापितरोंको सबसे ज्यादा सुभीता था। वह पशु, खेती,

सम्पत्ति-अर्जनके सभी साधनोंको अधिक रखते थे। जिनके पास पशु न थे, जिनके पास खेत न थे, उन्हें खाना-कपड़ा दे अपने काम-में लगा सकते थे, और उनके श्रमका फल भी अपने लिये उपयुक्त कर सकते थे। विनिमयकी चीजोंकी माँग बढ़नेसे चीज़ोंके पैदा करने तथा उसके लिये श्रमकी भी अधिक माँग थी, तो भी इन चाकरोंके साथ उतना समानताका बर्ताव नहीं हो सकता था। इसपर भी उस कालमें नये खेतके बनानेके लिये जंगल पड़ा हुआ था, शिकार और जंगली कन्द-मूलका रास्ता भी बन्द न था, इसलिये चाकर मिलना आसान न था।

इस श्रमकी माँगसे एक और भारी परिवर्त्तन हुआ, अभी तक अपने पराजित शत्रुओंको या तो मारकर खा जाया जाता था, या बिल्कुल मार डाला जाता था, युद्ध-बंदी बनानेका रवाज न था। कौन उनको अपने यहाँ लाकर खिलाता—खासकर जब कि सांघिक संबंध इतना दृढ़ था कि आदमी हर वक्त अपने जन और अपने निहतोंके बदलेकी बात ही सोचा करता था। लेकिन अब अवस्था बदल गई थी। खेती, पशु-पालन, हस्त-शिल्प, धातु-शिल्प सभी जगह अधिक हाथोंकी ज़रूरत थी। जिस तरह कुछ ही वर्षों पूर्व तक इंगलैंड तथा दूसरे मुल्कोंमें खर्गोश और बड़ी जातिके चूहोंको सिर्फ़ खानेके लिये पाला जाता था, किन्तु अब जब कि उनकी खाल माँससे ज्यादा महँगी हो गई, तो उनको बढ़ानेकी ओर लोगोंका ध्यान गया; उसी तरह युद्ध-में शत्रुओंको मार डालनेसे उसे बंदी बना काम लेनेमें ज्यादा फ़ायदा था। इस प्रकार पितृसत्ता-कालमें दासताका प्रारम्भ हुआ; और आगे चलकर अब दास और स्वामीके दो वर्ग क़ायम हो गये।

इस तरह उपजको बढ़ा नई सम्पत्ति जमाकर अमीरोंका एक वर्ग क़ायम हो गया, जो अपने आर्थिक प्रभावके बलपर राजनीतिक शक्तिको खान्दानी रूप देनेके लिये प्रयत्नशील होने लगा। अब एक

जनमें एक गोत्रके होनेसे वह पुरानी समानता, वह पुराना बन्धुत्व नहीं रह सकता था। अब साफ़ एक अमीर शासक वर्ग और दूसरा निर्धन शासित वर्ग बनता जा रहा था। वहाँ पहिले कोई शासक वर्ग नहीं था, सही, किंतु सामूहिक सम्पत्ति के स्वामी—सारा जन—सशस्त्र था, वह अपने स्वत्वोंको व्यक्तियोंके हाथमें दे खुशीसे आर्थिक पराधीनता स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं हो सकता था, इसलिये नये शासक वर्गको कितने ही खूनी संघर्ष करने पड़े, तब यह प्रथम वर्ग-राज्य क़ायम हो सका।

अभी तक भिन्न-भिन्न शिल्प-व्यवसाय घरोंके भीतर उन्हीं आदमियों द्वारा चल रहे थे, किन्तु अब वह संख्या और कौशलमें भी बढ़ चुके थे। हर परिवार अच्छे-अच्छे कपड़े, लकड़ी, धातुके सामान, मिट्टीके बर्त्तन आदि हजारों तरहकी चीजें नहीं बना सकता था। अब शिल्प सहस्रधार बन रहा था, इसलिये वह उन्हीं व्यक्तियोंके मानका न था। इसके लिये श्रमका स्थायी विभाग ज़रूरी हो पड़ा। इस प्रकार हस्त-शिल्पको कृषिसे अलग कर दिया गया और धीरे-धीरे शिल्पियोंका एक स्वतन्त्र गिरोह बना। इस श्रम-विभागसे जहाँ उत्पादन परिमाणमें अधिक बढ़ने लगा, वहाँ चीजें भी अच्छी तैयार होने लगीं, और लोगोंके लिए चीज़ें और सुलभ हो गईं, शिल्पकारोंको निश्चित जीविकाका सहारा मिला। किन्तु उत्पादनका फल सबको एक-सा नहीं मिल रहा था, इसलिये वर्ग-भेद, वर्ग-द्वेष दिनपर दिन बढ़ता ही गया।

७. शासन

समाजकी बनावटकी उसके शासन-यंत्रपर छाप होती है। पितृसत्ताक समाजमें जो वर्ग-भेद बढ़ रहा था, उसका प्रभाव उसपर पड़ना ही था। सांघिक सम्पत्तिकी जगह वैयक्तिक सम्पत्ति बहुत धीरे-धीरे और छोटे रूपमें आरम्भ हुई थी। यह भी हम बतला आये हैं कि उसके पीछे

नये हथियार और नये उत्पादनके तरीके जबर्दस्त काम कर रहे थे। इसीसे सांघिक जीवनकी आदत होनेपर भी, उसके साथ एक प्रकार-का स्वाभाविक प्रेम तथा आसक्ति होते हुए भी, वस्तु-स्थितिके सामने भावुकता जैसे निर्बल सिद्ध होती है, वह निर्बल सिद्ध हुई और इसी वजह-से मातृसत्ता भी समाजसे उठ गई। अभी तक शासन-यंत्र जनताके जीवनके हरएक क्षेत्रका ऐसा अभिन्न अंग था कि वह उससे अलग नहीं किया जा सकता था; लेकिन अब वह अलग हो पितरमें केन्द्रित हो गया। वैयक्तिक सम्पत्तिके कारण उत्पादनका सम्बन्ध व्यक्तियोंके साथ रह गया, सारे समाजसे उससे कोई वास्ता न था। शासन-यंत्रका काम सिर्फ़ शासन करना था। पहिले जहाँ जीविका-साधनोंके सांघिक होनेसे उसकी सुरक्षाके लिए जनको अपने भीतर दंड और शिक्षा द्वारा, बाहरके शत्रुसे युद्ध या सन्धि द्वारा, अपना काम पूरा करना पड़ता था; अब जीविकाके साधन वैयक्तिक थे, इसलिये उसे इस रूपमें सुरक्षित रखनेके लिए शासन-यंत्रको भीतर और पड़ोसीके साथ व्यवहार करना पड़ता था। इस प्रकार जनतासे अलग और उससे ऊपर शासन-यंत्र कायम हुआ, यह थी *राज्य*की प्रथम उत्पत्ति, जिसका कि श्रीगणेश वर्गभेदके साथ हुआ। इससे यह भी मालूम हो जायगा कि *राज्य* अनादि कालसे नहीं चला आया है, बल्कि वह बहुत पीछे अस्तित्व-में आया।

उत्पादन-श्रम और आवश्यकताएँ जितनी ही बहुमुखीन होती गईं, अत्यन्त दरिद्र तथा आश्रयहीन होनेकी सम्भावना कम रहते अपने लिये धन-उपार्जनकी प्रतियोगिता जैसे-जैसे बढ़ती गई, उसी चालसे यह वर्ग-राज्य स्पष्ट होता गया; इसीलिये मनुष्य पहिले यह जान न सका कि उसकी गति किधर रही है। पहिले संघ या जनकी शक्ति प्रबल थी, उसमें व्यक्तिको यदि कुछ महत्त्व मिलता था, तो जन-सेवाके लिये और जनके एक अभिन्न अंगके रूपमें उसकी योग्यता—बुद्धि, पौरुष

और वीरता—के कारण; किन्तु अब व्यक्ति व्यक्तिके तौरपर समाजसे ऊपर रहकर बढ़ने लगा था, उसकी योग्यता सिर्फ़ उसके शरीर और मनकी शक्ति तथा निपुणतापर ही निर्भर नहीं थी; बल्कि वैयक्तिक धन उसका खास अंग बन गया था। अब शासकके पास अपना अनुयायी बनानेके लिए खिलाने-पिलाने, काम तथा उपहार देनेके भौतिक साधन मौजूद थे। निर्धन वर्गको वह इस हथियारसे हथियाता जा रहा था। धनी वर्गमें प्रतिद्वंद्विता होनेपर भी सबके आर्थिक स्वार्थ—संघकी सम्पत्तिको व्यक्तिके तौरपर हड़पनेकी प्रवृत्ति—एक होनेसे वह वर्ग-स्वार्थ बन एक तरहके समझौतेका रूप धारण कर रहा था—किसी शासकको वह काम न करना चाहिये जिससे वैयक्तिक धन-स्वामित्वपर चोट पहुँचे; इस बातपर सभी धनी, सभी स्वार्थी वर्ग अपनी सारी दुश्मनियोंको भूलकर एकत्र होनेके लिये तैयार थे।

इस नये शासक-वर्गको एक और भी सुभीता था। पहिलेके जन-कर्मियोंको जनके संचालनका काम करते हुए ही अपनी जीविका अपने शारीरिक परिश्रमसे उपार्जित करनी पड़ती थी। उनके पास इतना समय और बच रही शारीरिक शक्ति तथा सम्पत्ति न थी कि वह चिन्तन कला तथा ऐसी दूसरी बातोंमें अपनेको लगाते। ईरानके देवक और बुद्धकी कहानीके राजाकी भाँति अब पितरकी रोजीकी चिन्ताका भार समाजके ऊपर पड़ रहा था। बेचारे मजदूरी पानेवाले मजदूर-रूपमें अथवा मुफ्त मिले तथा पालतू पशुकी तरह काम करनेवाले युद्ध-बन्दी दासके रूपमें दूसरे लोग इस वर्गका काम करनेको तैयार थे। अब शासनके कुछ समयको छोड़ वह बाकी समयको "संगीत-साहित्य-कला" तथा दूसरी दिमागी उड़ानोंमें लगा सकता था। वह खुद और दूसरोंको प्रकृतिके गर्भमें छिपी शक्तिके प्राप्त करनेके तरीक़ोंके निकालनेमें नियुक्त कर सकता था। जिन हथियारों, धातुओंके आविष्कारमें पहिले हजारों हजार वर्ष लगे थे, और जो मनुष्यके पहिलेसे निश्चय

करके सोचनेके परिणाम नहीं, बल्कि बहुत कुछ आकस्मिक घटना की तरह मिले थे, अब उनपर सोचने तथा प्रयोग करनेके लिये इस वर्ग-के पास काफी समय और साधन थे। इसीसे आगे नये-नये तरीकों, नई-नई चीजोंके आविष्कारसे समाजकी प्रगतिको हम बहुत तेजी-से होते देखते हैं; साथ ही जैसे ही जैसे उत्पादक-श्रमसे मुक्त व्यक्तियों-की संख्या बढ़ती गई, उतनी ही इन नव-आविष्कारोंकी चाल (परिमाण)-में तेजी होती गई। इसका यह मतलब नहीं कि उत्पादन-संबंधी शारीरिक श्रमसे मुक्त सभी व्यक्ति नये-नये भौतिक आविष्कारोंमें लगे थे। बल्कि, सच तो यह है कि, समय बीतनेके साथ निठल्ले कामचोरों-की संख्या ही अधिक बढ़ती गई।

८. धर्म

मनुष्यका ध्यान सबसे पहिले रुधिर और यौन-संबंधकी ओर आकर्षित हुआ था। रुधिर जीवन है, इसे उसने खूनके निकलनेसे बेहोश होते, मरते हुए घायलोंको देखकर जाना था। यौन-संबंध द्वारा अपने जैसे नये व्यक्तिके प्रकट होनेको भी वह आश्चर्यकी दृष्टिसे देखे बिना नहीं रह सकता था। भय मिटाने और भला होनेके लिये उसने रुधिर दानको सबसे पहिले दैवी साधनके तौरपर स्वीकार किया। खूनके ह्राससे किसीको मरते देख उसने रुधिर देनेकी कोशिश की, किन्तु एक शरीरके खूनको दूसरे शरीरमें कैसे और किन नियमोंके साथ डाला जा सकता है, इसका ज्ञान तो मनुष्यको अभी पिछली सदीके अन्तमें थोड़ा-थोड़ा होने लगा, और उसका पूरा उपयोग १९१४—१८ ई०के महायुद्धसे हुआ है। हाँ, यदि संयोग-वश कोई मूर्छित जी उठा, तो यह इस बातके सिद्ध करनेके लिये काफी समझा गया, कि रुधिर-दान द्वारा मुर्दा जिलाया जा सकता है। पीछे जब मरोंके प्रेत होनेकी कल्पना जारी हो गई, तब तो इस रुधिर-दानका माहात्म्य और बढ़ गया। यौन-संबंधके चमत्कारने

यह भी बतलाया कि शरीरके भीतर सबसे रहस्यमयी शक्ति स्त्री-पुरुष-की जनन-इन्द्रियमें है। खतना या जनन-इन्द्रियका रुधिर-दान इसी अभिप्रायसे—देवताको खुश करनेके लिये—शुरू हुआ था, जो अब कितने ही लोगोंमें बहुत पवित्र धार्मिक कृत्यके तौरपर प्रचलित है। मनुष्य और पशुकी बलि उस वक्त दूसरे दर्जेका रुधिर-दान समझा जाता था। रुधिरके इस महत्त्वने उसके रंग—लाल रंग—को भी चमत्कारिक शक्तिका धनी बना दिया। गेरू और लाल मिट्टी आदि इसीलिये आदिम जातियोंके शवोंके साथ पाये जाते हैं। मूँगे, घोंघची (गुंजा)की मालाओं और आभूषणोंका प्रचार भी शुरू-शुरू-में लाल रंगकी इसी दिव्य-शक्तिके खयालसे हुआ।

यौन-चिह्न—स्त्री-पुरुषके जननेन्द्रिय—की क्रियाकी दिव्य-शक्तिमत्ता-के ख्यालने धर्मके विकासमें काफी सहायता की। आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व सिन्धु-उपत्यकावासी लिंग और भगकी पूजाको अपने धर्मका अंग समझते थे। मोहेंजोदरो और हडप्पाकी खुदाइयोंमें इनकी पत्थर-प्रतिमाएँ मिली हैं। लिंग-पूजा करने हीसे इन्हें—जिन्हें वैदिक साहित्य-में असुर कहा गया है—वैदिक आर्य शिश्नदेव (लिंग जिसका देवता हो) कहकर उपहास करते थे। दक्षिणी भारतमें जो सबसे पुरानी लिंग-प्रतिमा मिली है, उसकी आकृति हूबहू पुरुषके लिंग-सी है। कौड़ीकी आकृति भगसे मिलती है, जिसके लिये उसे चमत्कारी माना गया और आदिम जातियोंमें ही नहीं, भारतके सभ्य कहलानेवाले हिन्दू भी बच्चोंको भूत-प्रेत या कुदृष्टिसे बचनेके लिये कौड़ी पहनाते हैं; चोट या फोड़े निकलनेपर काले धागेसे कौड़ी बाँधना तो चिकित्साका अंग-सा बन गया है। शिवलिंग हमारे आजके बड़े-बड़े दार्शनिकों—जिनमें पुराने ढंगके संस्कृत पंडित ही नहीं, बल्कि आधुनिक ढंगके धुरंधर विद्वान् भी शामिल हैं—की श्रद्धा और पूजाका अब भी भाजन है। वह क्या है? नीचेका अर्घा बिल्कुल स्त्रीकी जनन-इन्द्रियकी

नकल है और उसके बीचमें पुरुषका लिंग गाड़ा हुआ है । आजकल-के हिन्दू जब इस लिंग-भग पूजाको इतने गद्गद् हो झूम-झूमकर करते हैं, तो धर्मका क-ख शुरू करनेवाले उन बर्बर मानवोंके बारेमें क्या कहना है ?

खून और जनन-इन्द्रियके अतिरिक्त मृतात्माओं और भूत-प्रेतका भय भी अब बढ़ चुका था और उसके लिये भी मनुष्यको कोई तदबीर करनी थी । इस प्रकार प्राकृतिक शक्तियाँ—सूर्य, चाँद आदि मृत-प्राणियों-की आत्माओं (भूत-प्रेतों)को क्रुद्ध न होने देना, या उनकी कृपाका भाजन बनना मनुष्यके आवश्यक कर्त्तव्योंमें बन गया । कबीलोंके शासक या *पितर* अब धर्म-पुरोहितका भी काम करने लगे थे । अपने खाली समय और दिमागको और कामोंके साथ जमा होती, वैयक्तिक सम्पत्तिकी रक्षाके लिये इस्तेमाल करनेका यह अच्छा मौका था। *पितर* पुरोहित बन साधारण जनता और देवताके बीच 'बिचवई' बना। देवता अक्सर उसके सिरपर आकर भी बोलने लगा था और इस प्रकार वह देवसंदेश-वाहक बन चुका था । अब उसके पदके पीछे देवशक्ति सहारा देने लगी थी । उसकी वैयक्तिक सम्पत्ति, उसका प्रभुत्व देवताका वरदान था । भला मरण-धर्मा मनुष्य देव-आत्माके खिलाफ़ जानेकी हिम्मत कैसे करता ?

इस प्रकार वर्ग-शासनकी पीठपर हाथ रख उत्पादन-साधन तथा शिल्पकी उन्नति ही नहीं, बल्कि देवता और धर्म भी सहायक थे । 'राजा विष्णुका अंश है'—इस कल्पनाका प्रथम सूत्रपात यहींसे आरम्भ हुआ । शताब्दियों—सहस्राब्दियोंके जबर्दस्त देववाद और धर्मप्रचारके अनंतर आज जो वैयक्तिक सम्पत्तिके औचित्यको साबित करनेके लिये वातावरण तैयार हुआ है, वह स्वाभाविक ही था ।

कुछ विद्वानोंका ख्याल है कि मनुष्यका ध्यान खेतीके विकास-के साथ हरियाली और उसका जीवनसे संबंधकी ओर आकर्षित हुआ ।

चढ़ते हुए तरुण जीवनको खेतकी हरियालीके रूपमें उन्होंने देखा, इससे हरे लेप और हरे चूर्ण उसके लिये जीवनके प्रतिनिधि बन गये, जो सौन्दर्यके बढ़ानेवाले द्रव्यके तौरपर भी इस्तेमाल किये जाने लगे। इसके लिये तूतियाको दूसरे मसाले और तेलके साथ पीसकर रंग तैयार किया जाने लगा। मिश्रकी प्राचीनतम मम्मियाँ* (मृत-शव) इसी रङ्गसे रँगी मिलती हैं। शताब्दियों तक इस्तेमाल करते हुए मिस्रियोंको यह जाननेमें दिक्कत नहीं हुई, कि तूतियाको गर्म करनेपर एक चमकीला भूरा रङ्ग तैयार हो जाता है। इसी प्रक्रियासे मिस्रियोंको संयोगवश ही ताँबेका पता लग गया। मम्मियोंको हरे रङ्गसे रंगना उन्हें अमर जीवन देनेके लिये एक धार्मिक कृत्य था। ताँबेका आविष्कार उसी क्रियाका फल था, इसलिये मनुष्यने उसे साधारण आविष्कारके तौरपर नहीं लिया। ताँबेको गर्म करके पीटनेपर तेज धार निकल आती है, यह तूतियाको गर्मकर कूटनेवालोंके लिये जानना मुश्किल न था।

लाल, हरेके अतिरिक्त पीले रंगको भी जीवनदाता रग माना जाने लगा, क्योंकि सबेरेके सूर्यका रंग सुनहला था। स्थायी वास स्वीकार करनेके पहिले ही मनुष्य चन्द्रमाको अपने शिकार तथा दुश्मनसे निर्भयता प्रदान करनेमें सहायक देवताके तौरपर ही नहीं मानने लगा था, बल्कि उसने यह भी देखा था, कि स्त्रियोंका मासिक-धर्म चन्द्रमाके मासके हिसाबसे होता है, इस प्रकार वह नवजीवनके उत्पादनमें सहायक देवता है। नील-उपत्यकामें बस जानेपर उन्होंने बाढ़ और ऋतुके सहायक लुब्धक और सूर्यको जीवन-दाताओंमें सम्मिलित कर लिया। पीछे समय बीतनेके साथ *पितरों*, सामन्तों और राजाओंको अमरत्व प्रदान करते हुए उन्हें उन्होंने आकाशके तारोंमें

---

*Mummies

स्थान दिया, जैसा कि भारतमें भी सप्तर्षिके सात तारों, अगस्त्य, प्रजापति तथा दूसरे तारोंको अमर पितरोंका अमर-निवास प्रसिद्ध किया गया। यही श्रद्धा और कल्पना आगे फलित ज्योतिषकी बुनियाद बनी, और फिर ज्योतिषियोंकी दैवज्ञताका जादू व्यक्ति और समाजपर चलने लगा।

मिस्रमें गायको पवित्र माननेका ख्याल सबसे पहिले आया, यद्यपि उसे अवध्य बनानेके लिए नहीं; बल्कि देवताओंके उपभोग-की चीजके तौरपर। वह प्रारम्भिक आर्योंके यज्ञीय पशुकी भाँति मिस्री देवताओंकी पवित्र बलि थी। गायके प्रति यह दिव्य और पवित्र भावना उस वक्त अस्तित्वमें आई, जब कि आदमीने देखा कि मनुष्य सिर्फ़ गायके दूधको पीकर भी जीवित रह सकता है। मिस्रियों-ने गायका संबंध चन्द्रमाके साथ, आकाशको गायके साथ तथा दिव्य माता (माता देवी)को आकाशके साथ जोड़ एक देव-परंपरा—देववाद—ला खड़ा किया। गायके स्तनके नीचे बैठकर दूध पीते मानवके लिये, उसके सिरपर छाया हुआ गायका शरीर आकाशीय गोलार्द्ध-सा था, जैसा कि बाहर भी आकाश उसे मालूम होता था। इस प्रकार गोमाता, आकाश-माता और देवी-*माता*का संबंध स्थापित हुआ।

चतुर्थ अध्याय

सभ्य मानव-समाज (१)

सभ्य मानवसे हमारा मतलब एक आदर्शवादी स्वार्थत्याग-परायण उच्च मानव-समाजसे यहाँ नहीं है। जैसा कि हम देख चुके हैं, पितृ-सत्ताक समाजकी स्थापना ही स्वार्थान्धतापर हुई थी। तबसे आगे सामाजिक स्वार्थकी अवहेलना और लूट, वैयक्तिक स्वार्थको पूरा करनेका लक्ष्य घटनेकी जगह और बढ़ता ही गया है। इस सभ्य-समाजको तीन अवस्थाओंमें बाँटा जाता है—(१) दासता-युग, (२) सामन्तवादी-युग और (३) पूँजीवादी-युग।

सभ्यताका विश्लेषण करके एन्गेल्सने लिखा है—'सभ्यता समाजके विकासकी वह अवस्था है, जिसमें श्रम-विभाग, व्यक्तियोंके भीतर श्रमसे उत्पन्न (वस्तुओं)का विनिमय, विनिमय और श्रमके विभागसे सम्बन्ध रखनेवाले सौदे (वस्तु)का उत्पादन पूर्ण विकासको प्राप्त होता है और पूर्ववाले समाजमें क्रान्तिकारी परिवर्त्तन उपस्थित करता है।"

सौदेकी चीज़ोंके उत्पादमकी जिस अवस्थामें सभ्यताका आरंभ होता है, उसके बारेमें एन्गेल्सका कहना है—"आर्थिक दृष्टिकोण-से इसकी विशेषताएँ हैं—(१) धातु-धनके साथ-साथ मुद्रा, पूँजी और सूदके व्यवसायका आरम्भ ; (२) उत्पादक व्यक्तियोंके बीच बनियोंका एक 'बिचवई' वर्गके रूपमें आना ; (३) भूमिपर व्यक्तिका स्वामित्व, तथा उसके रेहन-बेंचीका अधिकार ; (४) उत्पादनके ढंगमें दासोंके श्रमका अधिक प्रचार। सभ्यता-युगमें परिवारका जो रूप है, उसमें एक-विवाह, स्त्रीपर पुरुषका शासन और

समाजकी आर्थिक इकाईका स्थान अलग-अलग परिवार यह मुख्य बातें हैं। सभ्यता-युगके समाजमें एक दूसरेके साथ सम्बन्ध करानेका ज़रिया *राज्य* है, जो कि बिना अपवाद हरएक कालमें धनिक वर्गका राज्य है, और सभी अवस्थाओंमें वह पीड़ित और शोषित वर्गको दबा रखनेके लिये एक यंत्रके सिवा और कुछ नहीं है। सभ्यताकी एक और विशेषता है—एक ओर सारे सामाजिक श्रम-विभागके आधारपर नगर और देहातके विरोधको स्थापित करना; और, दूसरी ओर सारी सम्पत्तिको हस्तान्तरित होने देनेका आरम्भ, जिसके अनुसार सम्पत्तिका मालिक—मरनेके बादके लिये भी—अपनी सम्पत्तिको दूसरेके अधिकारमें दे सकता है। इस अधिकारने जन-संस्थाके ऊपर सीधा और जबर्दस्त प्रहार किया। एथेन्स (यूनान)में यह अधिकार सोलोनके समय (५६० ई० पू०) तक अज्ञात था। रोममें इससे पहिले ही इसका रवाज हो चुका था, जर्मनोंमें इसका आरम्भ (ईसाई.) पुरोहितोंने इस मतलबसे किया, कि भक्त-जर्मन बिना रोक-टोकके अपनी सम्पत्ति मठोंको दान दे सकें।"

हिन्दी-यूरोपीय जातियाँ—यूनानी, ईरानी, भारतीय—यद्यपि पीछे ईसा-पूर्व छठी सदीसे सभ्यतामें संसारका नेतृत्व करने लगीं, और आधुनिक वैज्ञानिक युगके निर्माणमें तो यूरोपीय जातियोंका ही प्रायः सारा हाथ है; किन्तु जिस वक्त मिश्री, मेसोपोतामियन् और सिन्धुवासी पितृसत्ता-दासतासे पार हो सामन्तवादमें दाखिल हो गये थे, उस वक्त अभी हिन्दी-यूरोपीय जाति उराल और बाल्तिकके बीच *जांगल* और जन (प्राथमिक बर्बर) अवस्थासे मुश्किलसे पशु-पालन अवस्था तक पहुँची थीं। भाषातत्त्व हमें बतलाता है कि यूनानी और भारतीय आर्य देवताओंके लिए *पितर* विशेषण देते थे, और कभी-कभी वह देवजाति या किसी खास देवता (ज्युपितर-द्यौस्पितर)के नामके तौरपर भी इस्तेमाल होता था। जिससे यह साफ़ है कि यह दोनों जातियाँ—जिसका

मतलब है सारा शतम् (हिन्दू, ईरानी, स्लाव) और केन्टम् (यूनानी, लातिनी, जर्मानिक आदि) परिवार *पितृसत्ता*-युगमें पहुँच चुका था। गायके लिये साधारण शब्द (गौ, कौ, गव्यादन्यामें गव्, गाव) बतलाता है कि वह गायसे सुपरिचित थे। भेड़के लिये *अवि* संस्कृत) और इविस् (रूसी), कुत्तेके लिये श्वक (संस्कृत) सोबक (रूसी) शब्द बतलाते हैं कि कम-से-कम हिन्दी-स्लाव (शतम्) परिवार उस समय पशु-पालन अवस्थामें पहुँच गया था, जब कि इसकी दो शाखाएँ—हिन्दी-ईरानी और स्लाव-लिथुअन हुईं। लेकिन, कृषि और अनाजके लिये एकसे शब्द न केंटम भाषामें और न हिन्दी-स्लाव भाषामें मिलते हैं, जिससे पता लगता है कि इनके एक परिवार (जाति)के तौरपर रहते वक्त वह कृषिकी अवस्थामें नहीं पहुँचे थे; लेकिन नील-उपत्यका मेसोपोतामिया, सूसामें ५००० ई० पू०से पहले हम कृषि होते देखते हैं। संस्कृत (हिन्दू) और ईरानी भाषाओंमें कृषि-सम्बन्धी शब्द (गोधूम = गंदुम्, यव = जौ) एक होनेसे मालूम होता है, कि इस काल (२००० ई० पू०)में वह कृषि करने लगे थे। यहाँपर मालूम होगा कि सेमेतिक (मसोपोतामिया, सूसा), हेमेतिक (मिश्र) जातियों—और सिन्धु-की पुरानी जातिको भी ले लीजिये—की अपेक्षा हिन्दी-युरोपीय बहुत पीछे शिकार, पशु-पालनसे अगली अवस्थाओंमें पहुँचे। यूनान और मेसोपोतामिया दोनोंकी ओर हिन्दी-यूरोपियोंका बढ़ाव घोड़ेके साथ होता है, जिससे यह पता लगता है कि सभ्य जातियोंके सम्पर्कमें आनेसे पहिले वह घोड़ोंको स्वादिष्ट भोजनके तौरपर ही इस्तेमाल नहीं करते थे, बल्कि वह घोड़ेको इतना सिखला चुके थे कि वह आदमीको अपनी पीठपर लिये दौड़ता था। ऐतिहासिकोंका मत है कि जैसे चंगेज-के मंगोलोंको अपने दिग्विजयमें घोड़ेके साथ बारूदके इस्तेमालने भारी सहायता की, उसी तरह हिन्दी-यूरोपियोंको उस समयकी सभ्य जातियोंपर विजय प्राप्त करनेमें घोड़ेने भारी मदद की। शतम्-केन्टम्-

संयुक्त कालमें—जिसमें सारी हिन्दी-यूरोपीय जातियाँ (आजके हिन्दी, ईरानी, यूरोपीय जातियोंके पूर्वज) एक भू-प्रदेशमें जनके अन्तिम, पशु-पालनके प्रारम्भिक काल (*पितृसत्ता* काल)में थीं—उसकी भाषामें घोड़ेका एक-सा शब्द नहीं मिलता, इससे यह मालूम होता है कि अभी वह घोड़ेको पालतू नहीं बना सके थे। ईरानी अस्प और संस्कृत अश्व बतलाते हैं, कि एक परिवारके रूपमें एक जगह रहते वक्त वह अश्व पालने लगे थे, और सिर्फ़ खाने और दूध पीनेके लिये ही नहीं, बल्कि सवारीके लिये भी, अश्व=आशु (तेज) चलनेवाला।

इस सबका विश्लेषण करते हुए हम इस परिणामपर पहुँचते हैं—

परिवार	*निवास-प्रदेश*	*सन् (ईसा पूर्व)*	*अवस्था*	*व्यवसाय*
हिन्दी-यूरोपीय (शतमू-केन्टमू)	दक्षिणी रूस	३००० (?)	जन, पितृसत्ता	शिकार
हिन्दी-स्लाव	वोल्गा-पामीर	२५०० (?)	” ”	पशु-पालन
हिन्दी-ईरानी	पामीर*	२२०० (?)	पितृसत्ता	कृषि
हिन्दी-आर्य	स्वात	२०००	”	”
” ”	सप्तसिन्धु (पंजाब)	१८००	” दासता	” वाणिज्य
” ”	गंगा-उपत्यका	१५००	दासता-सामन्तवाद	गोरक्षा, वाणिज्य

हिन्दी-यूरोपीय जातियोंके विकासपर विचार करनेसे यह भी मालूम होता है कि वह दासता-युगमें तब तक प्रविष्ट नहीं हुई, जब तक कि

*उत्तर सप्त-सिन्धु—आमू और सिर नदियोंके ऊपरी भागका प्रदेश, जिसे रूसीमें सेमी-रामिस् (सात नदियाँ) अब भी कहा जाता है। हिन्दुओंका उत्तर कुरु और ईरानियोंका "आर्याना वैज" यही था, जहाँपर कि यह दोनों कौमें एक परिवारके रूपमें रहती थीं।

अपनेसे भिन्न जातियोंको पराजित करके उनके देशोंमें जाकर विजयी शासकके तौरपर बस नहीं गई। हिन्दी-यूरोपीय तीन जातियों—हिन्दी आर्य (भारतीय), ईरानी आर्य (ईरानी) और यूनानियोंको ऐसा करनेका मौका मिला, बर्बर हिन्दी-आर्योंको स्वातसे सिन्धु-उपत्यकामें (१८०० ई० पू०में) दाखिल होते ही वहाँकी सभ्य जातिसे मुकाबिला करना पड़ा और पराजितोंको अपना 'दास' (गुलाम) बनाकर वह स्वयं दासता-युगमें प्रविष्ट हुए। ईरानियोंका भी मिडिया (मद्र, वर्त्तमान हम्दानके पासका प्रदेश)में पहुँचनेपर मेसोपोतामियाकी सभ्य (असुर) जातिसे मुकाबिला हुआ; किन्तु उसे अन्तिम विजय प्राप्त करनेके लिये ६०७ ई० पू० तक इन्तिजार करना पड़ा, जब कि हुअक्षत्र (मृत्यु ५८५ ई० पू०)ने असुर-राजधानी निनेवेपर अधिकारकर उन्हें पराजित किया। लेकिन तब ईरानी दासता-युग नहीं, सामन्त-युगमें पहुँच गये थे। पश्चिमी ईरानमें मितन्नी आर्योंका सबसे पहिले १५०० ई० पू०में मेसोपोतामियाकी सभ्य जातिसे मुकाबिला हुआ था, यह बोगज़कुईमें प्राप्त शिला-लेखसे मालूम होता है। शिला-लेखमें वैदिक आर्योंके देवताओंका नाम आनेसे कितने ही विद्वान् मितन्नीको ईरानियोंकी नहीं, बल्कि हिन्दी-आर्योंकी शाख मानते हैं; किन्तु बीचमें ईरानी-आर्योंकी भूमिको लाँघकर पितृसत्ताक अवस्थाके एक हिन्दी-आर्य कबीलेका वहाँ पहुँचना उतना आसान नहीं था। जर्थुस्त्रके सुधारके बाद कुछ वैदिक देवता ईरानियोंमें घृणाके भाजन माने जाने लगे, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु जर्थुस्त्रके पूर्व भी ऐसी बात रही हो, इसका कोई प्रमाण नहीं। बल्कि ईरानी प्रथम राजा दैअक्कु (देवक मृत्यु ६५५ ई० पू०)का नाम बतलाता है, कि उस वक्त तक देव शब्द उसी अर्थमें लिया जाता था, जिसमें हिन्दी-आर्य उसे लेते थे। इसलिये, संभव यही मालूम होता है कि मितन्नी जर्थुस्त्रके सुधारके बहुत पहलेके ईरानी आर्य थे।

"सभ्यताके आगमनके बादसे धनकी वृद्धि इतने भारी परिमाण-में हुई, इसके रूप इतने प्रकारके हुए, इसका उपयोग इतना विस्तृत और अपने मालिकके फ़ायदेके लिये इसका प्रबन्ध इतना बुद्धिपूर्वक है कि जनताके लिये यह नियन्त्रणमें न आनेवाली शक्ति बन गया। मनुष्य-का मस्तिष्क (आज) अपनी ही कृतिको देख आश्चर्य-चकित हो रहा है। तो भी, वह समय जरूर आयेगा, जब कि मानव-बुद्धि सम्पत्तिपर अधिकार-की व्याख्या करनेके लिये ऊपर उठेगी, राज्य तथा उसकी रक्षामें रहने-वाली सम्पत्तिके सम्बन्धोंकी व्याख्या करेगी और सम्पत्तिके स्वामियोंके अधिकारोंकी सीमा तथा कर्त्तव्यको निर्धारित करेगी। समाजके स्वार्थ व्यक्तिके स्वार्थोंसे ऊपर हैं; इन दोनोंको न्यायोचित तथा एक दूसरेके अनुकूल सम्बन्धोंसे सम्बद्ध करना होगा। सिर्फ़ सम्पत्ति (संचित करना) मनुष्य-जातिका अन्तिम उद्देश्य नहीं है। इसकी उन्नतिके लिये उसी तरह भविष्यके लिये विधान बनाना है जैसे कि वह अतीतके लिये एक समय बना था। *सभ्यता*के आरम्भसे जितना समय अभी तक बीता है, वह आनेवाले कालके सामने एक नगण्य-सा टुकड़ा है। समाजका ध्वंस होना एक ऐसे पेशेका चरम उद्देश्य बनता जा रहा है, जिसका कि सम्पत्ति अन्त और लक्ष्य है। किन्तु, इस तरहका पेशा अपने ही भीतर अपने ध्वंसके बीज लिये हुए है। राज्य-शासनमें प्रजा-सत्ता, समाजमें भ्रातृभाव, अधिकारों और लाभोंमें समानता और सार्वजनिक (अनिवार्य) शिक्षा, समाजके उस अगले उच्च तलकी सूचना दे रहे हैं, जिसकी ओर कि अनुभव, प्रतिभा और ज्ञान आदमीको दृढ़तापूर्वक लिये जाते मालूम होते हैं। यह प्राचीन जन-समाजकी स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभावका एक ऊँचे रूपमें पुनरुज्जीवन होगा।"

स्मरण रहे कि मोर्गन न उग्रपन्थी राजनीतिज्ञ था और न समाजवादी। उसने यहाँ जो अपने ख्याल प्रकट किये हैं, वह जन तथा १८८१

आरम्भिक अवस्थामें पाई जानेवाली लाल-इंडियन जातियोंके समीप-से अध्ययनके फल हैं।

वेरियर एलविन्‌को मध्य-प्रदेशकी कुछ गोंड जातियोंके नज़दीक-से अध्ययन करनेका बहुत मौका मिला है, और वह अब भी उन्हींमें काम कर रहे हैं। स्टेट्समैन*ने एलविन्‌के बारेमें लिखा—"उन्हें आदिम-वासियोंकी समस्याके राजनीतिक पहलूसे कोई मतलब नहीं है।" एलविन्‌ने एक रेडियो-भाषणमें कहा*—"असली आदिवासी खूनके अपराधको प्रायः सदा स्वीकार कर लेता है और कह देता है कि उसने क्यों वैसा किया।" उनमें व्यक्तिवाद नहीं है। वह अपने समाज, कबीले, गाँवको सबसे पहले रखते हैं। हरएक झोपड़ी अपने पड़ोसीसे मिली रहती है, और वहाँ अलग आँगन नहीं होते। उनमें साम्प्रदायिकता नहीं है। अपने (समाज)के लिये जिस शब्दको वे इस्तेमाल करते हैं, उसका अर्थ 'मनुष्य'के सिवा कुछ नहीं। यह एक शोकजनक और विचित्र बात है कि जैसे ही ये लोग शिक्षित जातियोंके सम्पर्कमें आते हैं, वैसे ही उनमें व्यक्तिवादके भाव जाग उठते हैं। वे अपने गाँवोंकी व्यवस्थाको बदल देते हैं; और छोटी-छोटी टुकड़ियोंमें बँट जाते हैं। जैसे ही वह स्वयं शिक्षित हो जाते हैं, वैसे ही वे मुक़दमेबाज तथा आपसी वैमनस्य और साम्प्रदायिकताके अगुआ बन जाते हैं।"

सभ्यताने मनुष्यको धन, ज्ञान, बलमें समृद्ध किया; किन्तु जिस व्यक्तिगत स्वार्थकी नींवपर उसने अपनी इमारत बनाई, उसने मानव-को मानवोचित गुणोंसे वंचित कर दिया।

क. दासता-युग

पितृसत्ता-कालमें ही युद्ध-बंदियोंको मार डालनेकी जगह दास बनाना (दास-प्रथा) आरम्भ हो गया था, यह हम बतला आये

*"स्टेट्समैन" दिल्ली, ६ सितम्बर, १९४१ ई०।

हैं। यह भी बतला चुके हैं कि उस युगमें कृषि, गृह-शिल्प, धातु-शिल्प सभीमें काम करनेवाले आदमियोंकी माँग थी। सम्पत्तिके उत्पादनके लिये साधन मौजूद थे, हाथोंकी ज़रूरत थी। ऐसी अवस्था-में दास-प्रथाका आविष्कार हुआ। "थोड़े ही समयमें उन सभी जातियों-में यह वस्तुके उत्पादनका बहु-प्रचलित तरीका बन गया, जो कि विकासमें आदिम साम्यवादी अवस्थासे आगे बढ़ चुकी थीं; किन्तु अन्त-में यही इस व्यवस्थाके नाशका एक प्रधान कारण भी हुई। "दासता-ने ही पहिले-पहल कृषि और शिल्प-उद्योगमें काफी मात्रामें श्रम-विभाग किया, और इसीके साथ यूनान (और भारत) जैसे पुराने जगत्‌की समृद्धि थी। दासताके बिना न यूनानका साम्राज्य सम्भव था, न रोमन-का (और नहीं भारतके चक्रवर्त्ती राज्य या ईरानके शाहंशाहतका होना)। साथ ही यूनान और रोमन-साम्राज्यके आधारके बिना आधुनिक यूरोप भी सम्भव न था।

"हमें यह भूलना न चाहिये कि हमारा सारा आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक विकास एक ऐसी अवस्थासे आगे बढ़ा है, जिसमें दासता आवश्यक और सर्वस्वीकृत बात थी। इस अर्थमें हम कह सकते हैं कि प्राचीन जगत्‌की दासताके बिना आधुनिक सामाजवाद* सम्भव न था।"

"इसमें शक नहीं कि उस समयकी जो अवस्था थी, उसमें शत्रुओं-का कतल-आम न कर दास बनाना समाजकी आर्थिक, राजनीतिक, बौद्धिक विकासको आगे ले जानेवाला क़दम था। (उपनिषद् या बुद्ध-कालीन भारतको ले लीजिये) उस वक्तका समाज परस्पर-विरोधी स्वार्थों-के ऊपर आधारित था, और उसकी प्रतियोगिताके साथ दासता द्वारा अधिक उत्पादनसे ही उसकी प्रगति हो सकती थी। नाक-कान काट,

*Socialism

कलेजा निकाल तथा दूसरी क्रूर यातनाओंके साथ जिस प्रकार उस वक़्त युद्ध-पराजित मारे जाते थे, उसके स्थानपर दास बन जीने तथा स्वस्थ और तन्दुरुस्त रहनेका अधिकार महँगा सौदा दासोंके लिये भी न था* ।

"बिना दासताके (अमेरिका आदिका) कपास सम्भव न था, और कपास बिना आधुनिक उद्योग-धंधा अस्तित्वमें न आता। यह दासता ही थी, जिसने उपनिवेशों (पराजित देशों)का मूल्य बढ़ाया—उपनिवेशोंके बिना पृथिवीव्यापी व्यापार नहीं कायम हो सकता था। बड़े पैमानेके उद्योग-धंधेके स्थापित होनेके लिये पहिले पृथिवीव्यापी व्यापारका होना ज़रूरी था। इस प्रकार दासता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आर्थिक हथियार थी। दासताके बिना (दुनियाका) सबसे अधिक प्रगतिशील देश—उत्तरी अमेरिका—एक पितृसत्ताक देशके रूपमें परिणत देखा जाता, यदि दासताको बंद कर पाते तो भूगोलकी जातियोंकी सूचीसे अमेरिका लुप्त हो गया होता।"

१८५४ ई०में जब इन पंक्तियोंको मार्क्सने लिखा था, उस वक़्त-की अवस्थाके लिये यह बात बिल्कुल ठीक थी।

१. परिवार और ब्याह

यौन-सम्बन्धमें स्त्रीकी स्वच्छन्दता जो पहिले थी, उसे कम करने-के लिये पितृसत्ताक-कालमें ही यूथ-मैथुनसे त्रस्त स्त्री और पुत्रके दाय-भागके ख्यालसे एक-विवाहकी प्रथा आरंभ हुई। लेकिन, जैसा कि पहिले बतला चुके हैं, यह एक-विवाहका नियम सिर्फ़ स्त्री पर ही कड़ाईके साथ लागू किया गया था। दासता-युगमें एक-विवाहका बहुत-सी जातियोंमें प्रचार रहा, और यूरोपकी जातियोंमें तो वह बराबर

---

*आर्यभट्ट (४७६ ई०)ने हिसाबके उदाहरणमें दिया है—"एक सोलह वर्षकी दासी ३२ निष्कमें मिलती है, तो २० वर्षका दाम क्या होगा?"

माना जाता रहा; किन्तु यह नियम पुरुषोंको रखेली, वेश्या आदि रखनेमें कोई बाधा नहीं डालता था। दासता-युगमें तो दासियोंका सर्वस्व मालिकोंपर न्योछावर था; इसलिये विवाह न स्वीकार करनेपर भी उनके साथ यौन-संबंध खुला था। एशियाकी जातियोंमें कभी एक-विवाहको जबर्दस्त सामाजिक नियमके तौरपर माना गया हो, इसका पता नहीं। यहाँ इतिहासके आरम्भसे ही बहुपत्निता देखी जाती है। हिन्दुओं, ईरानियों या चीनियोंके पुराने ग्रंथों, पुरानी कहानियोंमें एकसे अधिक स्त्रीके साथ ब्याह निन्दनीय दुराचार है, इसका ख्याल ही नहीं मिलता। इस्लामने विवाहकी एक साथ चार संख्या नियत करके भारी संख्याको घटानेका प्रयत्न ज़रूर किया; किन्तु, दासियोंके साथके संबंधमें उसने कोई नियम बनाना तो दूर, उनकी सूचीको बिल्कुल खुला रखा। हिन्दुओंने विवाहिता और दासीकी संख्या नियत करनेकी कभी तकलीफ़ गवारा न की; बल्कि कृष्ण, दशरथ आदि सभी 'आदर्श' पुरुषोंके लिये सोलह हजार पटरानियोंकी बात कहकर उसने बहुपत्निताको धर्मानुमोदितकर उत्साह देनेकी कोशिश की। आदर्श राजाओंमें रामकी ही कथा आती हैं, जिसमें एकपत्निताकी प्रशंसा मिलती है। किन्तु, कौन जानता है, शुंग-काल (ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी)में रचित वाल्मीकि रामायणपर उस वक्त भारतके पश्चिम भागपर शासन करनेवाले यूनानियोंका कितना प्रभाव पड़ा। बहु-पत्निताका मतलब यह नहीं था कि सभी या बड़ी संख्या पुरुषोंकी बहुत-सी स्त्रियोंसे ब्याह करती थी। आखिर बहुब्याहमें सम्पत्ति कारण थी। सम्पत्तिशाली शोषकवर्ग के पास ही इस शौकके पूरा करनेके लिये साधन मौजूद थे।

परिवारका प्रधान, पितृसत्ताके स्थापन होनेके साथ ही, पुरुष होने लगा था, और अब तो उसका अधिकार सम्पत्तिका उत्पादक होनेके कारण और बढ़ता गया था। सम्पत्ति जितना ही पुरुषका अधिकार

बढ़ाती जा रही थी, स्त्री उतनी ही पुरुषके हाथकी जंगम सम्पत्ति-सी बनती जा रही थी। स्त्रीके प्रति प्रेम या आदर जो दिखलाया भी जाता था, वह इसलिये नहीं कि वह भी मनुष्य है; बल्कि इसलिये कि वह उसकी भोग-सामग्री है। उपनिषद्के शब्दोंमें "भार्याकी चाहके लिये भार्या प्रिय नहीं होती; बल्कि अपनी चाहके लिये भार्या प्रिय" ("न वै भार्यायाः कामाय भार्या प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय भार्या प्रिया भवति")। पुरुषकी प्रधानताके कारण परिवारमें लड़नेका मान बढ़ गया, लड़कीकी बेकद्री होने लगी, और वह आज तक हो रही है।—लड़केके पैदा होनेमें जहाँ गाना-बजाना या उत्सव मनाया जाता है, वहाँ लड़कीके पैदा होनेपर सारे परिवारमें मनहूसी छा जाती है; स्वयं माँ भी इस मनोभावसे बची नहीं रहती। दासता और सामन्तशाही युगमें कन्याके जन्मपर पिताका क्या मनोभाव होता था, वह बुद्ध (ई० पू० ५६३–४८३)के समसामयिक राजा प्रसेनजित्की कथा* से मालूम होता है। राजा उस वक्त बुद्धके पास बैठा हुआ था। "एक पुरुषने आकर राजा प्रसेनजित् कोसलके कानमें कहा—'देव! मल्लिका देवीने कन्या प्रसव किया।' राजा प्रसेनजित् कोसल खिन्न हुआ।" बुद्धने राजा प्रसेनजित्के खेदको हटानेकी कोशिश करते हुए कहा—

"... कोई-कोई स्त्री भी पुरुषसे श्रेष्ठ, मेधाविनी, शीलवती, ससुरका मान करनेवाली, पतिव्रता होती है। ..."

कन्याके उत्पन्न होनेपर प्रसेनजित् तो खिन्न ही होकर रह गया; किन्तु पीछे तो यह रोग इतना बढ़ा कि भारतीयोंमें—खासकर राजपूतोंमें—कितनी ही जगह कन्याके पैदा होते ही नमक चटाकर या नालको

---

*संयुत्तनिकाय ३।२।६ (मल्लिकासुत्त, देखो मेरी "बुद्धचर्या" पृष्ठ ३६३)।

की नववधूको सर्व-प्रथम अपने सामन्तको अर्पण करनेकी प्रथा अभी हाल तक रही है। १५०७ ई०के लिखे एक दस्तावेज़में* फ्रांसके एक कौंटको अपनी जमींदारीमें यह अधिकार था, इसका जिक्र आया है। ऐसे अधिकार और सामन्तोंको भी मध्ययुगीन यूरोपमें प्राप्त थे, और सामन्त होनेके नाते कितने ही ईसाई मठोंके महन्थ भी इससे लाभ उठाते थे।

यौन-संबंधकी इस स्वतंत्रतापर हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये। हमारे देशमें भी किसी समय इस तरहकी बातें पाई जाती थीं, यद्यपि उनके अधिक उदाहरणोंकी हमें आशा नहीं रखनी चाहिये; क्योंकि पीछेके हिन्दू इन बातोंको प्रकाशित करना पसंद नहीं करते थे। नदी पार होते-होते पराशरका सत्यवती (मल्लाह-पुत्री)के साथ समागम प्रसिद्ध है।† यद्यपि यहाँ ग्रन्थकारने पराशरकी दिव्य-शक्तिसे कुहरा पैदाकर लज्जा ढाँकनेकी कोशिश की है; किन्तु उत्तथ्य-पुत्र‡, दीर्घतमा—ऋग्वेदके कितने ही सूक्तोंके कर्त्ता तथा पीछे गोतम नामसे प्रसिद्ध गौतम-गोत्रियोंके प्रथम पूर्वज—ने लोगोंके सामने ही स्त्री-समागम किया।

खर्जूरस्य देशान्तरेषु मातृविवाहाभावेऽभाववत्।"—वादन्याय पृ० १६ (धर्मकीर्ति ६०० ई०)। "मातृविवाह···पारसीकदेश····" वादन्याय टीका पृ० १६ (शान्तरक्षित ७४०—८४० ई०)

*In a French title deed of 1507 we read that the Count d' Eu has the right of prelibation in the said place when anyone marries."—Letourneau.

†महाभारत, आदिपर्व (६३)

‡वहीं, आदिपर्व (१०)

उस पुराने युगमें ऋतुकालके अवसरपर स्त्री किसी पुरुषसे रति-की भिक्षा माँग सकती थी। शर्मिष्ठाने इसी तरह ययातिसे रति-भिक्षा माँगी थी।† यही नहीं, ऐसी भिक्षाका देना न स्वीकार करनेपर गर्भ-पातके समान पाप होता है, इसे भी वहीं‡ बतलाया गया है—शायद जन-संख्या बढ़ाना उस वक्त बहुत ज़रूरी समझा जाता था। उलूपीने भी अर्जुनसे रति-भिक्षा माँगते हुए कहा था कि स्त्रीकी प्रार्थनापर एक रातका समागम अधर्म नहीं§। गुरुभार्या-गमन और मातृ-गमन पिछले कालमें बराबरका महापाप समझा जाता रहा है; किन्तु उत्तंकने ऋतु-शान्तिके लिए अपनी गुरु-स्त्रीके साथ गमन किया और उसे बुरा नहीं समझा गया।* चन्द्रमाने अपने गुरु बृहस्पतिकी भार्या ताराके साथ रति की, जिससे बुध पुत्र हुआ, बाप बननेके लिए गुरु-शिष्यका झगड़ा-सा खड़ा हो गया; जिसका कि निबटारा ताराकी गवाहीसे हुआ। गौतमकी पत्नी अहल्याका इन्द्रके साथ संबंध प्रसिद्ध है; किन्तु गौतम-ने अपनी पत्नीको सदाके लिये त्याज्य (तलाकके योग्य) नहीं बनाया।

(ख) *विवाह-संस्था सनातन नहीं*—आज विवाह-प्रथा एक पवित्र धार्मिक संस्था मानी जाती है—भारतमें ही नहीं, भारतसे बाहर भी। किन्तु, भारतके पुराने ग्रन्थोंके देखनेसे मालूम होता है कि यह बात सदा नहीं थी। हमने आगे पंचशिख गंधर्वका देवकन्याके साथ अस्थायी विवाहका जिक्र किया है। पुराणोंके देखनेसे कितने ही उदाहरण ऐसे मिलते हैं, जिनमें अप्सरायें या देव-कन्यायें सदाके लिये किसीको पति नहीं बनाती देखी जातीं। महाभारत × से पता लगता

†वहीं, आदिपर्व (८२)　　‡वहीं, आदिपर्व (८३)

§वहीं, आदिपर्व (२१४)　　*वहीं, आदिपर्व (३)

×आदिपर्व (१२२)

है कि उत्तर-कुरुमें विवाह-प्रथा न थी। उत्तर-कुरु यद्यपि पिछले ग्रन्थों-में एक कल्पित देश-सा बन जाता है; किन्तु उसके माहात्म्य तथा भारतमें एक प्रदेशका वैसा नाम पड़ते देख जान पड़ता है कि भारत-में दाखिल होनेसे पहिले जहाँ आर्य रहते थे, उसका नाम उत्तर-कुरु था—जो सम्भवतः पामीरका *सप्तसिंधु* था, जहाँ कि आर्य लोग जन-अवस्थामें रहते थे। उत्तर-कुरुमें स्त्रियाँ स्वच्छन्द थीं; वहाँ विवाहका कोई बन्धन न था।† वहीं महाभारतमें यह भी जिक्र आता है कि पहले विवाह-संस्था न थी। एककी स्त्रीको दूसरा व्यक्ति प्रसंगके लिये ले जा सकता था। उद्दालक ऋषिकी स्त्रीको पतिके सामने ही दूसरा ऋषि ले जाने लगा था। उस समय उद्दालकके पुत्र श्वेतकेतुने इसका विरोध किया, जिसपर पिताने उसे धर्म-अनुकूल बतलाया। श्वेतकेतु-ने उसी समय इस प्रथाके उठानेकी प्रतिज्ञा की और महाभारतकी कथाके अनुसार श्वेतकेतुने ही स्थायी विवाहकी प्रथाको स्थापित किया। उद्दालक और श्वेतकेतु उपनिषद्के ऋषि हैं, और सातवीं सदी ईसा पूर्वमें रहे।* इस उदाहरणका हम सिर्फ़ यही अर्थ ले सकते कि तब तक विवाह-बन्धन शिथिल था।

(ग) *विवाह-बन्धन शिथिल*—महाभारत-कालमें विवाह-बन्धन कितना शिथिल था, इसके कितने ही उदाहरण तो कुमारी कन्याओंके प्रतिष्ठित पुत्र (कानीन) हैं। पाण्डवोंकी माँ कुन्ती जब कुमारी थी, तभी उनसे कर्ण पैदा हुआ था। कुमारी गंगासे शान्तनुने भीष्मको पैदा किया। पराशरने कुमारी सत्यवती (मल्लाह-पुत्री)से व्यास-को पैदा किया; पीछे यही सत्यवती शान्तनुकी रानी बनी।‡ कुन्तीकी सौत माद्रीकी जन्मभूमि मद्र देश—वर्त्तमान स्यालकोटके आस-पास-

---

†वहीं अनुशासनपर्व १०२ *देखो मेरा "दर्शनदिग्दर्शन"

‡महाभारत, आदिपर्व ६३ ; वनपर्व ३०६।

के जिले—के उन्मुक्त स्त्री-पुरुष-सम्बन्धकी कर्णने बड़ी कड़ी आलोचना की है।* गन्धार (मद्रसे पच्छिमका पड़ोसी प्रदेश)के राजा शल्य-ने कर्णका उपहास किया, जिसपर कर्णने मद्र-गंधारके उन स्त्रैण रीति-रवाजोंको कहकर ताना दिया, जो कि गंगाकी उपत्यकासे बहुत पहिले उठ चुके थे। उसके इस कथनसे मालूम होता है, कि मद्र देश-में पिता, पुत्र, माता, सास, ससुर, मामा, जमाई, बेटी, भाई, पाहुना, दास, दासीका यौन-सम्मिश्रण बहुत ज्यादा था। वहाँकी स्त्रियाँ स्वेच्छापूर्वक पुरुष-सहवास करतीं। अपरिचितके साथ भी प्रेमके गीत गातीं। गंधारियोंकी भाँति माद्रियाँ भी शराब पीतीं, नाचतीं। वहाँ वैवाहिक संबंध नियत न था, स्त्रियाँ मनमाना पति करतीं। मद्र कुमा-रियाँ निर्लज्ज और अनाचारी होती थीं।

एक स्त्रीके कई पतिका उदाहरण प्रातःस्मरणीय पंच कन्याओं-में एक द्रौपदी हमारे सामने मौजूद है।

बहन, बेटी, पोतीके साथके ब्याहके भी कितने ही उदाहरण हमें इन पुराने ग्रन्थोंमें मिलते हैं। इक्ष्वाकुके निर्वासित कुमारोंने अपनी बहिनोंसे ब्याहकर शाक्य-वंशकी नींव डाली,† इस तरहका ब्याह स्यामके राजवंशमें अब भी मौजूद है। दशरथ-जातक‡के अनुसार सीता रामकी बहिन और भार्या दोनों थीं। ब्रह्माकी अपनी पुत्री सरस्वतीपर आसक्ति पुराण-प्रसिद्ध है। ब्रह्माके पुत्र दक्षकी कन्याने अपने दादा (ब्रह्मा)से ब्याह किया था। बिना ब्याहके स्त्री-पुरुषके संबंधकी बातें बहुत देखी जाती हैं—

(१) हिडिंबासे भीमका संबंध बिल्कुल अस्थायी था, जिससे घटोत्कच उत्पन्न हुआ।‡

---

*अनुशासनपर्व १०२ †देखो मेरी "बुद्ध चर्या" ‡जातक।

‡आदिपर्व १५५

(२) मणिपुरकी राजकुमारी चित्रांगदासे अर्जुनका संबंध सिर्फ़ तीन वर्षके लिये था ।*

(३) गौतम ऋषि—जानपदी (अप्सरा)से कृप, कृपी (आदिपर्व १३०)
(४) भारद्वाज—घृताची (")से द्रोणाचार्य (" १२०)
(५) व्यास—घृताची (")से शुक (शान्तिपर्व ३२४)
(६) विश्वामित्र—मेनका (")से शकुन्तला
(७) पुरूरवा—उर्वशी (")से सात पुत्र (हरिवंश २५)
(८) अर्जुन—उर्वशी (") अर्जुनने प्रार्थना अस्वीकार की जिसपर उर्वशीने शाप दिया और अर्जुनको एक वर्ष तक नपुंसक रहना पड़ा (वनपर्व ४६) ।

इनके अतिरिक्त पांडवकाल तक एक और प्रथा थी नियोग या देवर-धर्मकी, जिसके अनुसार मृत या जीवित पतिके नामपर स्त्री दूसरे पुरुषसे वीर्यदान ले सन्तान उत्पन्न करती थीं । धृतराष्ट्र और पांडुको व्यासने इसी प्रकार उत्पन्न किया था । बलि राजाके सन्तान न थी, जिसपर उसने दीर्घतमा (गौतम) ऋषिसे अपनी स्त्री सुदेष्णाका नियोग कराया, जिससे अंग, वंग, कलिंग, सुह्म पुत्र उत्पन्न हुए ।† शारदंडायन राजाने रास्तेसे ब्राह्मणको बुलाकर अपनी पत्नीसे सन्तान पैदा कराई । सौदास राजाकी कोई सन्तान न थी, जिसपर उसने अपनी स्त्री मदयन्तीका वशिष्ठ ऋषिसे नियोगकर पुत्रोत्पादन कराया ।‡

देवर बहुत पुराना शब्द है, जो रूसी भाषामें भी (देवृ) पतिके छोटे भाईके लिये आता है । यास्कने अपने निरुक्त§में "देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते" (देवर क्यों ?—क्योंकि वह दूसरा पति है) कहा है, जिससे पतिकी अनुपस्थितिमें देवरका भाभीपर अधिकार साबित होता

---

*आदिपर्व २१५ †आदिपर्व १०४ ‡आदिपर्व १२२

§निरुक्त...

है। वाल्मीकि रामायणमें मारीच-वधके समय रामके पास जानेके लिये कहनेपर जब सीताने लक्ष्मणको जाते नहीं देखा; तो आक्षेप किया कि तुम रामके मरनेपर मुझे पाना चाहते हो, इसीलिये नहीं जा रहे हो। वहीं रामायणमें बालिकी स्त्री ताराका देवर सुग्रीव और रावणकी पत्नी मन्दोदरीका विभीषणकी पत्नी बनना—पहिलीका पतिके जीवित रहते ही—देखा जाता है।

पत्नी-दान—यूनानी इतिहासमें प्रिय मित्रके सत्कारमें पत्नीको अर्पण करनेके बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। सुक्रातने अल्किवियादिस्‌को अपनी स्त्री ज़न्तिप्*संभोगके लिये दी। वहाँ ऐसे और भी प्रमाण हैं। ऐसे उदाहरण हमारे पुराने ग्रन्थोंमें भी मिलते हैं और ये दान धर्मके लिये किये जाते थे—

(१) युवनाश्व राजाने अपनी प्रिय स्त्रीको दान दे स्वर्ग प्राप्त किया।†

(२) मित्रसहने अपनी स्त्री मदयन्ती वशिष्टको दे स्वर्ग प्राप्त किया।‡

(३) सुदर्शनने अतिथि-सेवार्थ अपनी भार्या दे अमर कीर्त्ति प्राप्त की।§

इससे मालूम होगा कि भारतमें उस प्रकारकी स्त्री-पुरुष सम्बन्धी कितनी ही प्रथायें मौजूद थीं, जिन्हें हम भिन्न सामाजिक अवस्थाओं वाले देशों और जातियोंमें पाते हैं।

२. हथियार और औजार

४००० ई० पू०में, जब कि मिश्रका सबसे पुराना पिरामिड बना, ताँबा मिश्रियोंको मालूम था। इससे हम यह तो साफ़ कह सकते हैं,

---

*Zantip †महाभारत, शान्तिपर्व २३४ ‡वहीं §महाभारत, अनुशासनपर्व २

कि दुनिया उस समय तक ताँबेको इस्तेमाल करने लगी थी; कमसे कम एक देशमें। किन्तु ताँबेके आविष्कारके समयको ठीक-ठीक बतलाना हमारे लिये संभव नहीं है। ज्यादासे ज्यादा हम यही कह सकते हैं, कि ईसा-पूर्व चौथी सहस्राब्दीमें वह मौजूद था। किन्तु साथ ही यह भी याद रखना चाहिये, कि दुनियाके सभी भागों और सभी जातियोंमें ताम्रयुग एक ही समय आरम्भ नहीं हुआ। अमेरिकाकी सभ्य जातियाँ इन्का, अजेतक और माया १६वीं सदी ईसवी तक ताम्र-और पित्तल-युगमें थीं। पिछली शताब्दी तक आदिम आस्ट्रेलियन धातुका प्रयोग नहीं जानते थे। उनके डेरोंके आसपास सोनेके डले पड़े रहते थे, किन्तु वह उनको छूते भी न थे। पीतलका आविष्कार १५०० ई० पू०में हुआ, किन्तु उसी वक्त सारी दुनिया उसका इस्तेमाल नहीं करने लगी। यह बात १४०० ई० पू०के आस-पास आविष्कृत लोहेके बारेमें भी जाननी चाहिये।

दासता-युगमें पीतल और लोहेका आविष्कार नहीं हुआ था, जहाँ तक कि सभ्यतामें आगे बढ़ी मिस्र, मेसोपोतामिया और सिन्धु-की जातियोंका संबंध है। इसलिये इस युगमें हथियारोंकी धातुमें कोई खास परिवर्त्तन नहीं मालूम होता; हाँ, धातुकी कारीगरी, तीक्ष्णता आदिमें परिवर्त्तन ज़रूर हुआ होगा।

३. सम्पत्ति

दासता-युग वस्तुतः पितृसत्ता और सामन्तवादी युगकी संधि है, पहिलेके बारेमें ऐतिहासिक सामग्रीका इतना अभाव है, कि उसे थोड़ी-सी कहावतों—खासकर यहूदियोंकी—तथा उसी स्थितिमें मौजूद कुछ आधुनिक पिछड़ी जातियोंके जीवनके सहारे चित्रित करनेकी कोशिश की गई है। किन्तु सामन्ती युगमें पहुँचते ही हम अंधकारसे प्रकाशमें—मध्याह्नमें नहीं अरुणोदयकालमें—आ जाते हैं। दासता-युगमें सम्पत्ति

के उत्पादन और उत्पादनके साधनपर एक वर्गके स्वामित्वके बारे-में कोई भारी परिवर्त्तन नहीं हुआ। पितृसत्ता-कालकी भाँति अब भी सम्पत्तिपर पुरुषका अधिकार और उत्तराधिकार जारी रहा। पशु-पालन, कृषि, शिल्प, विनिमय धनागमके रास्ते रहे। सम्पत्ति वैयक्तिक थी और स्वामी उसका दान या विक्रय कर सकता था।

४. शिल्प और व्यवसाय

वैसे खेतीके लिये भी अधिक हाथोंकी ज़रूरत थी, लेकिन शिल्प-को बढ़ाकर धन-अर्जन करनेका खास उद्देश्य था, जिसके लिये दास-प्रथाका प्रचार सबसे ज्यादा हुआ।

(क) हस्त-शिल्प

दासता-युगमें कृषि और शिल्प, नगर और देहातका विभाग हुआ यह हम कह आये हैं। सभी पुराने शिल्प पहले एक ही घरके लोग कर लिया करते थे, जैसा कि अब भी कितनी ही पिछड़ी जातियोंमें होता है; किन्तु अच्छी किस्मकी वस्तुओंकी ज्यादा माँग थी, इसलिये अंगूरसे शराब जो पहिले हर घरमें बनती थी, अब उसके लिये विशेषज्ञ-की ज़रूरत पड़ी। इन विशेषज्ञोंकी पूर्ति इस युगमें कुछ तो पराजित या क्रीत दासों या उनकी संकर सन्तानों द्वारा पूरी की जाने लगी और कुछ स्वयं स्वामिवर्गके लोग भी सीखकर करने लगे। यह बात भारत-में खासकर पाई जाती है, जहाँ सामन्तवादी युगमें शिल्पी जातियाँ आमतौरसे पराजित दासोंमेंसे ज्यादा बनीं। आर्य यदि शुरूमें कपड़ा सीने-बुनने तथा दूसरे पुरातन शिल्पोंको करते भी थे, तो पीछे उन्हें छोड़ बैठे।

पितृसत्ता-युगके अन्तमें जब पहिले-पहल दासप्रथाका प्रारम्भ हुआ, उसी समय स्वामी और दासके दो अलग वर्ग बने, जिसके साथ *पहिला श्रम-विभाग* हुआ—दास काम करनेके लिये शोषित किये जानेके लिये

था और स्वामी शासन तथा शोषण करनेके लिये। समाजमें और आर्थिक प्रगति हुई, शिल्प बढ़े; अब दासता-युगमें *दूसरा श्रम-विभाग* हुआ, जिसमें खेतीसे शिल्प अलग कर दिया गया—कुछ लोग सिर्फ़ शिल्पको ही अपना व्यवसाय बनानेपर मजबूर हुए, यद्यपि गाँवमें बसनेपर कभी-कभी वह थोड़ी-बहुत खेती भी कर लेते थे। भारतके बढ़ई, लुहार, कुम्हार, धोबी, हजाम आदि जातियाँ इसी श्रम-विभागसे अलग हुई थीं, जिन्होंने पीछे ब्याह-शादीको भी एक पेशेवालोंमें ही सीमित करके अपनेको एक अलग जातिमें परिणत कर दिया। *तीसरा महान्-श्रम विभाग*, उत्पादन-कर्त्ता और उपभोग-कर्त्ताके बीच एक तीसरे बनिया-वर्गका काम यद्यपि इसी समयसे शुरू हुआ था, किन्तु उसका अलग होकर एक खास पेशेवाले वर्गके रूपमें परिणत होना अगले सामन्तशाही युगमें हुआ। यद्यपि दासता-युगमें चीज़ोंको ख़रीदने और बेंचनेकी सारी जिम्मेवारी लेकर बैठा बनिया मौजूद न था, तो भी विनिमय जिस हद तक बढ़ चुका था, उससे शिल्पको बहुत प्रोत्साहन मिल रहा था।

(ख) वाणिज्य

जैसा कि हमने कहा, वाणिज्य अभी एक अलग वर्गका पेशा नहीं बना था, बल्कि हरएक शिल्पी स्वयं अपने सौदेको फेरी करके या हाट-मेलेके स्थानपर दूसरी आवश्यक चीजोंको कच्चे माल या मुद्राकी भाँति काम करनेवाली धातुओंसे बदलता था। इस वाणिज्यमें निर्जीव पदार्थ तथा विक्रेय पशु ही नहीं, बल्कि दास-दासी भी शामिल थे। चाहे मुद्रा न भी हो, तो भी वस्तुएँ सूदपर दी जाती थीं और सूद मुद्राकी जगह वस्तुकी दरपर निर्धारित होता था—अनाजको सवाये डेढ़ेपर छै महीनेके लिये देना अभी भी भारतके बहुत-से हिस्सोंमें प्रचलित है।

५. वर्ग और वर्ग-संघर्ष

दासता और शोषणके स्थापित हो जानेके साथ शोषक, शोषित-वर्ग स्थापित हो गये, यह बतला चुके, और यह भी कि पितृसत्ताके स्थापित होनेके बाद पुराना वर्गहीन समाज खतम हो गया और उसकी जगह वर्ग-युक्त समाज स्थापित हो गया। सामाजिक वर्ग क्या है?— "कितने ही ऐसे व्यक्तियोंका समुदाय, जो कि उत्पादनमें एक ही जैसा काम करते हैं, उत्पादन-क्रियामें दूसरे व्यक्तियोंके साथ एक तरहका संबंध रखते हैं। इन संबंधोंको वस्तु (मेहनतके उपकरण)के रूपमें भी व्यक्त किया जा सकता है।"

धनी-दरिद्र, दास-स्वामी, शासक-शासित ये वर्ग अलग-अलग थे, इनके स्वार्थ अलग-अलग थे, इसलिये इनमें संघर्ष होना ज़रूरी था, यद्यपि वह संघर्ष सदा उग्र रूप धारण किये नहीं होता था, क्योंकि वैयक्तिक सम्पत्तिने दरिद्रों, शासितों और शोषितोंमें भी तारतम्य पैदा-कर उन्हें अपने सम्मिलित शत्रुसे मुकाबिला करनेके योग्य नहीं रहने दिया था। और दासके प्रति तो दूसरोंकी सहानुभूति ही नहीं थी, क्योंकि वह पराई—अधिकांशतः शत्रु-जातिके आदमी होते थे। यद्यपि सभी शोषित, शासित, दरिद्र एक राय होकर विरोधी वर्गसे मुकाबिला नहीं करते थे, किन्तु जुल्मकी सीमा पारकर जानेपर वह अलग-अलग युद्ध ज़रूर छेड़ते थे, और राज्य-शक्तिकी ओरसे उन्हें इस अपराध-के लिये कड़े दंड भी दिये जाते थे।

वर्गोंकी सीमा उस समय सीधी नहीं, बहुत ही टेढ़ी-मेढ़ी थी, जिसके कारण सारी जनता सिर्फ़ शोषक और शोषित इन्हीं दो वर्गोंमें होकर नहीं लड़ सकती थी। इसलिये अपने श्रमसे यद्यपि शोषित वर्ग समाजको समृद्ध बनाता जा रहा था, किन्तु उसकी अपनी दशा अधिक बिगड़ती तथा संख्या अधिक बढ़ती ही जाती थी।

दासता-युग और सामन्तशाही-युगके दासों और स्वामियोंके बीच-के वर्ग-संघर्ष एक तरहके थे, जिसके बारेमें हम अगले प्रकरणमें कहेंगे।

६. राज्य-शासन

इस युगके राज्य-शासनके मुख्य कर्त्तव्योंमें था, दासोंको नियंत्रण-में रखना; क्योंकि वहाँ राजसत्ता दासोंके मालिकोंके हाथमें थी। दासों और स्वामियोंके अतिरिक्त 'स्वतंत्र' व्यक्तियोंकी संख्या भी काफी थी, जिनका प्रभाव भी कम नहीं होता; किन्तु वैयक्तिक सम्पत्तिने धनियोंकी शक्ति इतनी बढ़ा दी थी कि उनके यह 'छुटभैये' अमीरोंको अपने ऊपर वैसे ही मानने लगे थे, जैसे कि समाजमें उन्हें दासोंसे ऊपर माना जाता था। जिस तरह दासता-युग पितृसत्ताक युगका विकसित रूप था, उसी तरह दासता-युगकी सर्कार भी पितृसत्ताक सर्कारके ही ढाँचेपर आगे बढ़ी थी। अभी तक व्यक्तिका पूरी तौरपर एकाधिपत्य नहीं कायम हुआ था, और शासन उच्च वर्गके हितके लिये होते भी छुटभैयोंकी बिल्कुल उपेक्षा नहीं करता था, बल्कि प्रभु-वर्ग धार्मिक, सामाजिक सम्मेलनोंमें उनको सम्मानित करके उनके अभिमानको बढ़ा दासोंसे उन्हें अलग रखनेका प्रयत्न करता था।

७. धर्म

दासता-युगके धर्ममें सामन्त-युगसे कोई खास अन्तर नहीं पड़ा, इसलिये इसके बारेमें भी आगे कहेंगे। यहाँ यही समझ लेना चाहिये, "धारणाद् धर्ममित्याहुः" (धारण करनेसे उसे धर्म कहा!) यह बिल्कुल ठीक है। धर्म चलायमान, प्रगतिशील समाजको धर (पकड़)कर रखना चाहता है। दासता-युगमें उसकी कोशिश यही रही कि प्रभुताशाली वर्गके स्वार्थको चलायमान समाज कहीं रौंद न दे, स्वामियोंके 'अधिकार'पर दास कहीं लालच-भरी निगाह न दौड़ायें।

पंचम अध्याय

सभ्य-मानव-समाज (२)

ख. सामन्तवादी युग

जब समाज परस्पर विरोधी स्वार्थोंवाले वर्गोंमें विभक्त हो गया, और समाजके शासनकी बागडोर या राज्य धनिक वर्गके हाथमें चला गया, तो दीन-हीन दासों और निर्धनोंको काबूमें रखनेका प्रबंध तो हो गया; किंतु सभी धनी जमातोंका स्वार्थ भी एक-सा नहीं था। वे अलग-अलग भौगोलिक प्रदेशोंमें बँटे हुए थे, जिनमें विजय और पर-धन-अपहरणके लिए युद्ध बराबर चलता रहता था। लड़नेवाले गिरोह अब जन-युगकी छोटी-छोटी टुकड़ियाँ न थीं, बल्कि पड़ोसी शत्रुके सैन्यदलके अनुसार हरएक राज्यको अपनी लड़नेकी शक्ति बढ़ानी पड़ती थी। पहिले जहाँ हरएक सिपाही अपना सेनानायक था, अपने साधारण हथियारोंसे स्वयं अपने दाव-पेचको चला सकता था, वैसे ही जैसे एक सेलवाले प्राणीके शरीरको हर तरहकी हरकत-की सुविधा होती है। किन्तु अब जबकि सेनाकी संख्या सैकड़ों नहीं हजारों पहुँच गई, हथियार भी ज्यादा शक्तिशाली और ज्यादा महँगे इस्तेमाल होने लगे; ऐसी हालतमें सैनिकोंमें ज्यादा संगठन, हथियार इस्तेमाल करनेकी ज्यादा शिक्षा और सामूहिक हिम्मतकी आवश्यकता थी। ज्यादा समझदार, ज्यादा बहादुर, ज्यादा तजर्बेकार आदमी ही इस कामको कर सकता था। पितृ-सत्ताने ऐसे नेताओंकी शिक्षाकी पाठशालाका काम किया। पितरोंमेंसे जो इन गुणोंको प्रदर्शित करते

उनके लिये आगे बढ़नेका पूरा मौका था, क्योंकि 'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई' नये-नये युद्धोंका हरवक़्त अवसर दे रही थी। उस वक़्तकी इस मनोवृत्तिका उदाहरण बुद्धके सम-सामयिक एक राजा-की कहानीसे मालूम होता है। बुद्धके शिष्य राष्ट्र पालने कुरु (मेरठ कामिश्नरी)के राजा कौरव्यसे पूछा—*

"...तुम्हारा एक श्रद्धेय विश्वासपात्र पुरुष पूर्व दिशासे आकर कहे—'महाराज, मैं पूर्व दिशासे आया हूँ। वहाँ मैंने बहुत समृद्ध, बहुत जनोंवाला, मनुष्योंसे भरा देश देखा। वहाँ ढेरके ढेर हाथी, घोड़े, रथ, पैदल (सैनिक) हैं। वहाँ बहुत (हाथीके) दाँत और मृग-के (कीमती) चमड़े हैं। वहाँ बहुत-सा प्राकृतिक और बना हुआ सोना है। वहाँ स्त्रियाँ बहुत सुलभ हैं। वह (देश आपकी) इतनी सेनासे जीता जा सकता है। जीतिये महाराज! तो क्या करोगे?

"...उसे भी जीतकर मैं राज्य करूँगा।"

राज्य कौरव्यका यह वचन सामन्त-युगके न तृप्त होनेवाले लोभ-का एक अच्छा उदाहरण है। चाहे किसी देशके साथ दुश्मनी भी न हो, चाहे वहाँके लोगोंने कोई अनहित न भी किया हो, किन्तु यदि उसके पास धन है, सोना है, स्त्रियाँ हैं तो देशमें दुश्मनको बुलानेके लिये यह काफी था।

जन-युगमें भी लड़ाइयाँ होती थीं, किंतु वह प्रायः सारे ही समाज-के लाभके लिये, स्वरक्षा या बदला लेनेके लिये होती थीं। उनमें वैयक्तिक लोभकी गंध न होती थी। वह राजा कौरव्यकी भाँति सिर्फ़ पराये धन और स्त्रीके लालचसे नहीं होती थी। वैयक्तिक सम्पत्ति-ने पीढ़ियों तक जो स्वार्थका पाठ पढ़ाया, उसके कारण अब लोकनायक लोभान्ध हो गये थे। लोभकी पूर्ति जिससे हो, वही उनके

---

*रट्ठपाल-सुत्त (मज्झिमनिकाय २।४।२)

लिये न्याय था। इन युद्धोंमें विजय प्राप्त करनेवाले सेनानायकोंकी ख्याति ही नहीं बढ़ती थी; बल्कि अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति, अपने शासन-अधिकारको बढ़ानेका उन्हें बहुत मौका मिलता था। यही सेनानायक सामन्त अब शासन-सूत्रके कर्णधार बनते थे। यही आगे चलकर अपने जीवन भरके लिये या सन्तानके लिये भी शासन-दंडको हाथमें लेकर राजतंत्र कायम करनेमें सफल हुये। पुराने मिश्र, मेसोपोतामिया और सिन्धुकी सभ्यताओंमें पितृसत्ता, दासताके वक्तके नायकोंको हम राजतंत्र स्थापित करते देखते हैं। किन्तु, पीछेकी भारतीय, यूनानी, (और शायद ईरान) सभ्यताओंमें उसे कभी राजतंत्र और कभी प्रजातंत्रमें भी विकसित होते पाते हैं। भारतमें पंजाब और युक्तप्रान्त तथा बिहारके सीमान्तके प्रजातंत्रों (गणों)का हम जिक्र कर चुके हैं। यदि भारतमें पुरानी और लगातार आती रहनेवाली जातियोंके मिश्रणसे, वर्गभेदकी गुत्थी ज्यादा पेचीदा न हो गई होती, तो गणोंकी परंपरा इतनी विस्मृत न हो जाती, जितनी कि आज हम उसे देख रहे हैं।

सामन्तवाद यहाँ विस्तृत अर्थमें लिया गया है और इसमें पूँजीवादी युगके पहिलेके वे प्रजातंत्र और राजतंत्र दोनों शामिल हैं, जो कि धनिक शोषक-वर्गके हितके लिये देशकी राजनीतिक और सैनिक शक्तिको राज्यके नामसे इस्तेमाल करते थे।

इसी सामन्तशाही युगकी प्रशंसा करनेमें प्रतिगामी लेखक विशेषकर धर्मानुयायी लोग थकते नहीं। यही उनके लिये सतयुग और सुवर्ण-युग था। आज भी इसका स्मरण करके वे लम्बी साँस लेते हैं—"हाय वह हमारा सतयुग! हाय वह हमारा सुवर्ण-युग!!"

इस युगमें संस्कृतिका विकास हुआ और पिछले युगोंकी तुलना करनेपर विकासकी गति भी बहुत तीव्र रही। ऐसा क्यों न होता? जीवन अब सिर्फ़ अपनी आवश्यकताओंके जमा करनेमें ही खर्च नहीं

होता था। अब इन कामोंके करनेके लिये दासों और कमकरोंकी फौज मौजूद थी। सामन्त-युग होने बल्कि यह प्रथा चलाई, कि भद्र जनको अपने हाथसे काम करना अच्छा नहीं। जीवनकी आवश्यकताओंकी चिन्ता दूर होनेसे, अब कितने ही मनुष्य साहित्य, कला और दर्शनके विकासमें अपने समय और श्रमको लगा सकते थे। स्वयं भूखे या नारकीय यातनाओंको सह, जनताके अधिकांश भाग—लाखों दासों और कमकरों—द्वारा उत्पादित धनका उपभोग करते हुये ही श्रम-मुक्त व्यक्तियोंने साहित्य, कला और दर्शनका निर्माण किया, किन्तु उन्होंने अपनी कृतियोंमें प्रायः उन्हें भुलाया और सामन्तों, तथा प्रभुओंको प्रसन्न और अमर करनेकी ओर ही सबसे अधिक ध्यान दिया। मिश्रकी कलाका आरम्भ वहाँके शासकोंकी आत्मा और शरीरको अमर करनेके लिये हुआ। यही सामन्त जब कालान्तरमें देवता बन गये तो, उनके लिये धार्मिक कलाका विस्तृत निर्माण हुआ। सामन्तवादी कालकी सर्वोच्च कलाओंके नमूने वास्तविकताको दिखलाने तथा समाजको प्रगतिशील बनानेके लिये नहीं थे, उनका प्रयोजन था समाजकी समस्याओंको भुलवाने, समाजके भीतर वर्ग-स्वार्थके कारण होते सामाजिक अन्यायों और अत्याचारोंकी ओरसे आँख मुँदवाने, तथा वास्तविकतासे ध्यानको हटा काल्पनिक लोकमें विचरण करानेके लिये। यदि कोई कलाकार, कोई साहित्य-निर्माता, कोई दार्शनिक इससे उल्टा गया, तो वह अपवाद था, और ऐसोंकी कृतियाँ बहुत कुछ लुप्त और विस्मृत कर दी गईं। सच तो यह है कि सामन्त-युगकी कलाका नायक सामन्त और उसका वर्ग था, और उसके पीछे सामन्तशाही स्वार्थकी रक्षाका ख्याल कम करता रहा।

१. भिन्न-भिन्न देशोंमें सामन्तवाद

(१) *मिश्र*—मिश्रके इतिहासको देखनेसे पता लगता है, पहिले कबीलोंके *पितर* अपने अधिकारोंको बढ़ा शक्तिशाली *सामन्त* शासक

बन बैठे। इसके बाद धर्मके द्वारा लोगोंका ध्यान इस लोकसे हटा परलोककी ओर, स्वामियों और सामंतोंके शोषण और अन्यायसे हटा देवताओंके न्याय और वरदानोंकी ओर लगाया जाने लगा। इस काल (४००० ई० पू०)में थेवाके पुरोहित-राजाओंका प्रभाव बहुत बढ़ा। इसके बाद देशके भीतर और बाहरकी अवस्था, बढ़ती हुई जन संख्या और लोभने युद्ध और विजयकी ओर ध्यानको खींचा। थेबाके पुरोहित सेना-संचालन नहीं कर सकते थे, इसलिये उनकी प्रभुताको हटाकर सेना-संचालक प्रधान और राजा बन बैठे।

आरंभिक मिश्री समाजमें देव-मानुष, तथा बुद्धिके चमत्कारका मिश्रण पाया जाता है। समाजपर राजाका प्राधान्य था, जिसे देवताका अंश, देव-सन्तान माना जाता था। राजा और कुछ थोड़ेसे सर्दार सारी भूमिके स्वामी होते थे। अधिकांश जनता दास और कमिया* (कम्मी या कमीन) थी। दोनोंके बीचवाला मध्यम-वर्ग शक्ति और संख्या दोनोंमें नगण्य-सा था। इससे पहिले पुरोहितोंके शासनमें पुरोहितों और उनके सहायक शस्त्रधारी योद्धाओंका बोलबाला था। साधारण जनता—किसान, मल्लाह, लुहार-बढ़ई, बनिया और दास—की अवस्था बेहतर न थी। 'पीड़ित जनता अत्याचार सहते-सहते आजिज़ आ जाती है, तो विद्रोह कर बैठती है।' कभी-कभी कोई धार्मिक नेता या भविष्यवक्ता पीड़ितोंके पक्षमें हल्की-सी आवाज़ उठाता। कभी-कभी कोई धर्मात्मा कहलानेवाला राजा भी ऐसा पाया जाता है, जोकि पिता-पुत्रके भावोंको प्रजाके संबंधमें प्रकट करता है। हेन्कू मिश्रका एक ऐसा ही राजा था, जो २८५० ई० पू०के आसपास मौजूद था। वह भूखोंमें रोटी, नंगोंमें कपड़ा बाँटता था। कमियों (कमीनों)को उसने राज्यके अफ़सर बनाये। पुराना लेख कहता है, कि उसने दुर्बलको नहीं सताया, और अनाथोंको अपनेसे भय खाने नहीं दिया। ग्रामीण जनताका वह हितैषी था।

---

*Serf.

इतना होनेपर भी हेन्कूके समय वैयक्तिक सम्पत्तिको जैसे-तैसे बढ़ानेका लोभ कितना बढ़ा हुआ था, यह उसके इन शब्दोंसे मालूम होता है—"(उनके) हृदय निर्लज्ज हैं, हरएक अपने पड़ोसीकी चीज़को लूटना चाहता है···सत्कर्मी आदमी बँच नहीं रहे हैं, संसारमें वही अधिक हैं, जो बुराई करते हैं।"

इस युगमें मिश्रकी प्रायः सारी जनता गाँवोंमें बसती थी। व्यापार बहुत थोड़ा था। नीलकी बाढ़ और खेतोंके कर तथा बँटवारेके लिये मिश्रियोंको अंकगणित और रेखागणितकी ज़रूरत पड़ी और 'ज़रूरत आविष्कारकी माँ होती है'। जिस तरह दुनियाकी दूसरी सभ्य जातियाँ और कितनी ही बातोंके लिये मिश्री सभ्यताकी ऋणी हैं, उसी तरह अंकगणितके लिये भी उसकी आभारी हैं। मिश्रने ही पहले-पहल अक्षरों—चित्र-लिपि—का आविष्कार किया। देवताओं और धर्मके निर्माणमें भी वह पहले थे। पहली अवस्थामें मनुष्यके लिये माँ-बाप, तथा समाजकी संगतिसे, उनसे सुनकर उनकी क्रियाओंको देखकर शिक्षा प्राप्त करना पर्याप्त था। किन्तु, जब ज्ञान-भंडार ज्यादा बढ़ा और वह सभी एक व्यक्तिके बसकी बात न रही, तो सुन-सुनाकर शिक्षा प्राप्त करके विकसित होते समाजकी ज़रूरतें पूरी न हो सकती थीं। इसलिये शिक्षाका बाक़ायदा प्रबन्ध करना पड़ा और चलने, खाने, पकड़नेके लिये जो संकेत उन अंगोंके हिलानेसे हो सकते थे, उन्हें लेकर चित्र-कलाके विकाससे फ़ायदा उठा, अपने भावको प्रकट करनेके लिये चित्र-लिपिका आविष्कार किया गया। चीनी-लिपि भी चित्र-लिपिसे ही प्रारम्भ हुई थी, किन्तु आगे उसके रूपमें इतना परिवर्त्तन होता गया कि चीनकी वर्त्तमान लिपिमें—जो अब भी वर्ण-लिपि या ध्वनि-अनुकरणकी लिपि न होकर संकेत लिपि ही बनी हुई है—उन चित्रोंको पहचानना मुश्किल है। मिश्रमें शिक्षाका जो प्रबन्ध था, उससे शासक और पुरोहित वर्ग ही फ़ायदा उठा सकता था। मुमकिन है

चित्र-लिपिके होनेसे, आरम्भमें काफ़ी लोग उसे समझ लेते हों, किन्तु समय बीतनेके साथ प्रकट किये जानेवाले भावोंकी संख्या बढ़ी, जिसके कारण लिपि और जटिल होती गई; और जिसके ही कारण उसका समझना सर्वसाधारणके लिये सुगम न रह गया। मिश्री पुरोहित भी अपने आजकलके सवर्गियोंकी भाँति अपनी शिक्षा या ज्ञानको लोगोंमें प्रकाशके लिये नहीं, बल्कि अक्सर अन्धकार, अज्ञान और मिथ्या-विश्वास फैलानेके लिये इस्तेमाल करते थे; जिसमें कि समाजपर उनका पूरा क़ाबू रहे, उनके हलवे-माँड़ेमें कोई टोटा न पड़े।

प्राचीन मिश्री सामन्तवादी समाज भौतिक सुखको ठोस और वास्तविक सुख मानता था, इसलिये यद्यपि पुरोहित-वर्ग अपने दिमाग़की उड़ानसे लोगोंको हैरान करने तथा संसारके अन्यायोंको नजरसे ओझल करनेके लिये भविष्य-जीवनका सब्ज-बाग़ दिखलाता था, तो भी फ़ैसला अभी एकतरफ़ा नहीं होता था। शायद एकतरफ़ा फ़ैसले—सिर्फ़ परलोकके लिये जीने, परलोक हीके लिये मरने—की बातको सुननेके लिये अभी समाज तैयार भी न था। मिश्री धर्ममें आमोद-प्रमोदका प्रबन्ध होता था, नशा और शराब ख़ूब पी जाती थी, संगीत और नृत्यकी ओर बहुत शौक़ था। समय बितानेके लिये गोटी या मुहरेसे खेले जाने-वाले कुछ साधारण खेल भी लोग ख़ूब खेलते थे। नीलकी उपत्यकामें अतिवृष्टि और अनावृष्टिका बहुत कम डर था। जनसंख्याको भरण-पोषणके लिये खेती, पशु-पालन काफ़ी था। दलितों और शोषितोंको दबा रखनेके लिये सिपाहियोंकी ज़रूरत थी, किन्तु ऊपरका वर्ग धीरे-धीरे सुखका इतना आदी हो गया था, कि वह सैनिकोंके मार-काटवाले जीवनको पसन्द न करता था। जिसके लिये शासकोंने भाड़ेपर—वैतनिक—सैनिक नौकर रखे थे और वह पीछे इतने शक्तिशाली हो गये कि उन्होंने थेबावाले पुरोहितोंके शासनका अन्त कर दिया।

मिश्री समाजमें वर्ग-संस्थाकी आपसमें जो टक्कर थी, उसका समय-

समयपर विस्फोट होना स्वाभाविक था। डेलब्रुइक*ने एक पुराने मिश्री लेखको उद्धृत किया है, जिससे मालूम होता है कि एक बार दासोंने तंग आकर बग़ावत कर दी और उन्होंने शासन-यन्त्रपर अधिकार कर लिया। उसके बाद तीन सदियों तक शासक-वर्ग अपने "दैवी-अधिकार"से वंचित रहा। जनताकी ओरसे इस तरहके प्रयत्न अतीतकालमें जब-जब हुए, तब-तब उन्हें सत्ताधारियों और पुरोहितवर्गने धर्म-विरोधी, ईश्वराज्ञा-विरोधी, नीच कर्म कहकर बदनाम किया और तलवारके बल-पर दबाया। तारीफ़ यह कि समाजमें परिवर्त्तन चाहनेवाले भी अकसर धर्म-ईश्वरके नामपर ही वैसा करना चाहते थे। लोदी और सूर शासनकाल (पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी)में जौनपुरके मेंहदीने उस समयकी शाहंशाहत और सामन्तशाहीके ख़िलाफ़ एक तरहके साम्यवादका प्रचार करना शुरू किया। दबे-कुचले हुए वर्गमें उसका असर बढ़ने लगा। जब शाही फ़ौजके हज़ारों सिपाही भी मेंहदीके असरमें आ गये, तो बादशाहको घबराहट हुई। जिसे वह एक छोटा-सा मज़हबी फ़िर्क़ा समझ रहा था, उसमें उसे खतरेकी बू आने लगी। उसने मेंहदीको बुलवाया। चालीस क़दम दूरसे ही ज़मीनपर दुहरा झुककर सिज्दा या कोरनिश बजानेकी जगह मेंहदी सीधा बादशाहके पास चला गया और हाथ मिलाने (मुसाफ़ा)के लिये उसने शाहके हाथमें अपना हाथ दे दिया। मेंहदी आख़िर मनुष्य-मनुष्यको बराबर समझता था और उन्हें आर्थिक तौरसे भी बराबर करना चाहता था। मज़हबवालोंके ही हथियारको इस्तेमाल करते हुये उसने घोषणा की थी, कि मैं अन्तिम पैग़म्बर मेंहदी हूँ; खुदाकी तरफ़से भेजा गया हूँ कि झूठको हटाकर दुनियामें सच—समानता—का राज्य क़ायम करूँ। बादशाहने मेंहदीके ख़िलाफ़ कुफ़्रका फ़तवा लेनेकी बड़ी कोशिश की, किन्तु मेंहदीकी धार्मिक मोर्चाबन्दी तथा शाही-दर्बारमें मुल्लोंके साथ जिस

---

*Delbruck.

तरह टुकड़ेखोर जैसा बर्त्ताव होता था, उससे कुफ्रका फतवा तो नहीं मिल सका ; किन्तु शोषक-शासक वर्ग एक हद तक ही दिखावेकी कोशिश करता है, जब पर्दा करनेका मौका नहीं रहता, तो उसे नंगा होते भी देर नहीं लगती। मेंहदी और उसके अनुयायियोंको किस तरह निर्दयतासे कत्ल किया गया, इसपर यहाँ अधिक लिखनेकी ज़रूरत नहीं! शायद मेंहदीके कुछ अनुयायी (मेंहदियाई) अब भी भारतमें हैं, किन्तु इस तरहके दूसरे प्रयत्नों तथा कुर्बानियोंको जैसे दूसरी जगह इस्तेमाल किया गया, उसी तरह वे भी मेंहदीकी करामातोंको दिखलाकर फिर्का चलानेमें इस्तेमाल करते हैं।

मिश्री समाजमें उस वक्त आन्तरिक विरोध थे, जिन्हें पाँच किस्मों-में बाँटा जा सकता है—(१) उच्च-वर्गका कर्त्तव्य क्या है और उसे कैसे पूरा करना चाहिये, इसे बतलाकर जनताको अधीर होनेसे रोका जाता था, (२) समाजके भीतरी असन्तोष और विद्रोहकी गूँज मिश्री लेखोंमें स्पष्ट देखी जाती है। (३) शासकों, अधिकारियोंके लिये नियमोंकी पाबन्दीपर जोर उनकी लूट-खसूटको जाहिर करती है। (४) आदर्श राजा और शासकके लिये की गई भविष्यद्वाणियाँ तत्कालीन शासकोंकी निन्दा और सतर्क करनेके लिये की जाती थीं। (५) समाजको परिवर्त्तनसे बचानेके लिये जो धर्म-आचार बनाये और प्रचार किये जाते थे, उनका मतलब था वर्ग-स्वार्थको अक्षुण्ण रखना तथा बढ़ते हुए वर्ग-विद्वेषकी रोक-थाम करना।

(२) *भारत*—हिन्दू भारतके सामन्त-कालपर भी यदि हम नजर डालें, तो यही बातें वहाँ भी पाई जावेंगी। यहाँ भी मनु और दूसरे धर्म-शास्त्र-कारोंने राजा-प्रजाके कर्त्तव्यपर खूब कलम दौड़ाई है, और ग़ौरसे देखने-पर वहाँ राजा और शासक वर्गके अधिकारोंको पूरा करनेके लिये अपने श्रम और जीवनका सबसे बड़ा भाग देना जहाँ साधारण जनताका कर्त्तव्य था, वहाँ उनके अधिकारोंकी तालिकामें परजन्म और परलोकमें पाई जानेवाली चीजें ही ज्यादा हैं। समाजकी असमानताको लीपा-

पोती और आकर्षक व्याख्यासे ढाँकनेकी कोशिश की गई है। समाजको शरीर और भिन्न-भिन्न वर्गोंको उसका अंग बतलाकर इस वर्ग-विद्वेषको नरम करनेकी कोशिशमें ही वेदोंका पुरुषसूक्त लिखा गया—"ब्राह्मण (पुरोहित) इस (समाज-शरीर)का मुख है, राजन्य (शासक-या सामन्त-वर्ग) भुजायें हैं ; व्यापारी उसकी जाघें हैं, और शूद्र उसके पैर।" गीता* जैसे पीछेके ग्रंथोंने 'स्वधर्ममें मरना ठीक' कहकर इसी ढाँचेको मज़बूत करना चाहा।

आर्यों और अनार्योंमें, कौन शासक हो इसका फैसला पंजाबमें ही कर डाला था। गंगा-तट तक पहुँचते-पहुँचते आर्य-भिन्न जातियाँ लड़ाईको फजूल समझ हथियार रख चुकी थीं, और विजेताओंके स्वार्थ और आदेशके अनुसार जीवन बितानेके लिये मजबूर हुई थीं। गंगा-उपत्यकाके समृद्ध जीवनसे साधारण जनताको उतना लाभ नहीं था ; उससे सबसे अधिक लाभ सांसारिक शासकों (क्षत्रियों) और दैविक शासकों (ब्राह्मणों)को था। दैविक शासक या पुरोहित (ब्राह्मण) वर्ग तो बल्कि गंगाकी उर्वर भूमिकी उपज थी। यहाँ आर्योंके दो भागों—ब्राह्मण-क्षत्रियों—का विभाग हुआ और यहीं ब्रह्म और क्षत्र शक्तियोंके विरोधी स्वार्थोंमें स्थायी सुलह करानेका प्रयत्न (और तीन साढ़े तीन हजार वर्षोंके लिये) सफल हुआ। भारतीय पुरोहित (ब्राह्मण) वर्ग भोग-शून्य जीवन बिताता था, यह बिल्कुल ग़लत बात है। वेद, उपनिषद् और बुद्धके कालोंमेंसे किसीके साहित्यको उठाकर देखिये, कहीं वशिष्ठ और विश्वामित्रको राज-सेवाओंके उपलक्ष्यमें भारी-भारी दक्षिणायें या परिवार-सहित सुखमय जीवन बिताते देखेंगे, कहीं याज्ञवल्क्यको जनककी हजार-हजार सुनहली रुपहली खुरोंवाली गायोंको दक्षिणामें हँकवा ले जाते, तथा अपनी सम्पत्तिको अपनी दोनों स्त्रियोंमें बाँटनेका खयाल जाहिर करते देखेंगे। बुद्धके वक्तके

*'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

ब्राह्मण कितने "भोग-शून्य" जीवन बिता रहे थे, इसके लिये त्रिपिटकमें आये आप * चंकि, सोणदंड, कुटदन्तकी धन-सम्पत्तिको पढ़कर देखें। ब्राह्मणोंके तत्कालीन और पुराने स्वार्थके बारेमें बुद्धने एक जगह कहा है†—

"राजाकी सम्पत्ति—अलंकृत स्त्रियों, उत्तम घोड़े-जुते सुन्दर चित्र-विचित्र सूईके कामवाले रथों, अनेक खंड-कोठोंवाले मकानोंको देखकर उन (ब्राह्मणों)के मुँहमें पानी भर आया। ब्राह्मणोंको लोभ हुआ कि उनके पास भी गायोंका झुंड हो, सुन्दर स्त्रियोंका समूह और मानुष-भोग हों। वेद-मंत्र रचकर इक्ष्वाकु राजाके पास गये—'तू बहुत धन-धान्यवाला है, तेरे पास बहुत वित्त है, यज्ञ कर।'····राजाने····अश्वमेध, पुरुषमेध ‡, वाजपेय, निरर्गल (सर्वमेध)मेंसे एक-एक यज्ञ करके ब्राह्मणोंको धन दिया, उत्तम घोड़े जुते सुन्दर····रथों, अनेक खंड और कोठेवाले मकानोंको नाना धन-धान्यसे भरकर दान किया····। ब्राह्मणों-की तृष्णा और बढ़ी। वह मंत्र रचकर फिर इक्ष्वाकुके पास गये—'जैसे पानी, पृथिवी, हिरण्य, धन, धान्य हैं, ऐसे ही गायें मनुष्यके लिये हैं, उपभोग वस्तु हैं····यज्ञ कर।' तब ब्राह्मणोंसे प्रेरित होकर राजाने अनेक सौ हजार गायें यज्ञमें मारीं।"

दूसरे देशोंमें भी शासक-वर्गने पुरोहित-वर्गसे समझौताकर अपने भोगोंका कुछ भाग उन्हें दान-दक्षिणाके तौरपर दिया, और यह वस्तुतः शोषणको निर्विरोध तथा धर्मानुमोदित तौरपर जारी रखनेके लिये रिश्वतसे बढ़कर कोई चीज़ न थी; लेकिन भारतका समझौता बहुत गहरा था। यहाँ पुरोहितोंको भोग-सम्पत्ति ही उदारतापूर्वक नहीं

---

*देखो मेरी "बुद्धचर्या" पृष्ठ २२२,२३२,२४१ ब्राह्मण-धम्मियसुत्त (सुत्त-निपात २।७) † देखो "बुद्धचर्या" पृष्ठ ३६५

‡मनुष्यकी बलिवाला यज्ञ

दी गई ; बल्कि समाजमें राजा तथा शासक-सैनिक (क्षत्रिय), वर्गने अपनेको ब्राह्मणोंसे नीचे रख उन्हें भारी सन्मान दिया।

बाबुल—बाबुलके शासकोंमें सबसे पुराना, जिसका नाम मालूम हो सका है, वह हम्मू रबी (२१२४-२०८३ ई० पू०) या 'बड़ा चाचा' है। हम्मू रबीका धर्मशास्त्र शायद दुनियाका सबसे पुराना धर्मशास्त्र है। इसकी एक प्रति १९०२ ई०में सूसा (ईरान)की खुदाईमें मिली। जिस पत्थरके चारों ओर ३६०० पंक्तियोंमें लेख खुदा हुआ है, वह आठ फीट ऊँचा है। पत्थरका घेरा नीचे सात फीट है, किन्तु ऊपर इससे कुछ कम। यह लेख आजकल लूव्रे (पेरिस)के संग्रहालयमें रखा हुआ है। लेखका कुछ भाग घिस गया है किन्तु, उसका कुछ हिस्सा निनेवेकी प्रतिलिपिमें मिला है।

हम्मू रबी जानता था, कि दलित शोषित वर्गकी सहिष्णुता भी एक सीमा रखती है, और शोषक-वर्गका हित इसीमें है, कि वह उस सीमाका उल्लंघन न करे। बाबुलके शोषक, शोषित दोनों क़रीब-क़रीब एक ही जाति, धर्म और रंगके थे, इसलिये इन सवालोंको उठाकर वर्ग-विद्वेषके असली कारणको छिपाना आसान न था। इसीलिये हम्मू रबीने व्यवस्था दी*—"यदि किसी आदमीने एक उच्चवर्गीय व्यक्तिकी आँख फोड़ी है, तो उसकी भी आँख निकलवानी होगी।"

लेकिन न्याय सबके लिये एक न था। "यदि एक आदमीने एक ग़रीब आदमीकी आँख फोड़ी हो, तो उसे चाँदीका एक मीना दंड देना होगा।" "यदि एक राजगीरने एक आदमीके लिये मकान बनाया, लेकिन उसे मजबूत नहीं बनाया, और उसके गिर जानेसे घरके मालिककी मौत हो गई, तो राजगीरको मृत्यु-दंड होना चाहिये।" लेकिन यदि

**The Code of Hammurabi*. Section 196 (F.R. Harder Chicago University Press 1904)

घरके गिरनेसे एक दास मरा है, तो राजगीर मालिकको एक दास लाकर दे। यदि घरके गिरनेसे बेटा मरा हो, तो राजगीरके एक बेटेको प्राण-दंड होगा।

हम्मू रबीके विधानमें वर्गहितका बहुत ध्यान रखा गया है। दास-दासी उस वक्त जंगम सम्पत्ति थे; इसीलिये विधानने भागे हुए दासको शरण देनेके लिये भारी दंडकी व्यवस्था की थी। हम्मू रबी-के सामने सम्पत्ति पहिले और मानवता पीछे आता थी।

(४) *चीन*—(क) कन्फूशस् (५५१-४७८ ई० पू०) चीनी सामन्तवादका सबसे जबर्दस्त पोषक था, इसीलिये चीन, कोरिया, जापान तीनों मुल्कोंके शासक-वर्गने उसकी शिक्षाओंको आज तक बहुत ऊँचा स्थान दे रखा है। कन्फूशस् समाजमें व्यवस्थाका जबर्दस्त हिमायती था; और उसकी व्यवस्था ऐसी है, जिसमें प्रगतिके लिये गुंजाइश नहीं। कन्फूशस्के समयके चीनमें शासक (अमीर), शिक्षित और किसान तीन वर्ग थे, जिनमें आजकी अपेक्षा भी किसानों-की संखया सबसे अधिक थी। कन्फूशस्ने किसानोंको अज्ञानमें रख उन्हें स्वार्थी और लोभी मालिकोंका अन्धानुसरण करनेके लिये अपनी शिक्षासे प्रोत्साहित किया। पूर्वजोंकी पूजापर कन्फूशस्की शिक्षा बहुत जोर देती है, जिसका मतलब यह है, कि आदमी भविष्यकी ओरसे आँख मूँदकर भूतका मुँह देखता रहे।

(ख) मो-ती (५७५ ५२५ ई० पू०) कन्फूशस्का समकालीन चीनी विचारक था। उसने समाजके पारस्परिक विरोधको साफ़ देखा और उसके लिये हल भी पेश किया; किन्तु वह सामन्तवादी वर्ग-स्वार्थके खिलाफ़ था, इसलिये मो-तीकी शिक्षाको देशमें ही भुला देनेकी कोशिश की गई; फिर बाहरी दुनिया तक उसके पहुँचनेकी तो बात ही दूर ठहरी। मो-ती समाजके आन्तरिक विरोधको कन्फूशस्की तरह स्वाभाविक मान-कर लीपापोती करना नहीं चाहता था और न लाउ-त्ज़् (६०० ई० पू०)

की भाँति सामन्तवादसे पीछे लौटकर फिर प्राकृतिक मानवके जीवनमें जानेकी शिक्षा देता था। उसने मानव-समाजके दुःखों और उसके आन्तरिक विरोधोंके कारणको जानना चाहा। वह युद्ध, लोभ और दुराचारका विरोधी था, जो कि उस समयके सामन्तवादी समाजमें आजके सामन्तवादी चीनसे कम न थे। सामाजिक व्यवस्थाओंके बारे-में मो-तीका कहना था, कि वह मनुष्यकी आवश्यकताओंको लिये हैं; वह कन्फूशंसकी भाँति हर व्यवस्थाको पूजाकी चीज़ नहीं मानता था।

(५) *यूनान*—सामन्तवादी युगमें लिपि, भाषा, साहित्य, कला सबका विकास हुआ; किन्तु उनसे उस वक्तके समाजकी अधिकांश जनताकी वास्तविक अवस्थापर सीधे तौरसे बहुत कम प्रकाश पड़ता है। शासक-वर्ग सर्वशक्तिमान् था, और वह नहीं चाहता था कि उसके अन्यायका नग्न-चित्र खींचा जाये। लेकिन अप्रत्यक्ष रूपसे हम उस वक्तकी अवस्थाके बारेमें काफी जान सकते हैं। इस विषय-में खासकर उनकी कृतियाँ हमारे लिये ज्यादा सहायक होती हैं, जिन्होंने शासक-समाजके स्वार्थको, देश-काल दोनोंमें दूर तक सोचकर, क्रान्ति और विद्रोहसे बचानेके लिये सुधार करनेकी कोशिश की।

सभी हिन्दी-यूरोपीय जातियोंकी भाँति यूनानी कबीले और जनोंकी स्वतन्त्रताके बहुत पक्षपाती थे। इसलिये पितृसत्ताकी अवस्थासे आगे बढ़नेपर उन्होंने पंजाब और विहारके गणतंत्रोंकी भाँति, अपने-अपने प्रदेशमें एक-एक कबीलेके प्रजातंत्र कायम किये; *हेल्ला* (यूनानी जाति)के लिये कुछ जनतंत्रता ज़रूर थी। कृषि और व्यापार-के कारण यूनानी प्रजातंत्री नगर बहुत समृद्ध थे, किन्तु समृद्धिसे मतलब सारे समाजकी समृद्धि न था। धनी-गरीब, दास-स्वामीका भेद वहाँ जबर्दस्त था, और वस्तुतः व्यक्तियोंकी समृद्धि उन्हीं दासों और दरिद्रों-के श्रमकी उपज थी। इस दरिद्रता, इस असमानतासे हेल्लोंमें जो असन्तोष बढ़ रहा था, उसके दूर करनेके लिये लाईकर्गस् (९०० ई० पू०)

ने सलाह दी, कि सभी बच्चे एक-समान राज्यके अधिकारमें होने चाहिये। उनकी शिक्षा-दीक्षाका भार व्यक्तिपर नहीं राज्यपर होना चाहिये। दार्शनिक अनाक्सिमन्दर*, कवि थेवजनिस्ने भी लाईकर्गस्के इन विचारोंका पिछली शताब्दियोंमें समर्थन किया, किन्तु जहाँ वैयक्तिक सम्पत्तिने समाजके ढाँचेको अपनी मुट्ठीमें कर लिया हो, वहाँ बच्चों-की शिक्षा-दीक्षा और पर्वरिशमें साम्यवाद चल कैसे सकता था?

(क) **सोलोन**—सोलोनके समय (५६० ई० पू०) तक समाज-के आन्तरिक विरोध इतने बढ़ गये थे, कि उसे स्वतन्त्र-चेता हेल्लोंसे सामाजिक विद्रोहका भय होने लगा। हरिश्चन्द्रकी कथामें हम सुनते हैं, कि कर्ज देनेवालेके हाथ वह स्वयं बिक गये थे। सोलोनके समयमें भी जो अपने ऋणको न दे सकता, उसे महाजन ऋणमें अपना दास बना सकता था। सोलोनने इस प्रथाका अन्त किया। वैयक्तिक सम्पत्ति-की वृद्धिके साथ दरिद्रोंकी संख्या बढ़ती जा रही थी और लोगोंके खेत महाजनोंके हाथ बिकते जा रहे थे। सोलोनने देखा, यदि यह अवस्था जारी रही और दीन-निराश्रितोंकी संख्या इतनी ही तेज़ीसे बढ़ती गई, तो 'मरता क्या न करता''की कहावत ज़रूर चरितार्थ होगी। सोलोन-ने कानून बनाया, कि एक व्यक्तिके पास इतनेसे अधिक भूमि नहीं हो सकती। सोलोनने ढाई हजार वर्ष पहले जो विधान बनाया था, वह यद्यपि सुधारके लिये—क्रान्तिके रोकनेके वास्ते—था, तो भी आज-के कितने ही तथाकथित जनतन्त्र-वादी देशोंके शासकोंके लिये वह खासा क्रान्तिकारी क़ानून जान पड़ेगा। इससे यह भी सिद्ध होता है, कि ढाई हजार वर्षके अथेन्समें राज्य-शक्तिने जनतापर इतना काबू नहीं कर पाया था, जितना कि आजके इंगलैंड, युक्तराष्ट्र जैसे देशोंकी पूँजीवादी सर्कारोंने कर पाया है।

---

*Anaximander; Theognis.

(ख) **सुक्रात** (४६९-३९९ ई० पू०)-सोलोनके सुधारोंका कुछ असर जनतापर ज़रूर पड़ा होगा, किन्तु वह स्थायी नहीं हो सका. क्योंकि वैयक्तिक सम्पत्ति सारी कठिनाइयोंकी जड़ थी। लेकिन वह (वैयक्तिक संपत्ति) उस वक्तके सामाजिक उत्पादनके बढ़ानेके लिये—समाजको अगली अवस्था तक ले जानेके लिये—ज़रूरी थी। सोलोन्के सुधार सामाजिक व्याधिको जड़मूलसे दूर करनेके लिये तो थे नहीं, इसलिये वह रोग फिर जोर पकड़ते जा रहे थे। सुक्रातके विचार दर्शनमें ही नहीं सामाजिक व्यवस्थाके संबंधमें भी कुछ इतने आगे बढ़े हुए थे, कि शासकवर्ग उसे सह नहीं सकता था। उसको सुक्रातके विचारोंमें सामाजिक क्रान्तिकी गंध मालूम होती थी, जो यदि उसके शिष्य अफलातूँके लेखोंके आसपास ही थे, तो वस्तुतः उतनी दूर नहीं जाते थे ; तो भी शासक-वर्ग उसके विचारोंसे कितना भयभीत था, यह तो उसे विष देकर मारनेसे ही मालूम हो जाता है। सुक्रातपर दोष लगाया गया था, कि वह तरुणोंको बिगाड़ता है, और देवताओं (धर्म)के विरुद्ध प्रचार करता है। आज भी सामाजिक विषमताको हटाकर, सुखी-समृद्ध समाज बनानेके लिये जो लोग कुछ कहते-लिखते हैं, उनके साथ शासक-वर्गका बर्ताव सभी जगह अथेन्सके शासकों-से बेहतर नहीं होता—खासकर फासिस्ट शासकोंने तो इस विषयमें नर-भक्षक समाजकी क्रूरताको भी मात कर दिया है।

(ग) **अफलातूँ (४२७-३४७ ई० पू०)का उटोपिया प्रजातंत्र**—अफलातूँपर अपने गुरु सुक्रातकी दार्शनिक शिक्षाका ही नहीं, उसके सुसामाजिक विचारों तथा शासक-वर्गके सुक्रातके प्रति किये गये व्यवहार-का भी भारी असर हुआ था। सुक्रातने स्वयं कोई पुस्तक नहीं छोड़ी। उसके विचार दूसरोंके ग्रंथों—खासकर अफलातूँके ग्रंथों—से लिये गये हैं। अफलातूँने देखा कि अथेन्सका शासन भीतरसे सड़ा और अन्यायपूर्ण है ; साथ ही उसने यह भी देखा कि अथेन्सके शासक

जनताके वोटसे चुने जाते हैं। उसने शासक-वर्गके साथ ही जनसत्ताक प्रणालीको भी निन्दनीय ठहराया। अफलातूँको पृथिवीके प्रजातंत्र और उसके शासनसे कोई आशा न थी, इसके लिये धरतीपर पैर रखे हुए किसी न्याय-शासनकी योजनाके बनानेकी जगह उसने अपने दर्शनकी ही भाँति आकाशमें उड़ना चाहा। अफलातूँके दर्शनमें दो दुनियाएँ थीं—एक क्षण-क्षण परिवर्त्तन-शील भौतिक दुनिया, दूसरी नित्य एकरस दुनिया, जो कि भौतिक दुनियाके परे है। ऐसी दुनिया सिर्फ़ ख्यालकी ही दुनिया हो सकती है, और इसीलिये अफलातूँने उसे विज्ञानमय दुनिया कहा भी।

अलफ़ातूँने सामाजिक आदर्श रखते वक्त भी अपनी उसी ख्याली नित्य दुनियाकी ओर ध्यान रखा, इसीलिये समाजकी बुराइयोंके कारण, और समाजके भीतर उसकी दवा ढूँढ़नेकी जगह उसने उन्हें ख्यालमें ढूँढ़ना शुरू किया। उसने लौकिक समाजको हटाकर एक आदर्श समाज क़ायम करनेकी योजना पेश की। उसके आदर्श-समाजमें तीन वर्ग थे, शासक या सच्चे संरक्षक, योद्धा या शासन-सहायक और शिल्पी—कृषि और हस्त-शिल्पके कर्मी। अफ़लातूँने तीनों वर्गोंको ब्राह्मणोंके पुरुषसूक्तकी भाँति शरीरके अंगके तौरपर पेश किया और बतलाया कि हरएक वर्गको अपने-अपने कर्त्तव्यपर क़ायम रहना चाहिये। (१) साधारण जनता—शिल्पी वर्ग—को अपनी खेती और पेशेके कामसे काम रखना चाहिये। उसे बहुत पढ़ने-लिखने-की ज़रूरत नहीं और न वोट तथा शासन-यन्त्रसे कोई वास्ता। (२) योद्धाओंका कर्त्तव्य है, देशमें शान्ति और व्यवस्था क़ायम रखना, तथा विदेशी आक्रमणोंका मुक़ाबिला करना। जन-संख्या बढ़नेपर और भूमिकी आवश्यकता होगी, इसके लिये आक्रमणात्मक और रक्षात्मक दोनों तरहके युद्ध आवश्यक हैं। योद्धा जिसमें अपने कर्त्तव्यको अच्छी तरह पूरा कर सकें, इसके लिये उनको अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिये।

किन्तु, शिक्षा वैसी हो जो उनके हाथोंको हथियार उठानेमें चतुर और मज़बूत बनाये; उनके दिलको निर्भय और कितनी ही हद तक निर्दय बनाये। योद्धाको न शिल्पसे कोई सरोकार होना चाहिये और न शासनसे ही। अफ़लातूँकी व्यवस्थाके अनुसार यह वर्ग समय-समयपर बदलते नहीं, बल्कि स्थिर होने चाहिये। तीसरे वर्गमें ऐसे ख़ास व्यक्ति होंगे, जो अपने जन्म और शिक्षाके कारण ऐसी योग्यता रखे कि वह सभीके सच्चे संरक्षक और शासक हो सकें। वे कला और दर्शनके प्रेमी हों। स्वार्थी, शराबी, विलासी होना उनके लिये अयुक्त है। अहम्मन्यताका जीवन उनके लिये निषिद्ध है। अफ़लातूँके मतके अनुसार यह संरक्षक-वर्ग ऐसा होना चाहिये, जो कि अपने देशकी भलाईके लिये सदा तत्पर हो। राज्यके सुहितके विरुद्ध जो भी बात हो, वह उनके लिये घृणाकी चीज़ हो।

जिन्हें संरक्षक बनना है, उनकी शिक्षाके लिये अफ़लातूँने एक ख़ास योजना बनाई है। पहले उन्हें साधारण शिक्षा मिलनी चाहिये। बीस सालकी उम्रमें, उन्हें एक साधारण शिक्षाकी परीक्षा पास करनी होगी, जिसके बाद उन्हें विशेष शिक्षामें लगना होगा। विशेष शिक्षामें उनको और विषयोंके अतिरिक्त अंकगणित, रेखागणित और ज्योतिष-शास्त्र भी पढ़ने होंगे। १० वर्ष बाद ३० वर्षकी उम्रमें फिर एक परीक्षा देनी होगी; जिसमें उत्तीर्ण होनेपर उन्हें पाँच साल तक पढ़ना होगा दर्शन—और दर्शनसे मतलब अफ़लातूँका अपने दर्शनका ख़ास तौरसे होगा; जिसमें कि भौतिक जगत्‌को हेय कह उससे परे ख़याली (विज्ञानमय) जगत्‌को ही सबसे अधिक प्रधानता दी गई है।

पैंतीस सालकी उम्रमें सार्वजनिक जीवनमें दाखिल हो उन्हें साधारण अधिकारीका दर्जा मिलेगा। वहाँ वह अपनी सैद्धान्तिक शिक्षाके संबन्धमें तजर्बे हासिल करेंगे, और तरह-तरहके प्रलोभनोंकी कसौटीपर ठीक उतरनेका अभ्यास करेंगे।

फिर नागरिक-अधिकारी होनेकी कई परीक्षायें उन्हें लगातार कई सालों तक देनी होंगी। अन्तमें तीन तरहकी अन्तिम परीक्षायें होंगी। पहिली परीक्षा तर्क-संबंधी—उन्हें युक्तियोंसे सिद्ध करना होगा कि समाजकी सेवा व्यक्ति—खासकर संरक्षक—के लिये सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है। दूसरी परीक्षा निर्भयताके संबंधमें देनी होगी। यह इसलिये ज़रूरी है कि बिना पक्षपातके अपने सिद्धान्तोंको मजबूतीसे पकड़े जो अपने कर्त्तव्यको पालन करते हैं, उन्हें शक्तिशाली धनिक, उच्च वर्गके हितों और अभिलाषाओंसे सख्त मुकाबिला करना पड़ता है। तीसरी परीक्षा शारीरिक सुखको लेकर होगी—शारीरिक सुखोंकी पर्वाह न कर कहाँ तक वह अपने कर्त्तव्य-पथपर डँटे रहेंगे।

संरक्षकके पदपर पहुँच जानेके बाद भी "प्रभुता पाइ काह मद नाहीं"के अनुसार आदमी प्रलोभनका शिकार हो सकता है। इसके लिये अफलातूँने विधान किया कि कुछ मामूली चीज़ोंके अतिरिक्त संरक्षकोंके पास कोई वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं होनी चाहिये। उनके पास वैयक्तिक घर नहीं होने चाहिये। सभी संरक्षकोंको एक जगह रहना और खाना खाना होगा। उनको वेतनमें एक निश्चित रकम मिलेगी, जो उससे ज्यादा नहीं, जितनी कि उन्हें अपने आवश्यक व्ययके लिये ज़रूरी है। उन्हें न सोना-चाँदी छूना होगा न सोने-चाँदीके आभूषण पहनने होंगे। * उनको शिक्षा देनी होगी कि वह स्वयं दिव्य सोने-चाँदीके बने हैं, इसलिये उन्हें इन तुच्छ संसारी चाँदी-सोनेके ठीकरोंकी ज़रूरत नहीं। अफलातूँने संरक्षकोंके लिये कांचनको ही वर्जित नहीं

---

*संरक्षकोंके आर्थिक साम्यवादकी बहुत-सी बातें बुद्धके भिक्षु-नियमोंसे मिलती हैं। बुद्धने भिक्षुओंको 'सोना-चाँदी छूनेका निषेध' किया था, और हर तरहके व्यापार और रुपये पैसेके व्यवहारको वर्जित ठहराया था (देखो मेरा "विनयपिटक" पृष्ठ १६, ५०)

किया, बल्कि यह भी नियम किया कि संरक्षकोंके बच्चे और बीबियाँ भी वैयक्तिक न होंगी—अर्थात् उनके लिये वह यूथ-विवाह चलाना चाहता था। अपने शारीरिक सुख और भोगके लिये, अपने बच्चों, बीबियों, संबंधियोंके लिये, धन अर्जन करते हुए अफलातूँके समयके प्रजातांत्रिक शासक जिस प्रकार रिश्वत, अन्याय और बेईमानी करते थे, उससे बचानेके लिये ही अफलातूँने यह नियम बनाया था।

अफलातूँके सामने सबसे बड़ा सवाल यह था, कि शासकोंके चुनने, और कितनी ही हद तक हटानेका अधिकार रखनेवाले अथेन्स जैसे प्रजातंत्रके नागरिक अपनेको उस अधिकारसे वंचितकर निम्न-वर्गोंमें ख़ुशीसे जानेके लिये कैसे तैयार होंगे? अफलातूँका उत्तर था—इसके लिये उन्हें शिक्षा देनी होगी और जन सम्मतिको अपने पक्षमें लाना होगा। उन्हें बतलाना होगा कि सारे नागरिक उसी धरती-माताकी सन्तान हैं, इससे वह समझेंगे कि जन्मना सभी लोग साधारण से प्राणी हैं। फिर बतलाना होगा कि धरती माताने भिन्न-भिन्न वर्गके व्यक्तियोंको बनानेमें भिन्न-भिन्न धातुओं—उपादानों—को इस्तेमाल किया है। जिन व्यक्तियोंके बनानेमें धरती माताने सोना मिश्रित करके मिट्टीको इस्तेमाल किया है, उनमें शासन करनेकी शक्ति होती है, और इसीलिये वह शासक बनते हैं। जिनके उपादानमें चाँदी मिलाई गई है, वह सहायक या योद्धा बनते हैं; लेकिन साधारण जनताके बनानेमें धरती माताने सिर्फ़ लोहा और पीतल मिलाया है, इसलिये वह शिल्पी भर हो सकते हैं। साधारण जनता क्यों इस कहानीपर विश्वास कर निम्नतम-वर्गमें जानेके लिये तैयार होगी? इस प्रश्नके उत्तरमें अफलातूँका कहना था—बचपनमें ही सोना, चाँदी, पीतल-लोहेकी कहानी सुनाओ, वह उसपर विश्वास करेंगे। अफलातूँने अपने समयके लोगोंको धर्म और देवताओंके संबंधकी बहुत-सी कहानियोंपर विश्वास करते देखा था। वह समझता था कि यह विश्वास कहानियोंके बचपन

से सुनते रहनेका ही परिणाम है—(भारतमें भी हम पंडितों और आधुनिक विज्ञानसे परिचितोंको भी धर्मके नामपर गढ़ी गई कहानियोंपर विश्वास करते तथा उनकी दार्शनिकताको साबित करते देखते हैं)। प्रोपेगेंडा आजके ही युगकी विशेषता नहीं है, दार्शनिक अफलातूँ भी इसकी झूठको सच करनेकी ताकतको जानता था और यह जानकारी उसे अपने समयके अथेन्सके रवैयेको देखकर हुई थी।

और कामोंके साथ संरक्षकोंका यह भी काम था, कि बच्चोंका उनके धातुके अनुसार वर्गीकरण करें। अफलातूँका मत था कि पीतल-लोहा वाले माँ-बापकी सन्तानोंमें प्रतिभाशाली बच्चोंके होनेकी सम्भावना है और सोनेवाले माँ-बापकी सन्तान प्रायः पीतल-लोहा-वाली होंगी। हिन्दुओंके चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, और शूद्र —से अफलातूँकी इस वर्ग-व्यवस्थामें कुछ समानता थी, तो भी अफलातूँकी व्यवस्था अधिक उदार थी; क्योंकि अफलातूँकी वर्ग-व्यवस्था जन्मना न थी, इसलिये सन्तानोंके लिये ऊपर नीचेके वर्गमें जानेका रास्ता था, यदि उनमें वैसी स्वयंजात प्रतिभा हो। अफलातूँके संरक्षक ब्राह्मणकी जगह थे, योद्धा क्षत्रिय और शिल्पी वैश्य। दासोंकी हालतमें परिवर्त्तन करनेकी उसने कोई आवश्यकता नहीं समझी, इस लिये वह उसकी वर्ग-व्यवस्थासे बाहर सबसे निचले श्रेणीके मानव थे। बुद्धिबल-हीन बच्चोंको अफलातूँ फजूलका भार समझता था और मानता था कि योग्य व्यक्तियोंकी शक्ति और समयको इन भार जैसे व्यक्तियोंके भरण-पोषणमें लगाना, राष्ट्रकी बड़ी हानि है। वह चाहता था, कि बिना लोगोंका ध्यान आकर्षित किये ऐसे बच्चोंसे पिंड छुड़ा लिया जाय।

अफलातूँने अत्यन्त दरिद्रता और अत्यन्त धनाढ्यता दोनोंको बुरा बतलाया। उसका कहना था कि दरिद्रता आदमीको नीचता और बुराई सिखलाती है और धनाढ्यता विलासिता और व्यसनमें डालती है।

उसने अपने समयके धनिक वर्गके बारेमें लिखा है—"जब राज्य-को सम्पत्तिके आधारपर स्थापित किया जाता है, तो अधिकार धनियों-के हाथमें चला जाता है और दरिद्र उससे वंचित हो जाते हैं। रोजमर्रा-के जीवनमें धनी-गरीबोंकी उसी तरह पर्वाह नहीं करते, जिस तरह सुकर्म करने की ; लेकिन जब संकटका समय आता है, उस वक्त वह ग़रीबोंसे नहीं घृणा करते । जब युद्ध आता है, तो धूपसे जले उजड्ड गरीबको धनोकी पाँतिमें खड़ा होने दिया जाता है, और इस प्रकार वहाँ जनसत्ताकता दिखलाई जाती है। लेकिन युद्धमें गरीब आदमी धनोकी अपेक्षा अच्छी तरह और देर तक लड़ सकता है, क्योंकि धनो-ने कभी अपने चमड़ेको धूपमें जलने नहीं दिया, और चर्बीको खूब बटोर-बटोरकर शरीरपर जमाया है।" अफलातूँने यह भी कहा—"कितने ही आदमी इसीलिये धनी हो गये हैं, क्योंकि किसीको हिम्मत नहीं कि उनसे धनको छीन ले।" दरिद्रताके कारण हैं—(१) उचित शिक्षाका अभाव, (२) बुरी शिक्षा या संगति और (३) अन्यायपूर्ण-सामाजिक नियम और अन्यायपूर्ण राज्य-विधान। उसने अपने आदर्श राज्यमें हरएक व्यक्तिके लिये सम्पत्तिका एक कम-से-कम परिमाण नियत किया। व्यक्ति चाहे तो उसे चौगुना तक बढ़ा सके, किन्तु उससे आगेकी सम्पत्तिको सौ सैकड़ा कर लगाकर ले लेना चाहिये । दाय-भागके बारेमें उसकी राय थी कि माँ-बापको अपने बच्चोंके लिये सम्पत्ति नहीं, सम्मान छोड़ना चाहिये।

अफलातूँ जन-सत्ताक शासनके ख़िलाफ़ था, क्योंकि अथेन्सके उसी जनसत्ताक-राज्यमें उसने अपने गुरुको मारे जाते देखा था। यद्यपि वह समझता था कि वैयक्तिक सम्पत्ति शासकोंको लोभी और न्याय-भ्रष्ट करनेमें भारी कारण है, किन्तु साथ ही उसको साधारण जनता-की शासन-योग्यतापर विश्वास न था। वह समाजको व्यक्तियोंका योग भर मानता था, और नहीं समझता था कि व्यक्तिका अकेला

व्यवहार. और समाजके बीच उसके एक अंगके रूपमें किया व्यवहार एक-सा नहीं होता—अर्थात् व्यक्तियोंके अलग-अलग निर्णयसे उनके सामाजिक निर्णयमें अन्तर हो सकता है। इसीलिये जनसत्ताक-शासन-की जगह वह पितृसत्ताक-शासन स्थापित करना चाहता था—पितृसत्ताक कालसे गुजरे यूनानियोंको हजार वर्षसे ऊपर हो गये थे, किन्तु मालूम होता है, उसकी कुछ स्मृतियाँ उस कालमें मौजूद थीं।

(६) *मध्यकालीन यूरोप*-मध्यकालीन यूरोपमें ईसाई पुरोहितोंका बोलबाला था। अब उनकी वह मनोवृत्ति न थी, जो ईसाकी मृत्युके बाद ही रोममें पहुँच गरीबों और उत्पीड़ितोंकी सहानुभूतिके रूपमें शुरू-शुरूमें देखी जाती थी। तेरहवीं सदी ईसवीमें सारे यूरोपमें सामन्त-वादका पृष्ठपोषक बन ईसाई-धर्म एक बहुत जबर्दस्त शक्ति बन चुका था। धार्मिक क्षेत्रमें गरीबोंकी पूछ न थी, वहाँ चारों ओर धनिकोंका प्रभाव था। रोमके पतनके समय ईसाइयत धनको धिक्कारती थी और ग़रीबीको हटानेकी चीज़ बतलाती थी; किन्तु, आखिर दरिद्रता भी भगवान्‌की देन थी, शायद उसमें भी उसने कोई भलाई सोच रखी हो। ग़रीबोंको भीख देना, सो भी पुण्यके लिये, अब इतना ही भर इस ओर उसका प्रयत्न रह गया था।

इस समयकी सामन्तवादी व्यवस्थामें समाजका ढाँचा प्रधानतया खेतीपर आधारित था। समाजके तीन भाग थे—सामन्त या अमीर, पादरी और किसान। सामन्त शासक और सेनानायक थे और भूमिके स्वामी भी अधिकतर यही थे। पुरोहित या तो सामन्तोंकी प्रजा थे, अथवा मठकी भूमिके स्वामी (महंथ)के तौरपर स्वयं भी सामन्त थे। किसान सबसे निचला वर्ग था. जिसका काम था किसी तरह चमड़े-हड्डीको इकट्ठा रख, मर-मरके मेहनत कर सामन्तों और पादरियोंको पोसना, उनकी सेवा करना। किसान अमीरोंको घृणाकी निगाहसे देखते थे, किन्तु वह अधिकतर दिल मसोसने ही भरके लिये। शक्तिशाली मनुष्य और देवता

दोनोंके सम्मिलित बलके विरुद्ध अपनी आवाज उठानेकी उनको हिम्मत न होती थी। किसान सामन्तोंके अर्ध-दास थे। उनकी इज्जत-जान-माल सभी सामन्तोंकी खुशीपर बचे रह सकते थे। किसानोंके अतिरिक्त एक छोटी-सी तादाद बनियों और कारीगरोंकी थी, जिन्होंने अपने व्यवसाय-संबंधी भीतरी और बाहरी झगड़ोंके निबटारेके लिये अपनी पंचायतें कायम कर रखी थीं। सामन्तोंके अत्याचारसे बचनेके लिये यह वर्ग एक जगह छोड़ दूसरी जगह जा सकता था; क्योंकि उसके श्रमकी हर जगह माँग थी और वह खेतोंके साथ बँधे नहीं थे।

एक तरफ़ भव्य प्रासाद, ऊँचे गिर्जों और मठोंके भीतर रहनेवाले धनी सामन्त और समृद्ध महन्थ थे, दूसरी ओर कामके बोझसे पिसे जाते गरीब। यह असमानताएँ और तकलीफें ऐसी न थीं, कि सोचने वालोंका ध्यान अपनी ओर न आकर्षित करतीं; खासकर सदा परोपकार और दयाकी बात करनेवाले ईसाई साधुओंमें सभी इस ग़रीबीसे आँख बचाकर निकल जानेकी कोशिश नहीं कर सकते थे। सन्त फ्रान्सिस असीसी (११८२-१२२६ ई०) जैसे कुछ साधुओंने मठके अपेक्षाकृत निश्चित और सुखी जीवनको छोड़ गरीबों जैसी जिन्दगी का व्रत लिया। यद्यपि ऐसोंकी संख्या अंगुलियोंपर गिनने लायक थी, किन्तु इससे ईसाई-धर्मको एक फायदा हुआ—साधारण लोग विलासी महन्थोंको देखकर, जो धर्मके प्रति उदासीन होते जा रहे थे, उनकी आस्था फिर उसपर जमने लगी।

ग्यारहवीं सदीसे आगेकी कितनी ही सदियाँ ईसाइयों और मुसलमानोंके धार्मिक युद्धोंका समय था। इसके लिये ईसाइयोंने अपने पवित्र तीर्थको मुसलमानोंसे छीननेके लिये यूरोपसे कितनी ही मुहिमें येरोशिलम भेजीं। इन सबेली युद्धोंके कारण ईसाइयोंका दूसरे देशोंसे संबंध हुआ। उधर मुसलमानोंने भी बगदादके खलीफ़ा तथा स्पेन-विजय-के बाद वहाँके विश्वविद्यालयोंमें प्राचीन यूनानी दर्शनोंका अनुवाद

तथा अध्ययन शुरू किया जिससे स्वतंत्र चिन्तनकी प्रवृत्ति बढ़ी। ईसाई दार्शनिक तामस् अक्विना (१२२५-१२७४ ई०) इसी कालमें हुआ था। उसने यूनानी दार्शनिकों—खासकर अरस्तूके दर्शन—को अपनाकर ईसाइयोंमें एक नई चिन्तनधारा पैदा की ; किन्तु इसका मुख्य प्रयोजन यूनानियोंकी स्वतंत्र प्रतिभाका प्रचार करना नहीं था, बल्कि यूनानी दर्शनकी बारीकियोंकी ईसाइयतकी सेवामें लगा लोगोंकी श्रद्धाको बढ़ाना। शासकों और शासितोंके पारस्परिक विद्वेषकी ओरसे वह आँख नहीं मूँद सकता था, इसीलिये अक्विनाको इस संबंधमें भी कुछ कहना ज़रूरी था। अरस्तूकी भाँति अक्विनाका भी कहना था, "मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक पशु है; और उसे भगवान्ने समाजमें ही रहनेके लिये बनाया है, या कमसे कम बिना समाजके मनुष्य सुखी जीवन नहीं बिता सकता। समाज सर्कारके बिना असम्भव है, इसलिये सर्कार (या शासन-यन्त्र)का होना ज़रूरी है। सिर्फ़ अपने आरामकी ज़िन्दगी बिताना और धनको बढ़ानेकी फ़िक्रमें रहना लोभी और इन्द्रिय-परायण आदमीको ही अच्छा मालूम होता है।"

पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदीमें इंगलैंडकी ग़रीबीका जो चित्र मोरने अपनी *उटोपिया (आदर्शवादी स्वप्न)**में दिया है, वह बड़ा ही हृदयद्रावक है। लेकिन उस समयके भारतसे यदि उसकी तुलना की जाती, तो भारत उससे कितनी ही बातोंमें आगे बढ़ा ही मिलता। उस वक़्त इंगलैंडकी अधिकांश जनता किसान थी, जिनमें बेकारी आम थी। दंड सख्त और भयंकर थे। चोरीके लिये भी मृत्यु-दंड दिया जाता था (यह बुद्धकालीन भारतमें भी पाया जाता था ; यद्यपि मुसलमानी शासनमें वह हाथ काटनेके रूपमें बदला जा चुका था)। उस वक़्तके इंगलैंडमें

*Utopia.

यदि कोई एक रोटी चुराते पकड़ा जाता, तो उसे मृत्यु-दंड मिलता। ऐसे चोरके लिये रोटी चुराते वक्त सामने आये मालिकको भी मार देना ज्यादा फ़ायदेकी चीज़ थी, क्योंकि ऐसी हालतमें एक ख़तरनाक गवाह-का ख़ात्मा तो हो जाता।

२. विकास-क्रम

भिन्न-भिन्न युगोंमें सामन्तवादी समाजके स्वरूपपर हमने ऊपर कुछ प्रकाश डाला है। उससे पता लगेगा कि सामन्तवादी समाजमें ग़रीबों और अमीरों, शोषित और शोषक वर्गोंकी अवस्थामें भारी अन्तर आ गया था। श्रमिक ग़रीब जनताके श्रमसे यद्यपि इतना धन पैदा हो रहा था, जितना कि पहले कभी न हो सका था, किन्तु उनकी हालत और बुरी होती जा रही थी। और शायद बर्दाश्तसे बाहर हो जाती, यदि शोषक वर्गने शासन-यंत्रको (जो कि उनके अपने हितके लिये एक ज़बर्दस्त साधन था) और मज़बूत न किया होता; धर्मने ईश्वर और परलोकका भय दिखलाकर ग़रीबोंकी हिम्मतको कमज़ोर न कर दिया होता, साथ ही श्रमिक वर्गको भी अनेक हिस्सोंमें बाँट न दिया गया होता।

सामन्त पितृसत्ताक-समाजके शासक पितरोंके विकसित रूप थे और पितृसत्तासे ही राजतंत्र तथा प्रजातंत्र दोनों प्रकारके शासनोंका विकास हुआ, यह हम कह चुके हैं। वैयक्तिक सम्पत्ति रखनेवाले प्रजातंत्रोंके नेता धनी खान्दानके थे। उनकी नींव जन-कालमें पड़ चुकी थी और दासता-कालमें उन्हें और शक्तिशाली बननेका मौक़ा मिला। यही सामन्त थे, जो अगले युगके सर्वेसर्वा बने। प्रजातंत्रोंमें ऐसे ख़ान्दानोंका पता अथेन्स, वैशाली, कपिलवस्तु सभी जगह लगता है। राजतंत्रका राजा, सभी सामन्तोंके ऊपर ज़रूर है, किन्तु साथ ही वह ख़ुद भी सबसे बड़ा सामन्त है। जापानका मिकादो अपने मुल्कका सबसे बड़ा

ज़मींदार है। इंग्लैंडके राजाकी ज़मींदारीमें इलाक़ेके इलाक़े हैं और पूँजीवादके विकाससे फ़ायदा उठाते हुए बादशाहोंने बड़ी-बड़ी कम्पनियों और कारख़ानोंमें शेयर भी ख़रीद रखे हैं। आजके इन सामन्तावशेषोंके देखनेसे हमें मालूम होता है, कि वह अपने यहाँके दूसरे सामन्त ख़ान्दानों या ज़मींदारोंसे, जहाँ तक वैयक्तिक सम्पत्तिका संबंध है, कोई अन्तर नहीं रखते। जापान और इंग्लैंडमें पार्लमेंट हैं, किन्तु जहाँ वहाँके साधारण सभाके सदस्य चुनावसे आते हैं, वहाँ ऊपरी सभा (लार्ड भवन)के सदस्य जन्मजात हैं, और ख़ान्दानी हैसियतसे शासनमें भाग लेते हैं। यह अवस्था इन मुल्कोंकी अब है, जब कि वहाँ पूँजीवादका मध्याह्न है।

सामन्तवादी प्रजातंत्र और राजतंत्रमें अन्तर इतना ही था, कि जहाँ प्रजातन्त्रके सामन्तोंको शासक बननेके लिये धन और ख़ान्दानके अतिरिक्त जनताकी सम्मति—जो बहुत कुछ उक्त दोनों बातोंसे मिल सकती थी—की भी ज़रूरत पड़ती थी और सामन्त-वर्गमें समानताका बर्त्ताव रखना पड़ता था; वहाँ राजतन्त्रमें एक सामन्त ख़ान्दानको सर्वोपरि मान लिया जाता था और उसके लिये वोट आदिका झगड़ा न था। चूँकि राजा स्वयं सामन्त था, इसलिये सामन्त-वर्गके अधिकारोंको कोई ख़तरा न था और आवश्यकता पड़नेपर सभी सामन्तोंकी सम्मिलित शक्ति उसकी पीठपर थी।

३. सम्पत्ति

वैयक्तिक सम्पत्तिकी पवित्रताका ख्याल इस युगमें सर्वोच्च शिखरपर पहुँच गया था। यद्यपि वह पितृसत्ता और दासता-युगमें आरम्भ हुई थी, किन्तु उस वक्त न वह उतनी प्राचीन हो पाई थी और न उसे धर्म और भगवान्का आशीर्वाद मिला था। वैयक्तिक सम्पत्तिको इस पवित्र अधिकारका यह ख्याल ही था जिसके कारण कि चोरीको सबसे

भारी (प्राण-दंड तक देने लायक़) अपराध समझा गया था ; किन्तु जब तक चोरीकी जननी ग़रीबी मौजूद है, तब तक वह बन्द कैसे हो सकती थी ? इस बातको सामन्तवादी कालके विचारक भी अच्छी तरह समझते थे। बुद्धने इसके बारेमें अपने खयालको एक धर्मात्मा राजाकी कथामें इस प्रकार कहा है*—

"...राजाने...धार्मिक बातोंकी रक्षा (धर्मानुसार चलने)का प्रबन्ध तो कर दिया, किन्तु निर्धनोंको धन नहीं दिया। उससे दरिद्रता और बढ़ गई....जिससे एक मनुष्य दूसरेकी चीज़ चुराने लगा। चोरको पकड़कर लोग राजाके पास ले गये। राजा उस पुरुषसे बोला—'क्या सचमुच तुमने दूसरोंकी चीज़ चुराई है ?"

'हाँ, देव !'

'किस कारण से ?'

'देव, रोज़ी नहीं चलती थी।'

"....राजाने उस पुरुषको धन दिलवाया—'हे पुरुष ! इस धनसे तुम अपनी रोज़ी चलाओ, माता-पिताको पालो, पुत्र-दाराको पोसो, अपने कार-बारको चलाओ...।'

"मनुष्योंने सुना—'जो दूसरेकी चीज़को चुराता है, उसे राजा धन दिलवाता है।' (यह) सुनकर मनमें आया—'चलो, हमलोग भी दूसरेकी चीज़को चुराएँ...।'

"राजा कहाँ तक धन दे। उसने सोचा—'यदि जो-जो चोरी करता जावे, उसे-उसे मैं धन दिलवाता रहूँ, तो चोरी बहुत बढ़ जायगी। अतः मैं कड़ी चेतावनी दूँ और उसकी जड़ काटनेके लिये इसके सिरको कटवा दूँ।'

"राजाके आज्ञानुसार उसका सिर काट दिया गया। चोरोंने सोचा—'जो चोरी करते हैं, राजा....उनका सिर कटवा देता है....

---

* दीघनिकाय ३।३ (पृष्ठ २३५)

(इसलिये आओ) हमलोग भी तेज़-तेज़ हथियार बनवावें, (और) जिनकी चोरी करें, उनका सिर काट लें।' उन लोगोंने (इस तरह) तेज़-तेज़ हथियार बनवाये और वह ग्राम-घात, नगर-घात करने लगे— रास्तेमें यात्रियोंको लूटने लगे। वे जिसकी चोरी करते, उसका सिर काट लेते···।"

यहाँ बुद्धने निर्धनताके हटानेका नुस्खा तो नहीं बतलाया; किन्तु उन्होंने यह साफ़ कह दिया, कि कड़ीसे कड़ी सजा भी निर्धनताके कारण की जानेवाली चोरीको रोक नहीं सकती, बल्कि वह चोरीके साथ हत्याको भी जोड़ देती है।

ई॰ पू॰ पाँचवीं-छठी सदीमें इस वैयक्तिक सम्पत्तिके कारण जो बुराइयाँ हो गई थीं, उनमेंसे कुछको बुद्धने इस प्रकार गिनाया है*— "तराजूकी ठगी, बटखरेकी ठगी, नापकी ठगी, रिश्वत, वंचना, कृतघ्नता, कुटिलता, छेदन, बध, बंधन, डाका, लूट, खून।"

४. वाणिज्य

दासता-युगमें ही श्रम और औज़ारमें जो विकास हुआ था, उससे बेंचनेकी चीज़ोंका उत्पादन और विनिमय बढ़ने लगा था। सामन्त-युग-ने जहाँ शासक, सैनिक अधिकारी दिये, वहाँ उत्पादकों और ख़रीदारों-के बीच एक नये वर्ग—बनिया या व्यापारीवर्ग—को पैदा किया। दो उत्पादकोंके अपने सौदेके विनिमयमें कई दिक़्क़तें थीं। हरएक उत्पादक अपने सौदेको लेकर हाटमें थोड़ी ही देर तक बैठा रह सकता था, आखिर उसे घरके और कामोंको भी देखना था। हाटमें बैठे वह कोई उत्पादनका काम नहीं कर सकता था, उलटे खानेका खर्च जैसे तैसे चलाना पड़ता। हाटमें उत्पादक जिस चीज़को बेचने लाया है, कोई ठीक नहीं है कि उसी दिन यहाँ उसका ग्राहक भी आये। इसी

*दीघनिकाय ३।७ (पृष्ठ २६६)

तरह जिस चीज़का ग्राहक आया हो, उसका उत्पादक भी अपना सौदा लेकर आया हो, इसका भी निश्चय नहीं। शायद इसीलिये विनिमयके लिये मनुष्यने पहले-पहल हाट और मेलेका रवाज चलाया। उस वक्त ग्राहक और उत्पादक दोनों अधिक संख्यामें तथा अनेक सौदोंके साथ आते थे; इसलिये ज्यादा सम्भव था कि आदमी अपनी अपेक्षित चीज़ों-को पायें। इन हाटोंमें कोई चीज़ महँगी और कोई चीज़ सस्ती होती थी—दो हाथ कपड़े (ऊनी)को देनेपर आठ सेर मांस आ सकता था और ज़रासे ताँबेके डलेके बदलेमें २० हाथ कपड़ा या २ मन मांस आ सकता था, जिसे उठाकर ले जाना आसान न था। इस तरह लोगोंको महँगी धातुओं—ताँबा आदि—का हथियार बनानेके उपादानके अतिरिक्त एक और गुण भी मालूम हुआ। अब वह उन्हें सौदा लेनेमें सिक्केके तौरपर भी इस्तेमाल कर सकते थे। पहले धातुके सिक्के-राजमुद्रासे अंकित नहीं बनते थे; बल्कि धातुके डलेका वजन सिक्के-का काम करता था। पीछे व्यापारियों और बादमें राज्यने जनताको धोखेसे बचाने तथा अपने भी उसमेंसे कुछ फ़ायदा उठाने, व्यापार तथा लोगोंके आर्थिक जीवनपर काबू रखनेके लिये भिन्न-भिन्न वजन और आकारके धातु-खंडोंको मुद्रासे छाप रुपये आदिके रूपमें चलाया।

हाँ, तो जिस युगमें बेचनेवाले और खरीदनेवाले—दोनों स्वयं उत्पादक थे, और अपनी-अपनी चीज़ें बाजारमें लाते थे, उस वक्त उनको बहुत देर होती और दिक्कतें उठानी पड़ती थीं। मान लो एक गाँव-के कई बेचनेवाले हाटमें आये हैं, ग्राहक या विक्रेता नहीं मिल रहा है। सारे गाँववाले वहाँ कई दिन तक इन्तिजार करनेकी जगह यही पसंद करेंगे कि एक या दो आदमी सौदेकी खरीद-फ़रोख्तके लिये रह जायँ। ऐसे आदमियोंको कितने ही दिनों तक सौदा लेकर इन्तिजार करनेमें उज्र न होगा, यदि उन्हें उन दिनोंकी कमाईका नुकसान न

उठाना पड़े। इसी तरह बनियाकी उत्पत्ति हुई। उसने सभी उत्पादकोंको हाटमें बैठकर इन्तिजार करनेसे मुक्त कर दिया, और लोगोंके सौदेको इस शर्तपर बदल देनेका जिम्मा लिया कि उसे अपनी जीविकाकी फिक्रसे मुक्त कर दिया जाये।

बनियाके न होनेपर दिक्कतें होती हैं, इसका एक उदाहरण लीजिये। काठमांडो (नेपाल)से ल्हासा (तिब्बत) जानेके रास्तेपर तिब्बती मजिस्ट्रेटके रहनेके पहिला स्थान ञेनम् (कुत्ती) है। बरसात शुरू होनेसे पहिलेके डेढ़-दो महीनोंमें कुत्तीकी आबादी बहुत बढ़ जाती है। इधरसे नेपाली किसान पीठपर अपनी फसलकी उपज—चावल, मक्की—को टोकरियोंमें लादे पाँच-पाँच सात-सात दिनकी मंजिल मारते कुत्ती पहुँचते हैं। उधर तिब्बती लोग पचासों चँवरी गायों (याकों) और हजारों भेड़ोंपर मध्य-तिब्बतकी खारी झीलोंके नमक और सोडे तथा ऊन आदि लिये दो-दो तीन-तीन सप्ताहकी यात्राके बाद कुत्ती पहुँचते हैं। तिब्बती और नेपाली दोनों स्वयं-उत्पादित चीज़ोंको बदलना चाहते हैं। नेपालियोंको नमक, सोडा, ऊनकी ज़रूरत होती है, और तिब्बतियोंको चावल, मक्की और कुछ और चीज़ोंकी वैसे होता, तो याकवालोंको अपना सौदा लिये कितने ही दिनों और सप्ताहों बैठा रहना पड़ता, और नेपालियोंको भी उसी तरह अपने बदलनेके चावल मक्कीको खाते प्रतीक्षा करनी पड़ती। किन्तु, उनकी इस दिक्कतको नेवार सौदागरोंने हल कर दिया है। नेवार तिब्बती नहीं, नेपाली हैं, और हजार वर्षसे ऊपरसे वह यह काम कर रहे हैं। तिब्बतियोंका इस कामको हाथमें न लेना बतलाता है कि इस तदबीरसे पहले-पहल फ़ायदा नेवारोंने उठाया। नेवार नेपालियोंके अनाज और तिब्बतियोंके सौदेको भी ले लेते हैं, और हरएकको उसकी आवश्यकताकी चीज़ें दे देते हैं। हरएक चीज़को वह खरीदसे अधिक दरमें बेचते हैं, और इस प्रकार दोनों तरफ़की चीज़ोंपर नफ़ा कमाते

हैं। दोनों उत्पादक स्वयं मिलकर अपनी चीज़ोंको बदलते तो उन्हें चीज़ें सस्ती मिलतीं, यदि वह उसी भाव बेंचते जिसमें कि बनियेको उन्होंने दिया, किन्तु यह निश्चित नहीं। बनियोंके आनेसे वहाँकी बाज़ारकी दर—कमसे कम और ज्यादासे ज्यादा—निश्चित है, फिर बनिया खरीदनेमें कमसे कम दाम देना चाहता है, किन्तु यही बात किसानों और नमक ढोनेवालोंके बारेमें नहीं कही जा सकती। कुत्तीके नेवार व्यापारी यदि किसी कारणसे हट जायँ, तो लोगोंको अपने सौदेके बदलनेमें भारी दिक्कत, भारी खर्च, और काम करनेके दिनोंका भारी नुकसान उठाना होगा।

ऊपरके उदाहरणसे मालूम हो गया होगा, कि सामन्त-युगने इस बीचकी श्रेणी—बनिये—को पैदाकर उत्पादक-वर्गके समय और श्रमकी बहुत बचत की। व्यापारियोंने पहिले कुत्तीकी भाँति एक स्थानपर बैठे दोनों ओर सौदा खरीदना और बेंचना शुरू किया। फिर उन्होंने उत्पादकोंके घर पहुँचकर घरसे दूर जानेकी दिक्कतसे मुक्त करते हुए उनका सौदा खरीद लिया, और उनके लिये आवश्यक सौदेको उन तक आसानीसे पहुँचानेके लिये नज़दीकसे नज़दीक जगहपर अपनी दूकानें खोलीं। फिर कारीगरोंको उत्साहित करनेके लिये पेशगी रुपये देने शुरू किये, और अन्तमें अपनी तरफ़से छोटे-छोटे कारखाने क़ायमकर शिल्पियोंको वहाँ जमाकर विक्रेय वस्तुयें भी तैयार करनी शुरू कर दीं।

बनियोंने जहाँ उत्पादकोंको विक्रयकी चिन्तासे मुक्त कर दिया, वहाँ उन्हें अपने अधीन भी कर लिया। बनिये उत्पादकोंसे ज्यादा होशियार थे; स्थान और स्वार्थके एक होनेके कारण संगठित रूपसे बाजार-भाव, नाप-तोलमें अपने इच्छानुसार घटी बढ़ी कर सकते थे। इन बातोंको जब सारा बाजार करता है तब उसे बाजार-दर कहकर उचित ठहराया जाता है, किन्तु जब एक व्यक्ति करता है, तो

उसपर ठगीका इलजाम लगता है, झगड़े होते हैं। इसीके कारण, राज्यने नाप-तोल और सिक्कोंका नियंत्रण अपने हाथमें लिया।

बनिया वर्गने जहाँ उत्पादित वस्तुओंको शीघ्रतासे वितरण करनेका जिम्मा लेकर उनकी उपजको तेजीसे बढ़ाया, वहाँ उसने अच्छी चीजोंकी माँग बढ़ा शिल्प-चातुरीके मूल्यको भी बढ़ाया, और साथ ही मनुष्योंकी भारी तादादको उत्पादक कामोंमें लगाया। यही काम थे, जिनके कारण बनियेने अपने वर्गके अस्तित्वको समाजके लिये अनिवार्य बना दिया। बनिया दोनों तरफ़के श्रमको चुराता है, सौदेके उत्पादनमें—कच्ची वस्तुका पक्की शकल स्वीकार करनेमें—उसका कोई श्रम नहीं लगता। इस प्रकार उसका पेशा जूआचोरी जैसा है, यह लोगोंको मालूम था, तभी तो हम लोकोक्तियाँ सुनते हैं—

"जाणनद्दारा जाणिया बणिया तेरी बाण।
बिन छाणे लोई पिवे पाणी पीवे छाण॥"

अथवा,

"उत्तम खेती मद्धिम बान।
अधम चाकरी भीख निधान।"

इस तरह मालूम हुआ कि उत्पादक वर्ग जहाँ एक ओर बनियेकी सहायताका मुहताज था, वहाँ वह उसे खून चूसनेवाला भी समझता था। खासकर बड़े-बड़े सेठों-साहूकारोंके राजभवनों जैसे महलों, राज-भोगों जैसे भोग-ऐश्वर्यको देखकर वह अच्छी तरह समझते थे, कि यह चीज़ें कहाँसे आईं। इस प्रकार उत्पादक वर्गके दिलमें उनके प्रति सहायताके लिये कृतज्ञताकी अपेक्षा घृणाकी मात्रा ही ज्यादा थी। किन्तु, दूसरी ओर शासक सामन्त-वर्ग बनियोंका सबसे मित्र था, क्योंकि वह जानता था, कि राज्यकी उथल-पुथल या क्रान्ति, और शोषित वर्ग-के शक्तिशाली बननेका उनके बाद सबसे विरोधी यदि कोई है, तो

बनिया वर्ग है। बनिया यही नहीं कि खुद लड़ाई-झगड़ेसे कोसों दूर रहना चाहता है, बल्कि वह यह भी समझता है, कि राजविराजी होते रहनेपर व्यापारको सबसे ज्यादा धक्का लगता है। बनियाके लिये सामन्तका शासन ही अच्छा है, क्योंकि वह भी उसीकी तरह उत्पादक श्रममें बिना हाथ लगाये हरामकी कमाईपर मौज उड़ाता है।

छोटे-छोटे सामन्त-राज्योंको विशाल राज्योंमें परिवर्त्तित करनेमें बनियोंका भी हाथ रहा है। हम छठी-सातवीं सदी ई० पू०में मगध (दक्षिण बिहार)के सौदागरोंको रावल-पिंडी, भड़ोच, तक्षशिला (रावल-पिंडी), ताम्रलिप्त (तमलुक, मेदिनीपुर) तक अपना सार्थ (कारवाँ) लेकर क्रय-विक्रय करते देखते हैं। बुद्धके सम-सामयिक मगधके राजा बिम्बिसार (मृत्यु ४९१ ई० पू०)के समय राजगृहसे तक्षशिला जानेवाले सार्थको साकेत (अयोध्या), अहिच्छत्र (रामनगर, बरेली), सागल (स्यालकोट)के रास्ते आमतौरसे जाना पड़ता था, जिसके लिये मगध राज्यकी सीमान्त चौकियोंको पार करते ही उसे मल्लोंके कितने ही छोटे-छोटे गणतंत्रोंकी सीमा और चुंगियोंसे गुजरना पड़ता था। फिर कोसलका बड़ा राज्य पड़ता था, जो शायद रामगंगा या आगे तक चला जाता था। पंचाल और कुरुके राज्योंको पारकर फिर पंजाबके मल्ल (सतलज और घग्घरके बीचका प्रदेश), मद्र (रावी, चनाबके बीचका प्रदेश) तथा दूसरे प्रजातंत्रोंको पार करते कारवाँ गन्धारोंके राज्यमें पहुँचता था। व्यापारी अपने अनुभवसे देखते थे कि कोसलके विशाल राज्यमें उन्हें प्रवेश करते और निकलते वक्त ही चुंगी और राजनीतिक विभागकी ओरसे परेशानी उठानी पड़ती है, किन्तु छोटे-छोटे प्रजातंत्रों और राज्योंमें हर बीस-पच्चीस मीलपर उन्हें इन दिक्कतोंका सामना करना पड़ता था और हर सर्दार और उसके अधिकारीकी भेंट-पूजा देनी पड़ती। इन दिक्कतोंसे बचनेके लिये व्यापारी यही चाहता था कि राजगृहसे

तक्षशिला, भड़ोच, तमलुक तक एक ही राज्य होता तो न चुंगीका झगड़ा रहेगा न सिक्कोंके हिसाबकी गड़बड़ी। यदि सामन्तवाद खूनपर निर्भर रहे-सहे जन-संगठनकी जगह अनेक *जनों* और कबीलोंको मिलाकर राज्य कायम भी करता, तो भी सामन्त स्वयं किसी *जन*के प्रतिनिधि होते थे, इसलिये वह अपनेको उस पक्षपातसे ऊपर नहीं उठा सकते थे; किन्तु व्यापारी इन सारे पक्षपातोंसे परे थे, व्यापार अन्तर्राजीय था, तो व्यापारियोंकी दृष्टि अन्तर्राजीय होनी ही चाहिये। वाणिज्यने स्थलकी सीमाओंको ही नहीं मिटाया, उसने समुद्रकी सीमाओंको भी ढा दिया और सामुद्रिक जल जो पहिले यातायातमें बाधक था उसे ही अपना साधक बना बड़े-बड़े जल-पोतों द्वारा सस्ते और कम समयमें चीजोंको दूर-दूर (सुमात्रा, जावा, मेसोपोतामिया आदि) तक पहुँचाना शुरू किया। बौद्धोंकी *जातक* कहानियाँ ईसा पूर्व छठी-सातवीं सदीके भारतीय सामुद्रिक वाणिज्यपर काफी प्रकाश डालती हैं।

शासक व्यापारियोंको अपना हितू समझते थे, क्योंकि जहाँ वह उनके शासनकी चिरस्थिति चाहते थे, वहाँ उनकी आमदनीके जरिये भी थे। उस वक्त हर शासककी कोशिश होती थी कि उसके राज्य और राजधानीमें बड़े-बड़े व्यापारी बसें, बाज़ार और व्यापार खूब बढ़े। बुद्धका समकालीन कोसल-राज प्रसेनजित् अपने बहनोई मगधके राजा बिम्बिसारके पास एकबार* खास इसी कामके लिये गया था कि वहाँसे एक बड़े व्यापारीको लाये। बिम्बिसारका राज्य (मगध) आगे बढ़ते हुए नन्द और मौर्यके साम्राज्यमें परिवर्त्तित होनेवाला था, जिसका ही यह पूर्व लक्षण था जो कि वहाँ जोतिय, जटिल

---

*धम्मपद-अट्ठकथा ४।८ और अंगुत्तरनिकाय-अट्ठकथा १।७।२ (देखो "बुद्धचर्या" पृष्ठ १५२, ३२५)

मेंडक, पूरणक और काकबलिय जैसे भारी-भारी व्यापारी रहते थे। प्रसेनजित्के प्रार्थना करनेपर राजाने अपने व्यापारियोंसे पूछा होगा और अन्तमें हम बड़ी खुशीके साथ प्रसेनजित्को मेंडक श्रेष्ठीके पुत्र धनंजय श्रेष्ठीको लिये लौटते देखते हैं। साकेत (अयोध्या) पहुँचने-पर कुछ सोचकर धनंजयने राजासे पूछा*—

"यह किसका राज्य है ?"

"मेरा, श्रेष्ठी।"

"यहाँसे श्रावस्ती कितनी दूर है ?"

"यहाँसे सात योजनपर।"

"श्रावस्ती नगरके भीतर बहुत भीड़ होती है, हमारा परिजन (नौकर, चाकर) भारी है. यदि आज्ञा हो तो, देव, यहीं बसें।"

धनंजय व्यापारी था, वह समझता था, कि घाघरा (सरयू) जैसी बड़ी नदीके किनारे तथा तक्षशिलाके रास्तेपर बसना उसके लिये ज्यादा लाभदायक होगा। श्रावस्ती राजधानी भी रापती नदीके किनारे थी, किन्तु रापती उतनी बड़ी और उतने गुंजान इलाकेसे नहीं जाती थी, दूसरे राजाके सामने भी वह हर वक्त नहीं रहना चाहता था। व्यापार—उत्पादकोंकी बनाई वस्तुओंको बदलने—से उस वक्त कितना फ़ायदा होता था, यह धनंजयकी कन्या विशाखाकी शादीके निम्न वर्णनसे मालूम होगा†।

"श्रावस्तीमें मृगारश्रेष्ठीका पुत्र पूर्णवर्द्धन कुमार जवान था। उसके पिताने...समान जातिकी कन्या खोजनेके लिये....आदमियोंको भेजा। वह श्रावस्तीमें वैसी कन्याको न देख साकेत गये। उस दिन (धनंजय श्रेष्ठीकी लड़की) विशाखा अपनी समवयस्का पाँच सौ सखियोंके साथ उत्सव मनानेके लिये एक महावापीपर गई थी। वह पुरुष भी

---

*बुद्धचर्या १५३. †बुद्धचर्या ३२६-३२८.

नगरके भीतर अपनी रुचिकी कन्या न देख, बाहर नगरद्वारपर खड़े थे। उसी समय पानी बरसना शुरू हुआ। तब विशाखाके साथकी कन्यायें भीगनेके डरसे वेगसे दौड़कर शालामें घुस गईं। ..विशाखा मेघ बरसनेकी पर्वाह न कर, मन्दगतिसे भीगती हुई शालामें प्रविष्ट हुई। . उसके रूप और वयसे सन्तुष्ट हो और जाननेके लिये उन पुरुषोंने विशाखासे पूछा—

'अम्म ! तू बड़ी-बूढ़ी स्त्रीकी तरह मालूम होती है ?'

'तातो ! क्या देखकर (ऐसा) कहते हो ?'

'तेरे साथ खेलनेवाली दूसरी कुमारियाँ भीगनेके भयसे जल्दी आकर शालामें घुस गईं, और तू बुढ़ियाकी तरह चलना नहीं छोड़ती, साड़ी भीगनेकी भी पर्वाह नहीं करती ?...'

'तातो ! साड़ियाँ (मेरे लिये) दुर्लभ नहीं हैं, मेरे घरमें साड़ियाँ बहुत हैं। तरुण स्त्री बिकाऊ बर्त्तनकी तरह है। हाथ या पैर टूटनेपर अंग-भंग स्त्रीसे लोग घृणा करते हैं।...इसीलिये धीरे-धीरे आई हूँ।'

'...(फिर) दासी-गण-सहित घर गई।'

धनंजयके सामने विवाहका प्रस्ताव रखनेपर उसने कहा—

'अच्छा, तातो ! तुम्हारा श्रेष्ठी धनमें हमसे थोड़ा ही असमान है, किन्तु जातिमें बराबर है।...जाओ सेठको हमारी स्वीकृतिकी बात कहो।'

मृगार सेठने राजा प्रसेनजित्से प्रार्थना की—

'देव ! मेरे यहाँ एक मंगल काम है। आपके दास पुण्ड्रवर्धनके लिये धनंजयश्रेष्ठीकी कन्या विशाखाको लाने जाना है, मुझे साकेत नगर जानेकी इजाज़त दें।'

'अच्छा, महाश्रेष्ठी ! क्या हमें भी चलना है ?'

'देव ! तुम्हारे जैसोंका जाना कहाँ मिल सकता है ?'

राजा प्रसेनजित् श्रेष्ठीको ख़ुश करनेके लिये बारातमें ख़ुद चलने-

के लिये तैयार हो गया। इस सारी बारातका धनंजयने स्वागत किया। चंद दिनों बाद राजाने संदेश भेजा—

'देर तक श्रेष्ठी हमारा ख़र्च नहीं चला सकता, इसलिये कन्याकी विदाईका समय ठीक करें।'

धनंजयने उत्तर दिया—'अब वर्षा काल आगया है, चार मास चलना नहीं हो सकता। आपके लोग-बागकी जो-जो ज़रूरतें हैं, उन सबका जिम्मा मेरे ऊपर है, देव, मेरे कहनेपर जायें।'

धनंजयको इस भारी "फौज"का ख़र्च चलानेमें कोई दिक्कत नहीं हुई। सिर्फ़ ईंधनकी कमी हुई, जिसके लिये उसने अपने हथसार, घोड़सार, और गोसार उजड़वा दिये। विशाखाको पिताकी ओरसे जो चीज़ें मिली थीं, उनमें एक "महालता" हार भी था, जिसकी कीमतके बारेमें पालीमें* "नौ करोड़ मूल्य और सौ हजार बनवाई" लिखा है। नौ करोड़ ताँबेके पैसों (कार्षापणों)को भी लेनेपर बहुत ज्यादा होता है। लेकिन साथ ही उसके दामसे विशाखाके मृगार-माताने जिस पूर्वाराम मृगारमाता-प्रासादको बनवाया था, उसके दो तल्लोंमें प्रत्येकपर पाँच-पाँच सौ कोठरियाँ थीं।

इस कथासे सामन्त-युगके वणिक-समाजकी समृद्धिका पता लगता है, और यह भी कि सामन्तों और व्यापारियोंकी आपसमें बहुत घनिष्ठता थी। यह घनिष्ठता आगे भी वैसी ही रहती है, और मध्यकालीन हिन्दू भारतमें श्रेष्ठियों और श्रेष्ठि-कुमार-कुमारियोंका राजकुमार-राजकुमारियोंकी घनिष्ठ मित्रता तथा साथ खेलने आदिका जिक्र आता है।

वणिक्-समाज एक तो चाहता था, कि राज्योंकी सीमायें छोटी-छोटी न होकर बड़ी होवें जिसमें अव्याहतगतिसे व्यापार हो सके, दूसरे वह युद्ध और क्रान्तिको पसंद न करता था—भीतरी-बाहरी शान्ति उसे

*धम्मपद-अट्ठकथा ४।४४

परम प्रिय थी। उत्पादनसे सीधा संबंध न होनेसे प्राकृतिक शत्रुओंसे संघर्ष करनेकी उसे ज़रूरत न थी और सब जगह सबसे वास्ता होनेसे वह झगड़ा नहीं, मधुर वचन और दब्बूपनसे काम निकालनेके तरीके-को सीख गया था। भारतके वैश्य आज भी वैष्णव, जैन जैसे धर्मोंसे क्यों इतनी आस्था रखते हैं? क्योंकि वह अपनी अहिंसा और शान्ति-से उन्हींके मनकी बात करते हैं। बौद्ध धर्मकी शांति ही थी, जिसने प्रचीनकालमें भारतके बड़े-बड़े व्यापारियोंको अपनी ओर खींचा और चूँकि इनका व्यापार-संबंध भारतसे बाहर-बाहर भी था, इसलिये बौद्ध धर्म-प्रचारकोंको भारतसे बाहर काम करनेका सुभीता दिया। बौद्ध धर्मके अन्तर्राष्ट्रीय प्रचारमें सिर्फ़ यही कारण न था, बल्कि यह भी मुख्य कारणोंमें एक ज़रूर था। ईसा पूर्व पाँचवी सदीसे पहिली सदी तकके बौद्ध धर्मके दाताओंकी सूची यदि हम त्रिपिटक और साँची, भरहुत, कार्ले, नासिकके शिलालेखोंसे तैयार करें, तो मालूम होगा कि उसमें भारी संख्या व्यापारियोंकी है।

बुद्धकालीन भारतमें हम व्यापारियोंको शासनमें प्रत्यक्ष भी भाग लेते देखते हैं, यद्यपि वह प्रधान नहीं थे। हर एक नगर में श्रेष्ठी (नगर-सेठ)का पद था, जो कि शासनमें सहायता देनेके लिये स्थापित था।

५. धातु और हथियार

ताँबेके आविष्कारके साथ लाखों वर्षोंसे चले आते पत्थरके हथियारोंका प्रचार कम होने लगा। ईसासे १५०० वर्ष पहले पीतल और १२०० वर्ष पहिले लोहेका आविष्कार हुआ, यह हम कह चुके हैं। ताँबेसे पीतल अधिक सख्त और मज़बूत होता है और लोहा उससे भी ज्यादा। यद्यपि आज लोहा ताँबेसे ज्यादा सस्ता है, किन्तु कोई समय था, जब लोहा ताँबे और चाँदीसे भी महँगा था; क्योंकि उसके

पैदा करनेमें बहुत श्रम लगता था। पत्थरके कोयले और कोकका इस्तेमाल अभी आदमीको मालूम न था, इसलिये लोहेको पिघलाकर मिट्टी और धातुको अलग करना उतना आसान न था। इन नई-नई धातुओंने हथियारोंकी शक्ति और संख्यामें बहुत वृद्धि की, पत्थर और काठकी कारीगरीको बढ़ाया। अपने युगमें लोहे जैसे धातुको पाकर अपनी शोषित-शासित प्रजापर नियंत्रण करनेमें सामन्तोंको सबसे ज्यादा फ़ायदा हुआ। साधारण जन अपनेको उतना हथियारबंद नहीं कर सकते थे, जितना कि उनके शासक सामन्त; क्योंकि हथियार खर्चीली चीज़ थी। शोषित जनता और प्रतिद्वन्दी सामन्तसे इस युगके शासकको जो डर था उससे वह मजबूर था, कि अपनी शक्तिको बढ़ानेके लिये नयेसे नये साधनोंको इस्तेमाल करे। युद्ध-संबंधी हर नये ज्ञान और नये अविष्कारोंका चतुर शासक वर्ग ही सबसे पहिले स्वागत करता रहा है, क्योंकि वह जानता रहा है कि शक्तिके बलपर ही वह बहु-संख्यक जनतापर अल्पसंख्यक वर्गका शासन कायम रख सकता है।

जब तक पत्थर लकड़ीके हथियार थे, तब तक संख्या काम करती थी। उस समय साधारण मिट्टीकी दीवार भी किलेकी चहारदीवारी बन सकती थी। फिर धनुष-बाण और ताँबेके हथियार आये। उस समय थोड़ी संख्या भी पत्थरके हथियारोंवाले बहुसंख्यक आदमियोंको दबा सकती थी। अब किलाबंदियोंको और मजबूत करनेकी ज़रूरत पड़ी, क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी सामन्तोंके पास भी वह हथियार आ गये थे। इस आरम्भिक धातु (ताम्र)-युगके अवशेषोंमें हमें मिश्रका चेयोप् (ई० पू० २८००) पिरामिड मिलता है, जिसकी विशाल चट्टानोंको, हेरोदोतस्के कथनानुसार, एक लाख आदमी तीन महीने तक ढोते रहे। भारतमें भी इस युगके अवशेष मिलते हैं, जिसे आमतौरसे "असुरों" की कृति कहते हैं। राजगृहके पहाड़ोंपर एक ऐसी ही प्राचीर चारों ओर घूमी हुई है, जिसकी विशाल चट्टानोंको देखकर ही शायद लोग उन्हें

मानव नहीं असुरकी कृति समझते थे। भारतमें इन पाषाण-दुर्गोंके बाद एक बार हल्के उपकरणोंके दुर्ग बनने लगते हैं। बुद्ध (पाँचवीं सदी ई० पू०) और मौर्य काल (चौथी-तीसरी सदी ई० पू०)के दुर्ग अधिकतर लकड़ीके बनते थे, जिसकी कि उस समय कमी न थी। पाटलिपुत्र (पटना)की दुर्ग-प्राचीरका जो वर्णन यूनानी राजदूत मेगस्थानीसने किया है, उसमें इसका ज़िक्र है। पटनामें जो खुदाइयाँ हुई हैं, उनमें भी इस प्राचीरका कुछ भाग मिला है, पहाड़ जहाँ नज़दीक था, वहाँ पत्थरकी भी चहारदीवारियाँ मिलती हैं। जंगलके कम होनेपर पत्थर न मिलनेवाली जगहोंमें ईंटका भी इस्तेमाल होने लगा। चहारदीवारीके बाहर पानीसे भरी खाइयाँ रहती थीं। इस तरहकी क़िलेबंदियाँ तेरहवीं और चौदहवीं सदी तक चली आईं; किन्तु जब मंगोलोंके ज़रिये दुनियामें और मुग़लों (बाबर)के द्वारा भारतमें बारूदवाले हथियारोंका प्रयोग होने लगा, तो तोपके गोलोंके सामने इन दीवारोंका ठहरना मुश्किल मालूम होने लगा, और तब कितने ही ज़मीनदोज़ क़िले बनने लगे। नये हथियारोंके आविष्कारोंके साथ पुरानी क़िलेबंदियाँ बेकार होती गईं, इसके उदाहरण तो आज भी मिल रहे हैं। जब तक वर्ग-शासन है, जब तक अल्प-संख्यक वर्ग सारे आर्थिक-राजनीतिक अधिकारोंको अपने हाथमें लिये हुए है, तब तक अपनेको सशस्त्र—सबल-शस्त्र—और बहुसंख्यक जनताको निःशस्त्र करनेके सिवा दूसरा चारा ही नहीं। जब तक शोषण जारी है, तब तक दूसरे देशकी समृद्धिको लूटनेवालोंकी कमी नहीं हो सकती और इस प्रकार युद्धका रास्ता बंद नहीं हो सकता। यही वजह है जो कि वर्ग-राज्य हमेशा तलवारका राज्य रहा है।

६. वर्ग और वर्ग-संघर्ष

सामन्तवादी युगमें वर्गभेद, आर्थिक और सामाजिक असमानता बहुत बढ़ी, यह ऊपरके वर्णनसे हमें मालूम हो गया होगा। सामन्तवादी

युगकी एक सबसे बड़ी देन है शारीरिक श्रमके कामको घृणाकी दृष्टिसे देखना। दूसरेके श्रमकी कमाईपर जीनेका यह परिणाम होना ही था। स्त्रियोंके लिये तो कवि तुलसीने सीताका आदर्श पेश किया है—

"पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा।
सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा॥"

इसका यदि कोई अपवाद था, तो वह थी अस्त्र-शस्त्र चलानेकी शिक्षा। युद्धमें वीरता उस वक़्त एक बड़ी सराहनीय चीज़ थी। हरएक राजा या सामन्त समझता था, कि उसके सारे भोग और सम्मान तभी तक सुरक्षित हैं, जब तक कि उसकी तलवारमें ताक़त है। इसलिये शासक-वर्ग युद्ध-संबंधी शारीरिक व्यायामको करना ज़रूरी समझता था। बारहवीं और तेरहवीं सदी ईसवीमें उत्तरी फ्रांसके साहस-वीरोंका समय सुन्दरियोंके प्रेमके गीत गाने, तथा उनके लिये अस्त्र-शस्त्रकी प्रतियोगितामें भाग लेनेमें बीतता था। उनका आदेश था "वीरता और प्रेम"। सामन्तोंके इन छुटभैयोंका समाज-संबंधी काम था युद्ध और उसका कौशल सीखना तथा उसे इस्तेमाल करना।

भारतका राजपूत-युग (ईसवी आठवींसे बारहवीं सदी)के सामन्तों और सरदारोंको भी हम इसी पथपर चलते देखते हैं। आल्हा-ऊदलकी लड़ाइयोंमें अधिकांश किसी राजकुमारीको छीन अपने रानियोंकी संख्या बढ़ानेके लिये ही लड़ी गई थीं; और राजपूतका मृत्युसे डरना शर्मकी बात समझी जाती थी।

दंडीके "दशकुमार-चरित"में हमें पाँचवीं-छठवीं सदीके सामन्त-युगकी बहुत-सी बातें मालूम होती हैं। वहाँ भी प्रतिद्वन्दीके साथ वीरता और सुन्दरीके साथ प्रेम—यही दो बातें शासक-जीवनके लक्ष्य मालूम होते हैं। प्रधान नायक राजवाहन और उसका साथी कुमार

उज्जयिनीमें जा अपने वर्गकी दो कुमारियोंपर आसक्त होते हैं, कवि उनके प्रेमको कवित्वमय बनाता है। बाल-चंद्रिकाका प्रेमी अपनी प्रेयसीके लिये दूसरे प्रतिद्वन्दीकी हत्या करता है। मध्ययुगीन यूरोपके वीरोंके दोनों आदर्शों 'वीरता और प्रेम'को ही दशकुमार-चरितने भारतीय रूपमें चित्रित किया है।

पांडवों, राम और सिद्धार्थ गौतमके विवाहोंमें हम वीरताका टूर्नामेंट होते देखते हैं। स्वयंवरके इन जलसों द्वारा सुन्दर राजकुमारीका इनाम रखकर शस्त्र-कौशल-प्रतियोगिता कराई जाती थी। शासक-जातिको लड़ाकू बनाये रखनेके लिये इससे बढ़िया तरीक़ा और क्या हो सकता था ?

शासक-वर्गके बाद पुरोहितोंका नम्बर आता है। इसके बारेमें हम कुछ कह चुके हैं और कुछ धर्मके प्रकरणमें कहेंगे।

फिर व्यापारी वर्ग, जिसका कि वर्णन अभी किया गया है।

चौथा वर्ग कारीगरों और किसानोंका था। इनके सम्बन्धमें भी हम कह चुके हैं। दासता-युगमें किसान अपने जोतकी ज़मीनका स्वामी था, किन्तु सामन्त-युगमें सैद्धान्तिक तौरसे सामन्त या राजाको भूमिका मालिक बनानेकी कोशिश की गई। शासकको उसकी राज्य-सेवाओंके वेतनके तौरपर प्रजा चन्दे या करके रूपमें अपनी आमदनीका कुछ भाग देती है, यह जो पुरानी धारणा थी, उसे हटा-कर राजाको भूमिका स्वामी है—यह ख्याल फैलाया जाने लगा। यूरोपमें इस ख्यालको बहुत सफलता मिली और ईसाइयतके जनताके धर्म बननेके साथ सामन्त किसानोंको कमीन या अर्धदास बनानेमें सफल हुए। नये धर्मके साथ पुरानी व्यवस्था तोड़नेका अच्छा मौका मिलता है; क्योंकि वह पुरानी परम्पराओंको काफ़िरों और अविश्वा-सियोंके झूठे विश्वास कहकर आसानीसे छुड़वा सकता है। भारतमें

सभी युगोंकी बातें हिन्दुओंमें यदि पाई जाती हैं, तो उसका प्रधान कारण यही है, कि यहाँ इस तरहके धर्मको सारी या अधिकांश जनताको अपने भीतर लानेमें सफलता न हुई और पुरानी परम्परायें सर्वथा लोप नहीं होने पाईं। पंजाबमें पिछली शताब्दीमें सिक्खोंके शासन तक गाँव-की सारी भूमिपर सारे गाँवका सम्मिलित अधिकार जो देखा जाता है, वह (जन-युगकी प्रथाका अवशेष था) इन्हीं कारणोंसे बचा रहा। बाकी भारतमें भी अठारहवीं सदीके अन्त तक भूमिपर किसानका अधिकार अक्षुण्ण रहा और जोतनेवाले तथा सरकारके बीच तीसरा वर्ग—जमींदार—नहीं कायम हो सका; यह काम इंगलैंडके सामन्त-शासकोंकी प्रभुता कायम होने हीपर भारतमें हो सका।

कम्पनीके शासन स्थापित होने तक भारतके गाँवोंमें पंचायतों-का जोर था, जहाँ तक गाँवके भीतरी प्रबंधका संबंध था राज्य व्यक्ति-की अपेक्षा इन पंचायतोंपर ज्यादा जिम्मेवारी देता था। गाँवोंकी यह अवस्था बतला रही थी, कि अभी वह जन-युगमें विचार रहे हैं। यह हमारे अभिमानकी चीज थी, या पिछड़ेपनका चिह्न—इस तरह इसका मूल्य आँकना विवादास्पद हो सकता है, किन्तु ऐसा क्यों हुआ इसपर जब हम विचार करते हैं, तो कारण मालूम होता है—पेंवन्द लगा लगाकर पुराने जीर्ण-शीर्ण सामाजिक जामेको ही पहनते रहनेकी प्रवृत्तिमें सफलता। और यह सफलता क्यों हुई? (१) आर्थिक वर्ग-संघर्षके अतिरिक्त भारतमें रंगके संघर्षने भी जोर पकड़ा, जिससे आर्थिक क्रान्तिके लिये उपयोगी शक्तियाँ संगठित नहीं हो सकीं। (२) गर्म-जलवायुके कारण यहाँ जीवनका मान बहुत नीचे तक गिर सकता था, यूरोपकी भाँति यहाँ जाड़ेके कपड़े, खाने आदिका निम्नतम मान खास ऊँचाई तक क़ायम न रखा जा सका था—यूरोपकी सर्दी इसके लिये क़ाफ़ी है, कि जिनके पास उससे बचनेके लिये क़ाफ़ी कपड़े या मकान गर्म रखनेका सामान नहीं, उसे फर्वरीसे पहिले ही पहिले ठंडा कर दिया

जाये। भारतमें आदमी फटी लँगोटीसे गुज़ारा कर सकता है। (३) ज़मीन उपजाऊ, सालमें तीन फ़सल देने लायक थी और आबादी घनी न थी। (४) विजेता या दूसरी तरहसे नई-नई जातियों-के लगातार उठते रहनेके कारण जनतांत्रिक भाव ईसाकी तीसरी सदीसे पहिले ही मिट गये थे, और उसकी जगह एकतांत्रिक सामन्तवाद क़ायम हो गया था। (५) संस्कृति और विचारधाराके उलटनेमें धर्मोंको इसमें काफ़ी सफलता न मिली, कि नये धर्मके नीचे या ऊपर के दबावसे सामाजिक रूपमें परिवर्त्तन हो।

राजतंत्र सामन्तवादके अन्तर्गत है, यह हम कह आये हैं। किन्तु, बाज़ वक़् भ्रम होने लगता है, कि जहाँ सामन्त और साधारण प्रजा परस्पर विरोधी स्वार्थ रखनेवाले वर्ग हैं, वहाँ राजा दोनों वर्गोंसे ऊपर है। यह वर्गसे ऊपर होनेका भ्रम तभी होता है, जब हम सिर्फ़ ऊपर-ऊपर देखते हैं। राजा सामन्तपन छोड़कर राजा नहीं बनता—अपनी जागीरमें वह वैसा ही सामन्त है जैसे कि दूसरे। वही कमीनसे आधा पेट खिलाकर काम लेना, वही सामन्तशाही नजर-नज़राने, वही सामन्त-परिवार-के साथ रोटी-बेटीका घनिष्ठ संबंध। लेकिन फ़र्क़ इतना जरूर है, कि राज्य-की जनताका एक छोटासा भाग उसके इस रूपको देख सकता है, बाक़ी उसे न्यायका तराजू लिये देखते हैं। दूसरे, जब साधारण जनता और सामन्तवर्गके बीच व्यापारी वर्ग भी आता है, तो इस वर्गसे राजाको भेंट और नजरानेके तौरपर जागीरके अतिरिक्त भी आमदनीका एक अच्छा रास्ता हाथ लगता है, जिससे व्यापारी और साधारण जनताके झगड़ोंमें वह प्रायः सदा व्यापारियोंके स्वार्थके पक्षमें व्यवस्था देता था; और व्यापारियों और सामन्तोंके स्वार्थका जहाँ झगड़ा हो, वहाँ भी कभी भी अपना पेट भरा होनेसे ऊपर उठनेकी कोशिश करता, जिससे व्यापारी वर्ग राजाकी निष्पक्षताका ढिंढोरा पीटता, या कम-से कम यह कहता फिरता कि आदर्श राजाको ऐसा होना चाहिये।

तीसरी बात यह थी कि प्रोपेगंडाकी ज़बर्दस्त मशीन राजाके लिये काम कर रही थी। समाजके रूप हीको लेकर देवों और देवियोंकी कल्पना हुई थी। लेकिन अब वहीं देवता मनुष्यके सामाजिक ढाँचेका नियंत्रण कर रहे थे। राजाको प्राचीन कालमें जो "देव" कहकर संबोधन किया जाता था वह व्यर्थ न था। वह इसलिये था कि लोग समझें कि वह प्रतिद्वन्दी वर्गसे ऊपर है। इस प्रोपेगंडामें समाजका सबसे वाचाल भाग—पुरोहित वर्ग—भारी हिस्सा लेता था। अफ़लातूँने प्रोपेगंडाके सहारे एक नये राज्यशासनकी व्यवस्था डालनी चाही और शासकोंका एक अलग-थलग वर्ग क़ायम करना चाहा था। यद्यपि उसे उसमें सफलता नहीं हुई, तो भी प्रोपेगंडाके महत्त्वको वह मानता था इसमें तो सन्देह नहीं। खुद अपने स्वार्थकी रक्षाके लिये राजाके वर्गोंसे ऊपर होनेका जो प्रोपेगंडा ब्राह्मणों, अन्य सामन्तों और व्यापारियोंकी ओरसे हुआ, साधारण जनता उसके धोखेमें उसी तरह आ गई जिस तरह कि धर्मके प्रोपेगंडेसे।

७. राज्य और शासन

शासन-शक्ति सदासे आर्थिक और सामाजिक आवश्यक कर्त्तव्योंके पूरा करने हीके लिये रही है, उन्हींके लिये उसका प्रयोग भी हुआ। जब तक व्यक्ति वैयक्तिक सम्पत्तिके उत्पादनमें नहीं लगा था, तब तक आर्थिक समदर्शिताकी शासन-यंत्रमें गुंजाइश थी, किन्तु जब वैयक्तिक सम्पत्ति स्थापित हो गई, तब उसकी रक्षा शासनका मुख्य कर्त्तव्य हो गया और जन-सत्ता वहाँ चल न सकती थी, इसीके लिये *राज्य* या वर्गस्वार्थपर आश्रित शासनका आरंभ हुआ। एन्गेल्सने इसीलिये लिखा—'जनका संगठन समाप्त हो गया और वह फटकर समाजके विभाग द्वारा वर्गोंके रूपमें परिणत हो गया, इस तरह जन-व्यवस्थाकी जगह राज्य स्थापित हुआ।"

वर्गवाले समाजमें जन-व्यवस्था चल नहीं सकती। जर्मनोंमें जन-व्यवस्था थी, जब कि चौथी सदी ईसवीमें उन्होंने रोम-साम्राज्यका ध्वसकर एक बड़े भू-भागपर अधिकार जमाया। लेकिन इसका फल यह हुआ कि जर्मनोंको अपनी जन-व्यवस्था छोड़नी पड़ी। भारतमें जब आर्य पहुँचे, तो वह पितृसत्ता-युगमें थे और जन-व्यवस्थाको पूर्णतया छोड़ न चुके थे; किन्तु जब सिन्धु-उपत्यकाकी समृद्ध जातिको पराजितकर उनके सामन्तवादी विशाल राज्यपर, वहाँकी प्रजापर अधिकार जमाया, तो उनके लिये पितृसत्ताक समाजका क़ायम रखना मुश्किल हुआ और उसकी जगह वर्ग-शासनवाला सामन्तवादी राज्य क़ायम करना पड़ा।

*राज्य*का ख्याल कहीं ऊपरसे नहीं टपक पड़ा है। जन-व्यवस्थासे आगे बढ़नेपर, समाजके वर्गोंमें विभक्त होनेके बाद ऐसे समाजके ढाँचे-को क़ायम रखनेके लिये *राज्य* क़ायम करनेके सिवा कोई चारा ही न था। इस प्रकार मालूम हुआ कि राज्य भी विकासकी एक खास अवस्थामें पहुँचे समाजकी उपज है। वह इस बातका सबूत है कि समाज ऐसे परस्पर विरोधी स्वार्थोंके दलदलमें इतना फँस चुका है कि उनमें समन्वय नहीं किया जा सकता, और शक्तिके प्रयोग द्वारा ही समाजके इस नये ढाँचेको क़ायम रखा जा सकता है। इस प्रकार राज्य-शक्ति पैदा तो हुई समाजसे; किन्तु वह अपनेको उससे ऊपर रखती और बराबर अलग रहनेका दावा करती है।

राज्यके आनेसे पहले एक जगह रहनेवाले एक वंशके परिवारों-का एक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक संगठन था। वह इस तरहके पड़ोसी संगठनसे बिल्कुल स्वतंत्र था; किन्तु *राज्यने* आते ही पहिले तो यह काम किया कि एक वंशके परिवार होनेका नियम हटाकर एक प्रदेशमें रहनेवाले अनेक वंशवाले, अनेक रङ्ग तथा संस्कृतिके अनेक तलवाले सभी लोगोंको एक राजनीतिक संगठनमें

बाँध एक जैसा नागरिक अधिकार दिया। एन्गेल्सने इसपर टिप्पणी करते हुए लिखा है—"कितने चिरव्यापी संघर्ष हुए होंगे, जब कि अथेन्स और रोममें ख़ूनपर अवलंबित पुराने संगठनको हटाकर नई व्यवस्था क़ायम रखनेमें सफलता हुई होगी।" भारतमें आर्य और दास, गोरे और कालेका सवाल उठाकर रुधिर-संबंधी संगठनको क़ायम रखनेके लिये बहुत कोशिश की गई; किन्तु कहाँ तक इसमें सफलता हुई, यह तो इसीसे मालूम होता है कि *जन* और *पितृसत्ता* युगके बारेमें यहाँ ऐसी ऐतिहासिक सामग्री नहीं मिलती, जिसमें सीधे तौरसे उस वक़्तका वर्णन हो; इसीलिये हमें उस कालकी जहाँ-तहाँ उपलब्ध ध्वनियोंसे *जन* और *पितृसत्ताक* समाजका अनुमान करना पड़ता है। यह हम कह चुके हैं कि आर्योंकी ऐतिहासिक सामग्री हमारे साहित्यमें उस वक़्तकी मिलती है, जब कि गंगाकी उपत्यकामें सामन्तवादी शासन और सामाजिक ढाँचा पूर्णतया स्थापित हो जाता है।

राज्य जिन नीच वैयक्तिक स्वार्थोंकी रक्षाके लिये स्थापित हुआ, उसे पाशविक शक्तिके बलपर ही बनाये रखा जा सकता था। *जन*-संगठनमें जनतासे अलग सेनाकी ज़रूरत न थी, क्योंकि वह जन-मत-पर निर्भर था, और ज़रूरत पड़नेपर हरएक हथियार उठाने लायक आदमी योद्धा बन सकता था। किन्तु, अपनेको जनतासे ऊपर, जनता-के सम्मिलित स्वार्थसे ऊपर माननेवाले राज्यके लिये यह संभव न था, इसलिये उसे अपने अस्तित्वके साथ सेनाके अस्तित्वको भी लाना पड़ा, और फिर इसके लिये जनतापर करका एक भारी बोझ पड़ना अनिवार्य था। यह ख़र्च हथियारोंकी कीमत और बाहरी प्रतिद्वन्द्वी शक्ति तथा भीतरी विरोधके साथ-साथ बढ़ता चलता गया, और पीछे तो वह यहाँ तक पहुँचा कि विशेषकर लगानेपर भी काम न चल सकनेके कारण भविष्यमें वसूल किये जानेवाले करपर भी क़र्ज़ लेनेकी नौबत आई।

राज्य समाजसे उत्पन्न होकर भी अधिकार और दबावमें उससे अलग है। जन-समाजकी सारी पंचायतका व्यक्तिपर जितना रोब न था, वह राज्य संस्थाके मामूली पुलीसके सिपाहीका है। क्योंकि सिपाही उस राज्यका पुर्ज़ा है, जो समाज और उस व्यक्तिके ऊपर है; यही बात जन-संस्थाके बारेमें नहीं कही जा सकती थी। राज्यका बड़े-से बड़ा शासक या सेनापति अपना रोब भले ही डाल ले, किन्तु वह जनताके उस असीम सम्मान और प्रेमका पात्र नहीं बन सकता जो कि जनके नायकोंको प्राप्त था। जनके नायक समाजसे ऊपर नहीं समाजसे अभिन्न थे, इसीलिये उनके लिये यह सम्मान था।

सामन्तवादी राज्यका कर्त्तव्य है किसानों, कर्ज़-खवारों और कमियों-को दबाकर रखना। वह सम्पत्तिवाले वर्गका संगठन है, जो कि सम्पत्ति-रहितोंको लोभ भरी दृष्टिसे अपने आस-पास देखनेसे बाज़ आनेके लिये बना है।

अब तकके वर्णनसे यह मालूम हो गया होगा कि राज्य अनादि-कालसे चली आई चीज़ नहीं है। मनुष्य समाज ऐसी अवस्थाओंसे गुजरा है, जब कि उसमें राज्य शासन न था। राज्यका आरम्भ वर्ग-भेदसे हुआ, और वर्गभेद मिटनेपर उसका मिट जाना ज़रूरी है। राज्यके मिटानेके लिये अराजकवादके प्रचारकी आवश्यकता नहीं, उसके लिये ज़रूरत है वर्गभेद मिटानेकी भारी प्रयत्न की।

८. धर्म, दर्शन और सदाचार

(१) *धर्म*—पितृसत्ता-युगमें भी प्राकृतिक शक्तियों और मृत पितरोंसे एक तरहके भयका संचार होता था। बुद्धने इस तरहके भयके पैदा होनेकी एक व्याख्या की है*—

---

*भयभेरव-सुत्त मज्झिम-निकाय ४, पृष्ठ १४।

"अमावस्या, पूर्णमासी और अष्टमीकी (रातोंमें)...मेरे पास मृग आता, या मोर काठ गिरा देता, या हवा पल्लवोंको फरफराती, तो मेरे (मनमें) होता—ज़रूर यह वही भय-भैरव आ रहा है।.... कोई-कोई ऐसे श्रमण-ब्राह्मण हैं, जो रात होनेपर भी उसे दिन अनुभव करते हैं, दिन होनेपर भी (उसे) रात अनुभव करते हैं। इसे मैं उन श्रमण-ब्राह्मणोंका *संमोह* † कहता हूँ।"

वस्तुतः, मनुष्यके इस प्रकारके भयका संमोह ही भूतों और देवताओंकी सृष्टिका कारण हुआ। प्रारम्भिक अवस्थामें मनुष्य इन भय-भैरवोंसे बचनेके लिये कुछ पूजा-बलि देता था। उस वक़्तके मानवका धर्म यहीं तक सीमित था। किन्तु, वर्गसमाज क़ायम हो जाने-पर उस सीधे-सादे धर्ममें बहुत-सी पेचीदगियाँ उठ खड़ी हुईं। इन पेचीदगियोंका कारण मनुष्यका सरल भय न था, बल्कि अब शासक वर्गने उस सरल विश्वासको अपने स्वार्थकी रक्षाके लिये इस्तेमाल करना शुरू किया। यदि हम हिन्दी-आर्योंके धर्म और देवावलीके विकासपर नज़र डालें, तो यह अच्छी तरह समझमें आ जायगा। हिन्दी-आर्य जब भारतमें आये तो उनका समाज पितृसत्ता था, जिससे जनकी परंपरा बिल्कुल विस्मृत न हो चुकी थी। उस वक़्तके देवता भी उनकी तरहके पितृ-सत्ताक समाज रखते थे, यद्यपि उनमें पितृसत्ताकी अपेक्षा जन-प्रभाव अधिक था। पृथिवीपर उस वक़्त पति-पत्नी संबंध स्थिर हो गया था, किन्तु देवलोकमें अब भी वह अनिश्चित था। देवांगनायें आमतौरसे वादेके अनुसार कुछ समयके लिये ही किसी एक देवताकी पत्नी बनती थीं; उसके बाद वह दूसरा पति चुनने-के लिये स्वतंत्र थीं। वेदके पुराने मंत्रोंमें ऋषि किसी एक देवताकी स्तुति करते जो सारे गुणोंको कह डालता है, उसका कारण यही है, कि इन्द्र, वरुण, सोमके अधिकारोंके छोटे-बड़े होनेकी सीमा

---

† hypnotization.

निर्धारित नहीं की जा सकी थी। जैसे-जैसे पृथिवीपर समष्टिके स्थानपर व्यक्तिका प्रभुत्व बढ़ता गया, वैसे ही वैसे देवताओंमें भी कभी (वैदिक कालमें) इन्द्र, कभी (उपनिषद् कालमें) ब्रह्मा, कभी (आर्य-अनार्यके धार्मिक समन्वयकालमें) शिव या विष्णुको सर्वोपरि बनाया गया। सामन्तयुगके मध्याह्न—गुप्तकाल—में तो देवलोक मृत्युलोकका ही एक भव्य काल्पनिक रूप बन गया। इससे दो बातें हुईं, एक मानवके 'देवता' बननेकी कोई रुकावट नहीं रही, कृष्ण वासुदेव जैसे सोलह हज़ार रानियोंवाले उन्मुक्त रासलीला-प्रेमियोंको देव नहीं परमदेव या परमेश्वर बननेमें अब कोई रुकावट न थी।

वैदिक कालके वर्गसमाज, उसके भीतरी स्वार्थोंकी टक्कर तथा ऊँच-नीचके खयालसे जो विद्वेष, ख़ासकर निम्न वर्गमें, उठ रहा था, उसे पिछले वेद-मन्त्रोंमें शरीर और उसके सिर, हाथ, जाँघ तथा पैरके दृष्टान्तसे समझानेकी कोशिश की गई, किन्तु लोग इतने भोले न थे। तब कहा जाने लगा छुटाई-बड़ाई ईश्वरकी मर्ज़ी और पहले जन्मके कर्मोंके कारण है। वेदमें परलोक तो है, किन्तु पुनर्जन्मका खयाल न था। आदमी दुनियामें आता है। अच्छा-बुरा काम करता है। मरने-पर कर्मानुसार स्वर्ग या नर्कमें जाता है। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मों-में भी इसी तरह मामला खतम कर दिया जाता है। किन्तु, इस दुनियामें आदमी छोटा-बड़ा, धनी-ग़रीब क्यों है, इस प्रश्नका उत्तर इससे नहीं होता था। इससे ईश्वरपर मनमाने पक्षपातका दोष लगता था, जिसे दूर करने और समाजकी आर्थिक विषमताको जायज़ साबित करनेके लिये उपनिषद्के ऋषियोंने पुनर्जन्मका सिद्धान्त निकाला। धनी क्यों है?—क्योंकि पहले जन्ममें उसने दान-पुण्य अच्छा काम किया था। कोई ग़रीब क्यों है?—क्योंकि उसने पहले जन्ममें बुरा काम किया। राजा क्यों है?—क्योंकि उसने पहले जन्ममें ज़बर्दस्त तपस्याकी थी। समाजकी वर्त्तमान व्यवस्थाको क़ायम रखनेके लिये पुनर्जन्मके

रूपमें जितना ज़बर्दस्त हथियार हिन्दुओंने निकाला, उतना किसी और ने नहीं निकाल पाया। हिन्दुस्तानमें सामाजिक परिवर्त्तनको रोकनेमें इस ख्यालने बहुत रुकावट डाली है, इसमें सन्देह ही नहीं।

मिश्रके अति प्राचीन धर्मकी परलोक-सम्बन्धी शिक्षाके बारेमें एक लेखकने लिखा है*—

"हरएक आदमी परलोकमें अपने किये कामोंका ज़िम्मेवार ठहराया जायगा। यह विश्वास एक बहुत ज़बर्दस्त सामाजिक नियन्त्रण था ...। (धर्मात्मा होनेके लिये) उसे सिद्ध करना होगा कि हमने उन सामाजिक अधिकारोंको सदा माना जो कि सम्पत्तिके सम्बन्धमें माने गये हैं।"

आज जितने धर्म विद्यमान हैं—हिन्दू, बौद्ध, जैन, यहूदी, ईसाई, इस्लाम—सभी सामन्तवादी युगकी उपज हैं, और सामन्तशाही सामाजिक ढाँचेके सदा पोषक रहे हैं। यह भी स्मरण रहना चाहिये कि मुक्तिका निराकार रूप उस वक्त कल्पित किया गया, जब कि भौतिक साकार सत्य अज्ञेय-कल्पनाका बाधक होने लगा, और दर्शनका विकास आरम्भ हुआ। सभी धर्मोंके स्वर्ग एक समृद्धिशाली सुखी सामन्त-परिवारकी कल्पना है। हिन्दुओंके वैकुण्ठको ले लीजिये—रनिवासकी तरह वहाँ सुर-सुंदरियोंका झुंड है। उनके, न मैले होनेवाले सुंदर वस्त्र, बहुमूल्य रत्न-जटित आभूषण, पुष्प और सुगंधसे सुवासित शरीर, नृत्य, गान, सुराकी महफ़िलें सभी किसी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके रनिवासके भव्य चित्र हैं। रामानुजके "वैकुंठ गद्य"को पढ़िये, वह कुछ संयत भाषामें एक भयभीत दर्बारी कवि द्वारा किसी हर्षवर्धन, किसी राजेन्द्र चोलके अन्तःपुरका वर्णन है। पहिले आमतौरसे देवता एक ही पत्नीपर सन्तुष्ट थे; बल्कि देवांगनायें सदा नव-विवाहिता

---

*The Development of Social Thought (Emory S. Logardus) p. 40.

रहनेका अधिकार रखती थीं, किन्तु यहाँ रामानुजने अपने पहिलेके आचार्योंके मतानुसार लक्ष्मीको विना सपत्नीके रहने नहीं दिया। विष्णु-की एक जाँघको सूनी देखना उन्हें पसन्द नहीं आया, और नीला देवी-को लाकर वहाँ बैठाया।

बौद्ध और जैन देवलोकसे इन्कार नहीं करते, यद्यपि उनका निर्वाण और सिद्ध शिला उससे कहीं ऊँचा स्थान रखते हैं। इनके देवलोकमें ईसा-पूर्व पाँचवीं-छठवीं सदीके सामन्तोंके सुख-विलासका चित्र है। पालीमें * शक्र (इंद्र) के बुद्धके पास आनेकी एक कथा आई है। शक्र अपने दर्बारसे उठकर अपने दर्बारी उस्ताद संगीताचार्य पंचशिखको साथ लिये बुद्धके पास गया। बुद्ध किसी पहाड़ी गुफामें बैठे थे। उसने पंचशिखको अपने संगीत द्वारा बुद्धको प्रसन्न करनेके लिये कहा। पंचशिखने वीणा उठाई और अपने निजी प्रेमके पद्यको गाना शुरू किया—

"भद्रा सूर्यवर्चसा, तेरे पिता तिम्बरूकी मैं वंदना करता हूँ, जिससे हे कल्याणि, मेरी आनंददायिनी तू पैदा हुई।

"जैसे पसीना चूते थके आदमीके लिये वायु, प्यासेके लिये पानी वैसे ही तू मुझे प्रिय है।

"जैसे रोगीको दवा, भूखेको भोजन, जलतेको पानी वैसे ही भद्रे! मुझे शान्ति प्रदान कर, कल्याणि! गले मिल, यही मेरी चाह है।...."

बुद्धके पूछनेपर पंचशिखने कहा—"(एक समयमें तिम्बरू गन्धर्वराजकी कन्या भद्रा सूर्यवर्चसापर आसक्त था", किन्तु वह किसी दूसरे (तरुण) मातलि सारथीके पुत्र शिखंडीको चाहती थी। जब मैं उसे नहीं पा सका, तो किसी वहाने तिम्बरूके घर जा वीणा वजा गाने

---

*सक्कपन्ह-सुत्त (दीघनिकाय, २।८, पृष्ठ १२२)

लगा।" पंचशिखके गानेमें बुद्धकी प्रशंसा थी, इसलिये प्रसन्न हो भद्राने कहा—"उन भगवानको मैंने प्रत्यक्ष तो नहीं देखा, किन्तु त्रायस्त्रिंश इन्द्रलोकके देवताओंकी सभा में जब मैं नाचने गई थी, तो उन भगवान्के विषयमें मैंने सुना था। मित्र! तुम उन भगवान्का कीर्त्तन करते हो, इसलिये आज (हम) दोनोंका समागम हो।" पंचशिखने बातको समाप्त करते हुए कहा—"उसके साथ वही एक समागम हुआ, उसके बाद फिर कभी नहीं।"

इस उद्धरणसे मालूम होगा कि देवलोकके प्रेम, नृत्य आदि वैसे ही हैं जैसे कि बुद्धके समकालीन अजातशत्रु या उदयनका राजसी जीवन। हाँ, भद्राका स्वच्छन्द प्रेम तत्कालीन स्त्रियोंमें गणिकाओंको ही सुलभ था, यदि उसे प्रेम कह सकें।

इस्लामकी जन्नत (स्वर्ग)के अंगूरके बाग़, ठंडी छाया, बहती नहरें, सत्तर-सत्तर मोतीकी सी आँखोंवाली सुंदर हूरें तत्कालीन ईरानीशाह खुश्रो पर्वेज (५६०-६२८६) या रोम-सम्राट् मोरिश् (मृत्यु ६०२)के राजमहलमें देखी जा सकती थी। ईसाइयों और यहूदियोंका स्वर्ग भी इसी तरह सामन्तोंके भोग-विलासपूर्ण जीवनका खाका है।

(२) दर्शन—आदिम मानव-समाजमें मानवका जीवन अपनी शरीर-यात्रा जारी रखनेके लिये श्रम करनेमें ही खर्च हो जाता था। उस वक्त मानव श्रमकी शक्ति इतनी बढ़ी नहीं थी कि वह एक दिन कमाये और चार दिन खाये; अथवा दो आदमी कमायें और एक आदमी उनके बचे हुए श्रम-फलसे गुज़ारा कर सके। इसीलिये उस वक्त विचारक वर्ग नहीं था। जब पीछे उत्पादनके साधनोंमें विकास हुआ, श्रमकी उत्पादन-शक्ति बढ़ी, तो ऐसे वर्गकी सृष्टि हुई जो बहुसंख्यक जाँगर चलानेवाली जनताके अतिरिक्त श्रमसे अपनी जीविका चला सकता था, और उसे इसके लिये खुद शारीरिक श्रम करनेकी

आवश्यकता न थी। इसी शारीरिक-श्रम-वियुक्त वर्गने श्रमकी देखभाल, शासन-संचालन, न्याय, दर्शन, विज्ञान, कला, धर्म आदिकी ज़िम्मेवारी अपने सिरपर ली, अथवा ख़ाली वक़्तमें इन चीज़ोंका संचालन और सृजन शुरू किया। इस तरह दर्शन, कला, विज्ञान श्रम-मुक्त वर्गकी चीज़ ही नहीं हो गई, बल्कि आगे चलकर यह उन्हींकी पुश्तैनी चीज़ या बपौती बन गई।

प्राचीन यूनानमें, जब हेराक्लितु और अफ़लातूँ अपने दर्शनका निर्माण कर रहे थे, उस वक़्त सारे समाजका जीवन दासोंके श्रमपर निर्भर था। ये दास बड़े-बड़े दासपतियोंकी चल सम्पत्ति थे, जिन्हें कि दर्शनके उस भव्य-युगमें बैल-घोड़ेकी भाँति बाज़ारमें बेंचा जा सकता था। हेराक्लितु समाजके भीतरके संघर्षको देख रहा था, और यह भी समझ रहा था कि नव-निर्माणमें उसका कितना हाथ है, इसीलिये उसने घोषित किया था—"संघर्ष सभी घटनाओंकी माँ है।" हेराक्लितु (ई० पू० ५३५-४२५) खानदानी अमीरोंके घरमें पैदा हुआ था, किन्तु अथेन्समें उस वक़्त व्यापारियोंका ज़ोर था, इसलिये वह समाजके परिवर्त्तनको देख-समझ सकता था। शायद वह यह भी चाहता हो कि समाजमें परिवर्त्तन उस दिशामें हो, जिससे व्यापारियोंकी प्रभुता कम हो जाय। अफ़लातूँ ऐसे समयमें पैदा हुआ था, जब कि दारयोश् (ई० पू० ५८१ ४८५) और क्षयार्श (ई० पू० ४८५-६६)की चढ़ाइयोंसे यूनानकी अपार जन-धनकी हानि ही नहीं हुई थी, बल्कि उसके बाद अथेन्सके प्रजातंत्रका वह तरुण और आशापूर्ण जीवन निराशामें बदल गया था। अफ़लातूँ इस दुनियासे बेहतरीकी आशा खो चुका था, इसलिये उसने अपने दर्शनमें एक और दुनियाकी कल्पना की। वास्तविक दुनिया ही उसके लिये अ-वास्तविक-अनित्य सारे दोषोंसे पूर्ण थी; दूसरी इन्द्रियोंसे परेकी विचारमयी अभौतिक दुनिया वास्तविक, नित्य और पूर्ण थी। अफ़लातूँपर तत्कालीन समाजके द्वन्दका असर था। उसने दो

प्रतिद्वन्दी वर्गोंके संघर्षकी जड़में जाकर उनके विश्लेषण या चिकित्सा-का दूसरा ही तरीक़ा निकाला। यह द्वन्द्वकी दुनिया ही अवास्तविक है, फिर उसकी व्याधिकी चिकित्साकी ज़रूरत क्या ? उसने इस संघर्षसे आँख मूँदकर अपनी उस काल्पनिक 'सत्य-शिव सुन्दर' दुनियाकी ओर लोगोंको ले जाना चाहा। उसके इस दर्शनसे फ़ायदा किसको हुआ ? सम्पत्तिवाले शोषक वर्गको। क्योंकि उनके प्रतिद्वंदियोंके उत्साहपर यह दर्शन पानी डालनेका काम करता था—चंद दिनोंकी ज़िन्दगीके लिये क्या ज़रूरत है संघर्ष करने की, हमें शाश्वत जगतकी ओर ध्यान देना चाहिये। दर्शनके सम्बन्धमें हमने अलग* लिखा है, इसलिये यहाँ ज्यादा कहनेकी ज़रूरत नहीं। असल बात तो यह है कि दार्शनिक जिनकी मेहनतकी कमाई खाकर जीविकासे निश्चिन्त हो अपने विचारोंकी उड़ानमें सफल होते थे, उसी वर्गको उनके विचारोंने सबसे ज्यादा नुक़सान पहुँचाया—चाहे यह बात जानकर की गई हो या अनजाने, किन्तु हुआ ऐसा ही है; वर्गोंके हितकी दृष्टिसे देखनेपर हम यूनानी दार्शनिकोंके विचारोंका परि-णाम यही देखते हैं। शोषक वर्गने अपनी अनुचित सम्पत्ति और भोगोंको देवी-देवताओंकी कल्पनाओं और उनपर आश्रित धर्म द्वारा उचित साबित करनेकी कोशिश की। कुछ समय तक वह चला; किंतु फिर मनुष्यके ज्ञानमें और विकास हुआ। वही देवता और धर्म सभी देशों और जातियोंमें ध्रुव सत्यके तौरपर नहीं स्वीकार किये जाते थे। सन्देह पैदा होना ज़रूरी था। इस बुद्धि-स्वातंत्र्यको रोकनेके लिये किसी उपायकी ज़रूरत थी और वह यही दर्शन है। धर्मसे अपनेको ज़बर्दस्त समझनेका जिसे अभिमान था, उस बुद्धिके सामने दर्शनके रूपमें ऐसी भूलभुलैयाँ तैयार की गईं, जिससे निकलनेका उसे रास्ता ही न मिले।

---

*देखिए "दर्शन-दिग्दर्शन"

भारतीय दर्शन सारा ही सामन्तवादी युगकी देन है और यहाँ भी वह यूनानी-दर्शनकी ही भाँति श्रममुक्त, जीविकासे निश्चिन्त व्यक्तियोंके चिन्तनका फल है। बल्कि यहाँ तो उसके आरम्भिक निर्माणमें सामन्तोंका अपना सीधा हाथ रहा है—उपनिषद्के दर्शनके निर्माणमें प्रवाहण, जनक, वैदेह, अश्वपति, कैकय आदि राजाओंका ज़बर्दस्त हाथ ही नहीं रहा है; बल्कि यज्ञ-बलिकी दक्षिणाओंके लोभमें अंधे पुरोहित (ब्राह्मण)-वर्गको जब जनताके बढ़ते हुए अनुभवसे उत्पन्न अविश्वास दिखलाई नहीं पड़ता था, तब कर्मकांडको कमज़ोर डेंगी कहकर ब्रह्मज्ञानकी भूलभुलैयाँ तैयार करनेवालोंमें सामन्तों (क्षत्रियों)का प्रधान हाथ था। वैदिक ऋषि यथार्थवादी थे। वह दुनियाको जैसा देखते थे, वैसा मानते थे, और उससे अधिक-से-अधिक सुख-आनन्द उठाना चाहते थे। उनका जीवन-लक्ष्य घर, बाल-बच्चे छोड़ जंगलकी ओर भागनेका न था, बल्कि "पुत्रों-नातियोंके साथ आनन्द करते हुए अपने घरमें रहना"* वह अपना ध्येय समझते थे। भंग (सोम)के दूध-मधु मिले प्यालेको पीते हुए कहते थे—"सोम पिया और हम अमर हो गये।"§

ब्राह्मणोंके यागोंमें होता क्या था? जन-युगमें सारा जन-संघ एकत्रित हो खाना-पीना, गाना-नाचना करता था। वह अभी देवताओंको एक ऊँचे दर्जेके मनुष्य-जैसा मानते थे; इसलिये अपने इस आमोद-प्रमोदमें देवताओंको भी शामिलकर उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना चाहते थे। जन-संघके लिये तैयार करके रक्खे हुए भंग (सोम)-के प्यालोंको दिखलाते हुए वह अपने बड़े देवता इन्द्रको आवाहन करते थे—"इन्द्र, आओ, यह सोम सजाये हुए हैं, इन्हें पियो और

---

* "क्रीड़न्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानः स्वे दमे।"

§ "अपाम सोमममृता भवेम।"

(अपनी) तारीफ़ (के गीत) सुनो ।‡" मालूम होता है, कोई लड़ाकू कबीला इकट्ठे होकर पान-गोष्ठी रच रहा है और उसमें अपने विजयी सरदारको आवाहनकर उसकी विजयोंके गीत गा रहा है। एक काल था, जब कि यज्ञोंमें की जानेवाली क्रियाएँ आर्योंके जीवनके सजीव समारोह थे। आर्य स्त्री-पुरुष बैल या बकरेको अपने हाथसे मारते, उन्हें भूनते या बघारते थे। फिर सोम-रस (भाँग)के साथ भोजन करनेसे पहले कृतज्ञतामें अपने देवताओं—प्राकृतिक शक्तियों या मृत पितरों—को आनन्दमें सम्मिलित करते हुए महोत्सवको शुरू करते थे—खान-पान, और फिर स्त्री-पुरुषोंका मिलकर नृत्य। लेकिन जब आर्य दूसरी जातियोंके पड़ोसमें और अक्सर अल्पसंख्यामें रहने लगे; उनका पशु-पालन-प्रधान-जीवन कृषि तथा दूसरे शिल्पों और व्यवसायोंसे आकीर्ण हो गया, तो वह बीते दिन नहीं लौट आ सकते थे। इसीलिये अब ये महायाग सिर्फ़ पुराने महोत्सवोंकी निर्जीव नक़ल तथा पुरोहितोंकी आमदनीका एक ज़रिया मात्र रह गया। इसलिये विकासमें आगे बढ़े समाजको वह सन्तोष नहीं दे सकते थे। यह था कारण कर्मकांड-विरोधी उपनिषद्के ब्रह्मवादके उत्थानका।

पुनर्जन्मका सिद्धान्त पहिले-पहल हमें उपनिषद्में दिखाई पड़ता है। यह वेदके परलोकमें 'अमर' होनेकी जगह इसी लोकमें आवागमनपर ज़ोर देता था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह वर्ग-विभक्त समाजके ढाँचेको अक्षुण्ण रखनेके लिये ज़बर्दस्त तरीक़ा था। पुरोहितोंको चाँदी नहीं सोनेकी दक्षिणा* दे देकर किये गये बड़े-बड़े यज्ञोंका फल यदि सिर्फ़ देवलोक हीमें देखा जा सकता है, तो

‡ "इन्द्र आयाहि वीतये, इमे सोमा अरंकृताः। एषां पाहि श्रुधी हवम्।"

* "वर्हिषि रजतं न देयम्" ("यज्ञमें चाँदी नहीं देनी चाहिये")।

वह काफ़ी सन्तोषका विषय नहीं था। इसलिये कहा गया कि इसी लोक-में जो किसीको महाधनी और महाभोगवाला देखते हो, यह पूर्व-जन्मकी कमाई है। यह एक ढलेसे दो चिड़िया मारना था—ब्राह्मणोंकी आमदनीके बड़े रास्ते दान और यज्ञके फलको यहीं समाजमें दिखलाना, तथा समाजकी असमानताको जायज क़रार देना। पुनर्जन्मके सिद्धान्त द्वारा पीड़ित वर्गको बतलाया जाता था कि इसी जन्मको सब कुछ मत समझो, इसलिये सामाजिक विषमताको हटाने, दरिद्रता दूर करनेकी कोशिश मत करो। दरिद्रता सिर्फ़ भगवान्‌की मर्जीसे ही नहीं है, बल्कि इसके जिम्मेवार तुम्हारे अपने पूर्वके कर्म हैं। तुम्हें दूसरेकी सम्पत्तिको देखकर डाह नहीं करना चाहिये। समाजमें धनी-निर्धन-वर्ग शाश्वत है, क्योंकि इसी द्वारा शुभ-अशुभ कर्मोंका फल मिलता है। तुम्हें चट्टानसे सर टकरानेकी जगह चाहिये कि तुम भी अच्छे-अच्छे काम करो, दान-पुण्य, यज्ञ-याग करो, जिसमें अगले जन्ममें राजा या धनाढ्य कुलमें जन्म ले तुम भी इन सारे भोगोंके अधिकारी बनो।

पुनर्जन्मके आविष्कारके साथ स्वर्ग-लोगका ख्याल छोड़ नहीं दिया गया, तर्कसमें उस पुराने तीरको भी बना रहने दिया गया। इस प्रकार उपनिषद्-कालके सामन्तवादने विकसित बुद्धिवालोंको तो ब्रह्मवाद, 'नेति नेति' और 'अज्ञेय'के चक्करमें डाल दिया; और वास्तविक जगत्‌के अस्तित्वके साथ उसकी समस्याओंको हमेशाके लिये तुच्छ, निस्सार बतला उनके प्रयत्नको एक दूसरे ही रास्तेमें डाल दिया। बाकी साधारण जनताको स्वर्ग और पुनर्जन्म सामाजिक विद्रोहके पथसे हटानेके लिये काफी थे। भिन्न-भिन्न स्वदेशी और विदेशी धर्मों-के टक्करसे धर्मोंसे ही कहीं लोगोंकी आस्था न हट जाय, इसके लिये 'नदिया एक, घाट बहुतेरे'का नारा बुलंद किया गया; और हर तरहके धर्मोंके प्रति सहिष्णुता तथा देश-काल देखकर उनके औचित्यको सिद्ध किया गया।

भारतमें पीछेके धार्मिक विकासपर ग़ौर करनेसे कुछ और बातों-का भी पता लगता है। उपनिषद्‌का ब्रह्म-ज्ञान आर्योंके दिमाग़की उपज थी। अभी उस वक्त तक रंगका प्रश्न—आर्य-अनार्यके ऊँच-नीच होने या आर्थिक स्वार्थोंका विरोध—खतम नहीं हुआ था। इसलिये इसका भी हल निकालना ज़रूरी था। यह काम वाणिज्यके उत्कर्षने किया। व्यापारी वर्गमें खुद बहुसंख्यक लोग अनार्य या मिश्रित (संकर) जातिके थे। वाणिज्य-युगके पहिले वह या तो कोई शिल्प (तेल, शराब, खान-पान, सोना-चाँदी आदि,का काम करते थे, या सीधे-सादे किसान थे। वणिक्-वर्गमें कितनी ही ऐसी जातियाँ भी शामिल हुईं, जो वर्ण-व्यवस्था विरोधी व्रात्य प्रजातंत्रों (गणों)की नागरिक थीं—अग्रवाल, अग्रहरी, रोहतगी या रसतोगी आदि जातियाँ इन्हींमें हैं। वणिक-वर्ग शान्तिका पुजारी होता है, यह हम बतला आये हैं; इसलिये वर्ण-संघर्ष वर्ग-संघर्षके खिलाफ जो भी खयाल पैदा हों, उसका समर्थन करना इसके लिये स्वाभाविक था। इसीलिये वैश्य-वर्ग बौद्ध और जैन धर्मों-का पोषक और संरक्षक बना यह बतला चुके हैं।

बौद्ध, जैन तथा दूसरे धार्मिक सम्प्रदायोंने ईसा पूर्व छठीं सदीसे जो रंग-वर्ग-समन्वयका आन्दोलन शुरू किया, वह धीरे-धीरे इतना प्रबल हो गया कि पुराने पुरोहित (ब्राह्मण)-वर्गको अपना अस्तित्व खतरेमें दिखलाई देने लगा। उन्होंने आर्योंके आगमनसे—वेदसे उपनिषद्-काल हो—चले आते रंगके प्रश्नको नरम किया, अनार्य देवताओं, अनार्य धार्मिक विचारों और परम्पराओंके बायकाटकी नीतिको छोड़ा, और चौथी सदी ईसवीमें गुप्त-साम्राज्यकी स्थापनाके साथ सर्व-समन्वयका रास्ता अख्तियार किया। पुनरुज्जीवित ब्राह्मण या हिन्दू-धर्मकी यही नई विशेषता थी, जिसने उसकी हिलती इमारत-को बचा लिया। वर्गोंमें रंगके प्रश्न हीको हटा दिया गया—पिछले दो-ढाई हजार वर्षोंमें रक्तसम्मिश्रण इतना हो चुका था कि

गौर होना सिर्फ़ ब्राह्मणके ही लिये नहीं रह गया था। जहाँ बुद्धके समय (५०० ई० पू०) हम सोणदंड ब्राह्मणको ब्राह्मण बनानेवाली बातोंमें गौर वर्ण होनेकी प्रधानता स्वीकार करते देखते हैं*, वहाँ अब वह गुण, कर्म, स्वभावपर आश्रित माना जाने लगा, और रंग-को बिल्कुल हटा दिया गया। नये सुधारने चार वर्णोंकी संख्या यद्यपि चार ही रखी, किन्तु अब वर्णोंका द्वार खोल दिया गया था। पुरोहित-वर्ग जिस किसी आर्य, अनार्य या संकर, अथवा प्राचीन या नवागत जातिको ऊँचे वर्णमें डाल सकता था। यज्ञ-यागकी आमदनी तो ब्राह्मणोंके लिये अब ज़रूर कम हो गई थी, किन्तु उसके बदलेमें जो अधिकार उन्हें मिले, वह उससे कहीं अधिक शक्ति और सम्पत्तिके वाहक थे। अब भिन्न-भिन्न जातियोंके ऊँच-नीच होनेके झगड़ों—जो कि सिर्फ़ भावुकतापूर्ण झगड़े मात्र न थे, बल्कि उनके फैसलेपर उनका आर्थिक जीवन निर्भर था—अन्तिम निर्णय ब्राह्मणोंके हाथमें था। इसी महान् समन्वयके युगमें शक, यवन जैसी नवागत शासक-जातियों-का बहुत-सा भाग क्षत्रिय और कुछ ब्राह्मणमें भी शामिल हुआ। आभीर (अहीर), जट्ट, गुर्जर आदिमें जो प्रभुताशाली थे, उन्हें क्षत्रिय-वर्णमें स्थान मिला। स्मरण रखना चाहिये कि जिस पुरानी वर्ण-व्यवस्थापर बौद्धों और जैनोंके जबर्दस्त प्रहार शताब्दियों तक होते रहे, और उन्होंने क्रियात्मक रूपसे वर्ण-भेदको हटा स्वदेशी-विदेशी अ-द्विजोंको समाजमें समान स्थान दिलाना शुरू किया था, वही ब्राह्मणों के इस परिवर्त्तनका प्रेरक कारण हुआ। लेकिन यह सारा सुधार इस तरह किया गया कि उनके विचारोंका पुराना स्तर बिल्कुल नष्ट न होने पाये, जिससे कि समाजकी गहराई तक उसका असर न होने पाये।

सबको मिलाकर देखनेपर मालूम होगा कि धर्मने सभी देशोंमें

---

*सोणदंड-सुत्त (दीघनिकाय १।४, पृष्ठ ४५)

सामन्तवादी समाजके ढाँचेको क़ायम रखने तथा शासक-वर्गके स्वार्थ-की रक्षाके लिये ढालका काम किया। उसने समय-समयपर नवीनता या नये सुधार स्वीकार किये, किन्तु वह भी इसीलिये कि भीतर भड़क रही आग कहीं समाजके ढाँचेके साथ शासक-वर्गको ही भस्म न कर दे।

सारा भारतीय दर्शन (जो कि उपनिषद्के अज्ञेय रहस्यवाद, बुद्ध क्षणिक विज्ञानवाद और यूनानी परमाणुवादके समागमसे बना है) सामन्तवादी समाजके वर्ग-हित द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे प्रेरित हो अस्तित्वमें आया। भारतीय दर्शनपर हम अन्यत्र कहनेवाले हैं, इसलिये यहाँ इतने हीपर बस करते हैं।

(३) *सदाचार*—हत्या, चोरी, यौन दुराचार और मिथ्या-भाषण न करना सदाचार है। जिनमें मिथ्या-भाषणपर आदिम मानव जोर ही नहीं देता था, बल्कि उसके लिये यह अस्वाभाविक चीज़ थी कि मनमें दूसरी बात रखते हुए बाहर दूसरी बात कही जाय। चोरीकी भाँति मिथ्या-भाषणकी कला भी मनुष्यने बड़े प्रयत्नके साथ पीछे विकसित की। भय या लोभ-वश तुरन्त झूठ मुँहसे निकल आना आसान है, किन्तु इतने हीसे काम नहीं चल सकता। हरएक झूठको याद रखनेकी कोशिश करनी पड़ती है, ताकि पीछे कोई विरुद्ध बात न निकल आवे, जिससे पहिलेका झूठ पकड़ा जावे। इतनी मानसिक दिक्कत उठाना आदिम मानवके लिये उससे कहीं अधिक असह्य था, जितना कि सच बोलनेपर उसे दंड सहना पड़ता। आज भी आदिम अवस्थामें पाई जानेवाली जातियाँ बहुत कम झूठ बोलती हैं, और जो कुछ झूठ उन्होंने सीखा है, वह अधिक सभ्य जातियोंके सम्पर्कमें आ हीकर। वस्तुतः झूठ भी वर्गवादी समाजकी उपज है। वह दिखलानेके लिये चाहे कितना ही चिल्ला-चिल्लाकर झूठके खिलाफ़ लेक्चर दे, किन्तु जिस वैयक्तिक सम्पत्ति और वर्ग-स्वार्थपर उसकी नींव है, वह झूठको अपने हाथसे जाने नहीं दे सकती। शायद झूठके औचित्यको स्वीकार

करनेवाले सबसे पहिले बनिये थे, जिन्हें चीज़ोंके भाव बतलानेमें उससे अधिक लाभ था।

चोरीका तो आधार ही वैयक्तिक सम्पत्ति है। चोरीकी व्याख्या निर्भर करती है, सम्पत्तिके स्वामित्वकी व्याख्यापर। किसीके स्वत्वका अपहरण चोरी है यह कहकर छुट्टी नहीं मिल सकती है, आखिर किसी चीज़पर किसी व्यक्तिका स्वत्व क्यों होता है? यदि हम विचार-पूर्वक देखें, तो मालूम होगा कि कोई छोटीसे छोटी चीज़ भी नहीं है, जिसके बारेमें कहा जा सके कि वह सिर्फ़ एक आदमीके हाथ या दिमाग़के श्रमसे बनी है। आदमीके हाथको उस चीज़के बनानेमें तथा दिमाग़को उसकी तदबीर या योजना सोचनेमें चतुर बनानेमें सबसे बड़ा हाथ समाजका रहा है, इसलिये समाजके स्वत्वको इन्कार करना ईमानदारी नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि सामाजिक स्वत्व तो सभी चीज़ोंमें समान रूपसे है, स्वत्वमें जो विशेषता है, वह व्यक्तिकी है, तो यह भी ठीक न होगा; क्योंकि सामाजिक स्वत्व कहकर उसे छोड़ जानेसे समाजको उसका फल नहीं मिल जाता। दूसरा प्रश्न यह है कि कोई व्यक्ति किसी चीज़पर अपना स्वत्व कैसे स्थापित करता है? यदि, निर्माण द्वारा कहा जाय, जो कि है भी दुरुस्त, तो आजके सम्पत्ति-के स्वामी प्रायः सारे ही चोर ठहरते हैं, वह पराये स्वत्वका अपहरण करते हैं। सामन्तवादी समाज ऐसी व्याख्या क़बूल करके अपने पैरोंमें आप कुल्हाड़ी मारनेके लिये क्यों तैयार होने लगा? उसने 'पर स्वत्व-अपहरण'से आगे बढ़ना नहीं चाहा, क्योंकि उसे विश्वास था कि उसीके चिरव्यापी प्रयत्नोंसे स्वत्वका एक अर्थ साधारण जनता समझ गई है; जिससे उत्पादनमें हाथ न लगानेवाले भी सम्पत्तिके स्वामी बन गये हैं। सारांश यह कि चोरीके न करनेको सदाचारमें इसलिये लिया गया कि जिसमें बिना काम किये अन्यायसे संचित वैयक्तिक सम्पत्तिकी ओर कोई आँख न उठाये।

*यौन-दुराचार*को भी भारी पाप घोषित किया जाता है, किन्तु यौन-दुराचारकी सीमा निर्धारित करनेमें फिर मनमानी की जाती है। यौन-दुराचार एक सापेक्ष चीज़ है, जिसका मान सभी समाजों, सभी देशों और सभी कालोंमें एक-सा नहीं होता। यूरोपमें सपत्नी विवाह या विवाहिता स्त्रीसे यौन-सम्बन्ध दुराचार है, भारतमें वह कृष्ण, दशरथ, जैसे सत्पुरुषोंके वक़्तसे चला आया सदाचार है। यूरोपमें, और आजके भारतमें भी, एक स्त्रीका अनेक पुरुषोंके साथ यौन-संबंध किसी तरह उचित नहीं समझा जाता; किन्तु हम जानते हैं, द्रौपदीके पाँच पति थे, तब भी वह प्रातःस्मरणीय 'पंच कन्याओं'में थी। तिब्बत और हिमालयकी कुछ दूसरी जातियोंमें आज भी एक स्त्रीके अनेक पति—सभी भाइयोंकी एक पत्नी—की प्रथा है, और वहाँके समाजको स्वप्नमें भी ख्याल नहीं होता कि यह दुराचार है। वहाँके संभ्रान्त, शिक्षित सामन्त भी अपने बापों या माँके पतियोंकी संख्या बतलानेमें नहीं हिचकिचायेंगे, जैसे कि द्रौपदीके पाँच पुत्र न हिचकिचाते।

कहा जा सकता है कि समाजने जहाँ जैसा मान लिया वहाँ वही सदाचार है। फिर तो यौन-दुराचार रही नहीं जायगा, क्योंकि पुरुषके लिये वेश्यागमन समाजने मान लिया है, वेश्याका पेशा समाज-द्वारा अनुमोदित पेशा है, और वेश्यागामीको समाज किसी तरहका दंड देनेके लिये तैयार नहीं है—वह न उसका सामाजिक बहिष्कार करता है, और न उसके लिये कोई राजदंड नियत है। ज्यादासे ज्यादा वह यही कह सकता है कि इस दंडको परलोकपर खुदाके हाथमें छोड़ रखा गया है। लेकिन चोरीके बारेमें समाजने यह नीति नहीं अख्तियार की! यौन-दुराचार और सम्पत्तिका चोली-दामनका संबंध है। चाहे कितने भी दुराचारी क्यों न हो, सम्पत्तिके स्वामी ही समाजके चौधुरी बनते हैं; इससे साफ़ है कि यौन-सदाचार सिर्फ़ धोखेकी टट्टी है। सामन्तवादी भला कब उसका पालन कर सकता था, जब कि उसीने

पहिले-पहल वेश्या-वृत्तिको जन्म दिया—पैसेपर शरीरको बेंचना स्त्रीके लिये सामन्तवाद हीने सम्भव किया। यौन-सदाचारका नमूना देखना हो तो प्राचीन और आजके सामन्तोंके रनिवासोंको देखिये।

हत्या बड़े दुराचारोंमें है। कहीं मनुष्य-हत्या तकको ही बुरा कहा गया है, और कहीं प्राणिमात्रकी हिंसाको निषिद्ध ठहराया गया। सामन्तवादी शासनने पहिले-पहल सेनाका संगठन किया, उसीने दूसरी जातिकी धन-धरतीके अपहरणको उचित ठहराया, फिर उसके मुँहसे निकला यह हत्याका विरोध एक ढोंगके सिवा और क्या हो सकता है? निरर्थक और सार्थक हत्या कहकर व्याख्या करनेकी कोशिश की जा सकती है; किन्तु उसका अर्थ यही होगा कि अधिकारारूढ़ वर्गके स्वार्थोंके लिये हत्या—राज्यानुमोदित हत्या—वैध है। सामन्त-युगमें एक समय था जब कि चोरीकी सज़ा मृत्यु-दंड थी—अर्थात् वैयक्तिक सम्पत्तिकी रक्षाके लिये मनुष्य-हत्या जायज़ थी। सच तो यह है कि सारा सामन्तवाद ही अपने समयकी प्रसिद्ध कहावत 'मत्स्य-न्याय' (एक मछली दूसरी मछलीको खाती है) पर निर्भर था, उसने यदि हत्याका विरोध किया, तो वह सिर्फ़ दिखलावेके लिये था, या वह पहिले युगोंसे चली आती आवाज़की प्रतिध्वनि मात्र थी।

६. स्त्री और ब्याह

(१) *स्त्री*—पितृसत्ताके साथ स्त्रीका स्थान समाजमें नीचा क्यों हो गया, इसे हम बतला आये हैं। सामन्त-युगमें स्त्रीकी अवस्था कितनी और गिरी, यह इसीसे साफ़ है कि उसे पैसेके लिये शरीर बेंचनेकी दूकान तक खोलनी पड़ी। इस युगमें उच्च वर्ग तो वस्तुतः स्त्रीको विलास-सामग्रीसे अधिक समझता ही न था। सम्पत्तिपर स्त्रीका नहीं, पुरुषका अधिकार था। स्त्री भोगमें सहभागिनी हो सकती थी; किन्तु पुरुषकी मर्ज़ीसे सुंदर वस्त्राभूषण, स्वादिष्ट भोजन और

तेल-फुलेल हर सामन्त अपनी प्रेयसीके लिये अर्पित करता था, और शायद इसीके लिये मनुने 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' (जहाँ स्त्रियोंकी पूजा होती है) लिखा—पूजा भी तो इसी तरह वर्गस्वार्थको ढँकनेके लिये सामन्तवादी समाजमें बहुत दूर तक विकसित की गयी थी। किन्तु मनु और उसके सामन्त-समाजकी अपेक्षा इस विषयमें उपनिषद्के ऋषि ज्यादा स्पष्टवक्ता निकले; जब कि उन्होंने कहा—"न वै जायायै कामाया जाया प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। (भार्याकी रुचिके लिये भार्या प्रिय नहीं होती, बल्कि अपनी रुचिके लिये भार्या प्रिय होती है)।

सामन्त-युगमें स्त्रीकी क़दर क्या थी, वह इस नीति-वाक्यसे मालूम होता है—

"पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्रो रक्षति वार्धक्ये न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥"

(कुमारी होते वक्त पिता रक्षक होता है, जवानीमें पति, बुढ़ापेमें पुत्र रक्षक होता है, स्त्रीको स्वतन्त्रता नहीं होनी चाहिये।)

भारतमें तो बल्कि गुप्त-कालके बाद स्त्रियोंपर एक और अज़ाब नाज़िल हुआ और पतिके मर जानेपर उसकी लाशके साथ स्त्रीका जल मरना आवश्यक कर्त्तव्य माना जाने लगा। अभी सौ साल ही बीते हैं, जब कि अँगरेज़ी सरकारने इस क्रूर-प्रथाको भारतसे बन्द किया। इन पन्द्रह सदियोंमें, जब कि हिन्दुओंमें सती-प्रथाका रवाज रहा, न जाने कितनी करोड़ स्त्रियोंका इस प्रकार हनन किया गया होगा। मेरे एक मित्र—जो संस्कृतके भारी विद्वान् हैं और आधुनिक जगत्की प्रगतिसे बिलकुल अनभिज्ञ नहीं हैं—कह रहे थे, विधवा-विवाह जब हो ही नहीं रहा है, तो वैसी अवस्थामें तो स्त्रीका पतिके साथ जल मरना समाज-शुद्धिकी दृष्टिसे अच्छा था और सती-प्रथाका रोकना ठीक नहीं था।

स्त्रियोंके लिये विधवा-विवाहका निषेध भी सामन्तवादी समाजमें स्त्री-के स्थानकी बानगी है। हिन्दुओंने तो इसे धार्मिक निषेधका रूप दिया था, किन्तु जिन धर्मों और जातियोंमें विधवा-विवाहमें आपत्ति नहीं है, वहाँ भी संभ्रान्त-कुलों—सामन्त-वंशों—में विधवाएँ सन्तान होनेपर अक्सर आजन्म विधवा रहती हैं—खुशीसे नहीं, सामाजिक बन्धनके कारण। भारतमें मुसलमानोंकी ऊँची जातियोंमें विधवा-विवाह अभी भी वर्जित देखा जाता है। मुग़ल बादशाहोंकी कई पीढ़ियों तक राज-कन्याओंके आजन्म कुमारी रहनेकी प्रथा थी, जिसे औरंगज़ेबने तोड़ा। इस तरहके बहुत-से उदाहरण मिल सकते हैं, जिनसे प्रकट होता है कि सामन्तवादी समाजमें स्त्रियोंका दर्जा विलास-सामग्री या नौकरानी-सा ही था; उन्हें कभी सिर ऊँचा करके चलनेका मौक़ा नहीं मिला। यही क्यों, एशियाके बड़े भागमें तो स्त्रियोंका मुँह खोलकर बाहर निकलना भी धर्म-विरुद्ध समझा जाता है।

यूरोपीय स्त्रियोंको स्वतंत्रता—यह सापेक्ष तौरपर ही कह सकते हैं—भारत या और मुसलमानी देशोंकी अपेक्षा अवश्य ज्यादा प्राप्त थी। उन्हें भारतीय सामन्तोंकी नारियोंकी भाँति असूर्यम्पश्या नहीं बनाया जाता था, न शाही हरमकी भाँति ज़नानखानेमें बंद रखा जाता था; एक स्त्रीके रहते दूसरा ब्याह करनेका अधिकार न था। यद्यपि ईसाई धर्म तिलाक़को निषिद्ध मानता था और रोमन-कैथलिक ईसाई सम्प्रदाय अब भी उसपर डटा हुआ है, तो भी तिलाक़का अधि-कार स्त्रीको मिला क्या, ईसाइयतके पहिलेसे चले आये इस अधिकार-को यूरोपमें पूरी तौरसे छीना नहीं जा सका। किन्तु हम जानते हैं कि वहाँ वोट और पार्लामेंटके सदस्य होने, तथा आक्सफ़ोर्ड, केम्ब्रिज जैसे विश्वविद्यालयोंमें प्रविष्ट होनेके लिये अभी हमारे सामने तक स्त्रियोंको कितनी जद्दोजहद करनी पड़ी!

(२) *विवाह*—आदिम साम्यवादी युगमें यूथ-विवाह जन-युगमें अनिश्चित मिथुन-विवाह रहा। इन दोनों अवस्थाओंमें स्त्रियोंको पुरुष-संबंधमें काफ़ी स्वतंत्रता थी। किन्तु स्वतंत्रताका मतलब वहाँ स्वेच्छा-चारिता न था; उसका अर्थ इतना ही था कि पत्नीका मतलब अभी तक जंगम सम्पत्ति नहीं हुआ था। विवाह पुरुष-स्त्रीके स्वाभाविक प्रेम-भोगयानके लालचकी प्रेरणाके बिना उत्पन्न हुए प्रेम—का परिचायक था। हम ऐसे विवाह-संबंधको हिन्दुओंकी पुरानी देवांगनाओंके स्वातंत्र्य-पूर्ण प्रेमसे तुलना कर सकते हैं। पितृसत्ता-युगमें स्त्रीकी वह स्वतंत्रता अपहृत की गई, पुरुषको धन या प्रभुताके बलपर दासियों-के साथ संबंध जोड़नेकी ही आज़ादी नहीं रही, बल्कि दुनियाके बहुत-से भागोंमें थोड़े ही समय बाद वह बहुविवाह करनेके लिये स्वतंत्र हो गया। स्त्रीके लिये एक-विवाहकी प्रथा जो एक बार आरंभ हुई वह सारे सामन्त कालमें उसी तरह चली आई।

प्राचीन मिश्रके सबसे पुराने सामन्तवादी समाजको ले लीजिये, वहाँ बहुविवाहका खुल्लमखुल्ला रवाज था; यद्यपि यह ठीक है कि उसे धनी ही लोग कर सकते थे। आखिर धनी लोग वैयक्तिक सम्पत्तिवालोंकी ही तो यह ईज़ाद भी थी और उन्हींके पास इतना धन था कि वह नारी रूपमें एकसे अधिक जंगम सम्पत्तिको खाना-कपड़ा दे खरीद सके। प्राचीन मिश्रमें सामन्त-घरोंकी औरतें पर्देमें नहीं रहती थीं। उन्हें अपने पतियोंके साथ जनतामें आनेका अधिकार था; यद्यपि इस्लामके प्रचारके बाद मिश्रकी स्त्रियाँ इससे बिल्कुल महरूम हो गईं और तेरह सदियों तक वैसी ही रहीं। प्राचीन मिश्रकी औरतें पीछेके सामन्तवादी समाजकी औरतोंसे ज़रूर बेहतर हालतमें थीं। वह सम्पत्तिकी स्वामिनी हो सकती थीं और उसे बेंच या दान भी कर सकती थीं। भारतकी स्त्रियों-के लिये यह अधिकार अभी तक नहीं मिला है। मिश्री औरतें अपने पतियोंको क़र्ज़ देती थीं। उनके इन अधिकारोंको जब हम पीछेके

समयसे तुलना करते हैं, तो मालूम होता है कि स्त्रियाँ दिनपर दिन अपने प्राप्त अधिकारोंको खोती गईं।

आजसे चार हज़ार वर्षके बाबुलके सामन्त समाजमें—जो कि तत्कालीन सिन्धु-उपत्यकाके आर्य-भिन्न समाजसे बहुत ज्यादा समानता रखता था—स्त्री-संबंधके लिये वैध विवाहकी ज़रूरत थी। तिलाक़का अधिकार था। स्त्री-धन या मेहर तै करनेका भी हक़ था। सन्तानवाली स्त्रीको यदि तिलाक़ दिया जाता, तो उसको अपने साथ लाये दहेज और पतिकी सम्पत्तिका कुछ हिस्सा बच्चोंकी पर्वरिशके लिये पानेका अधिकार था। यदि कोई स्त्री आवारागर्दी तथा अपने पतिकी बदनामी करती, तो उसे पानीमें फेंक देनेका अधिकार था। किन्तु यदि उसका पति आवारागर्दी और उसकी बेइज़्ज़ती करता, तो उससे स्त्रीको निर्दोष समझा जाता और "वह स्त्रीधन लेकर अपने बाप-के घर लौट जा सकती थी।"

सामन्तवादी युगके एक (विशाखाके) विवाहका हम वर्णन कर चुके हैं। विवाहको उस समय सामाजिक प्रतिज्ञा नहीं बल्कि धर्म-का अंग समझा जाता था, किन्तु यह ख्याल एकतरफ़ा था। इसमें जितनी कड़ाई स्त्रीके लिये थी, उतनी पुरुषके लिये नहीं। विवाहमें प्रेमके लिये बहुत कम स्थान था—ख़ासकर सामन्त परिवारमें। ब्याह पद और धनको देखकर होता था, और पतिको पत्नीकी हर हर्कतपर देख-रेख रखने और सन्देह होनेपर प्राण तक ले लेनेका अधिकार था, किन्तु विवाहिता पत्नीको पतिके स्वेच्छाचारको चुपचाप ज़हरकी घूँट-की तरह पी जाना पड़ता था—क्योंकि स्त्रीके स्वेच्छाचारसे समाजकी नाक कटती थी, जब कि पुरुषके लिये वह हँसकर उड़ा देनेकी बात थी।

---

*Code of Hammurabi, Section 196.

षष्ठ अध्याय

सभ्य मानव-समाज (३)

ग. पूँजीवादी युग (१)

अब तकके हरएक युगके बारेमें हमने जो खास बात देखी वह यह थी समाजमें जब-जब परिवर्त्तन हुआ, वह सब जीवनोपयोगी उत्पादनकी शक्तियोंकी अवस्थापर निर्भर था। उत्पादनकी शक्तियाँ वस्तुओंके आदिम साम्यवादी समाजमें आरम्भिक अवस्थामें थीं। अभी श्रमका विभाग नहीं हुआ था। धातुके हथियार मालूम नहीं थे। इसलिये कम अभ्यस्त हाथों और लकड़ी पत्थरके हथियारोंकी सहायतासे श्रम अधिक और काम कम हो पाता था। ग्यारहवीं सदी ईसवीमें तिब्बतके कितने ही प्रदेशोंमें पीसनेकी चक्की न थी, और उसकी जगह लोग पत्थरकी कुण्डी-लोढेका इस्तेमाल करते थे। कुंडी-लोढेसे कितना मोटा और कितना कम सत्तू पिसेगा, और कितने श्रमके बाद कितने परिमाणमें सत्तू तैयार हो सकेगा, इसका अनुमान आप खुद कर सकते हैं। आदिम साम्यवादी समाजके साधन तो इससे भी निर्बल थे, इसलिये उसके श्रमकी उत्पादन शक्ति बहुत कम रही होगी यह आसानीसे समझा जा सकता है।

हरएक नये साधनके आविष्कारसे उत्पादन शक्ति बढ़ती गई और जब-जब उत्पादन शक्तिमें वृद्धि होती है, तब-तब समाजकी पूर्व स्थितिमें गड़बड़ पैदा होती है। मेरे बचपनमें पत्थरके कोल्हुओंमें ऊख पेली जाती थी। पत्थरका कोल्हू कई सौ मनका होता था। उसको

खींचकर लानेके लिये पचासों आदमी चाहिये थे। चुनार (मिर्जापुर)से महीने-महीने भरके रास्तेको तैकर उन्हें लाया जाता था। रास्तेमें कितनी ही नदियाँ पड़ती थीं। यदि कोल्हू खरीदकर लानेवालेको इन सारे आदमियोंको अपने गाँवसे ले जाना पड़ता, तो कोल्हूके मूल्यसे कई गुना अधिक खर्च आदमियोंके खानेपर लग जाता और कमसे कम मेरे नाना जैसे आदमी तो कभी अपने द्वारपर "पथरिया" (पत्थरका कोल्हू) नहीं गाड़ सकते; किन्तु लोगोंने इसका हल निकाल लिया था। कोल्हू लानेवाला एक या दो आदमी (जिनमें एक बढ़ई भी होता था)के साथ आटा-सत्तू बाँध चुनार पहुँचता था और उन्हीं पत्थरोंसे काटकर वह अधगढ़ कोल्हू खरीदता था, जिनसे सवा दो हज़ार वर्ष पूर्व अशोकने अपने स्तम्भ बनवाये थे। कोल्हूके दोनों शिरोंकी सूराखमें लकड़ी गाड़कर घूमती चरखी और फिर रस्सा बाँध दिया जाता था। जिस गाँवमें कोल्हू पहुँचता, खबर पाते ही लोगोंको सारा काम छोड़ पहिले कोल्हूको अपनी सीमाके बाहर करना पड़ता। "महादेव बाबा" (पत्थरके कोल्हूको गाँववाले महादेव बाबा कहके पूजते थे)को गाँवमें पड़ा छोड़ अन्नका एक कण भी मुँहमें डालना लोग पाप समझते थे। इस प्रकार कोल्हू वालेको मास भरकी मंज़िल तक कोल्हूकी खिचाईपर एक पैसा भी खर्च नहीं करना पड़ता था। हाँ. उसे बहुत नियम-व्रतसे रहना पड़ता था, जिसमें कहीं "महादेव बाबा" नाराज़ होकर किसी नदी या दलदलमें बैठ जानेकी न ठान लें।

पत्थरके कोल्हूके लानेमें बड़ा तरद्दुद था। कोल्हूको गढ़कर गाड़ दिया जाता, उसके बाद उससे काम लेना एक परिवारसे नहीं हो सकता था, इसीलिये कोल्हू एक सामूहिक संस्था बन जाता था।

लेकिन वर्त्तमान सदीके आरम्भिक वर्षोंमें लोहेके कोल्हू गाँवोंमें पहुँचे, जिसका परिणाम यह हुआ कि सारे पत्थरके कोल्हू बंद हो गये। लोग उन्हें भूलने लगे। ऊख पेलनेमें सामूहिक काम करनेकी

आदत खतम हो गई। हज़ारों वर्षसे चले आते "महादेव बाबा"का एक गाँवसे दूसरे गाँवमें पहुँचाया जाना बंद हो गया। कोल्हूको लेकर समाजका जो एक संगठन था, उसमें गड़बड़ी पड़ गई। कितने ही वर्षों तक लोग कहते रहे—"लोहेके कोल्हूमें वह बरकत नहीं। पत्थरके कोल्हूमें कितने मंगता-अभ्यागत पलते थे, कितना पुण्य होता था! लोहेके कोल्हूका शर्बत उतना स्वादिष्ट नहीं होता" और पिछली बात ज़रूर सच थी। लेकिन आज!—शायद बहुत कम आदमी पत्थरके कोल्हूको याद भी करते होंगे। उस वक्त सारी शिकायतों-के होते भी क्यों लोहेका कोल्हू पत्थरके कोल्हूको हटानेमें सफल हुआ? क्योंकि उसमें थोड़े आदमी भी ज्यादा काम कर सकते थे। बच्चे भी ऊख लगाने या बैल हाँकनेका काम कर सकते थे। खेतमें भी ले जाकर उसे गाड़ा जा सकता था, जिससे ढोनेकी मेहनतसे आदमी बच सकते थे। एक परिवार अपना अलग कोल्हू चला सकता था, क्योंकि धोने-धानेमें जाठको उठानेके लिये यहाँ आधे दर्जनसे अधिक मज़बूत हाथोंकी ज़रूरत न थी। ऊखका मीठा रस इसमें बहुत कम छूटता था। नये साधनके आविष्कार द्वारा श्रमकी उत्पादन शक्ति बढ़ती है, जिससे उसे अपनानेके लिये लोग मजबूर होते हैं और अपनानेपर समाजकी पूर्व स्थितिमें गड़बड़ी होती है, इसका यह एक अच्छा उदाहरण है।

हर एक ऐसी गड़बड़ीके बाद पुरानी स्थिति खतम होती है, नई स्थिति आ मौजूद होती है, और कुछ ही समयमें गड़बड़ीका पता नहीं रहता। तालाबमें पत्थर फेंका जाता है, लहरें उठती हैं और सारे तालाबकी शान्तिको भंग करती हैं। लहरें धीमी-धीमी होती विलीन हो जाती हैं और तालाब फिर शान्त हो जाता है, इसके बाद फिर पत्थर फेंका जाता है, फिर पहिले जैसी गड़बड़ी और शान्तिकी आवृत्ति होती है। समाजमें भी उत्पादन शक्तिकी वृद्धिसे यही हालत होती है, फ़र्क़

इतना ज़रूर है कि यहाँ बाहरसे ढेला फेंकनेकी ज़रूरत नहीं, हलचल पैदा करनेकी ताकत स्वयं तालाबके जलमें है।

जब उत्पादक शक्तियाँ कुछ हद तक बढ़ गईं, तो व्यक्तियोंकी पहिली स्थितिमें परिवर्त्तन करनेकी ज़रूरत पड़ी, नहीं तो समाजमें जो गड़बड़ी उत्पन्न हुई, उसको हटाकर उसमें आन्तरिक समतुलन और शान्तिको नहीं लाया जा सकता और इससे सारी व्यवस्थाके नष्ट हो जानेका डर है। काम-संबंधी जमातबंदीको फिरसे नया बनानेपर, समाजके सामाजिक-राजनीतिक ढाँचेमें भी व्यक्तियोंकी नई जमातबंदी होनी लाजमी है। इस नई जमातबंदीके कारण फिर क़ानूनी, आचार-संबंधी, तथा दूसरी धारणाओंमें परिवर्त्तन होता है। भीतरी हलचल—नये उत्पन्न विरोधों—से समाजको जीवित रखनेके लिये यही तरीक़ा है। उत्पादन शक्ति जिस तरह सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्रमें इन परिवर्त्तनोंको लाज़मी बना देती है, उसी तरह समाजके सारे मनोविज्ञान, सारी विचारधारामें भी परिवर्त्तन उपस्थित करती है।

जांगल मानवसे लेकर सामन्तवाद तक सिंहावलोकन करते हुए हम देखते हैं, कि समाज लगातार बदल रहा है; उसके भीतर जमातबंदियाँ नया रूप ले रही हैं। समाजके रूप और गुणोंमें परिवर्त्तन हो रहा है इत्यादि। यह भी हमने देखा कि समाजके इन परिवर्त्तनोंका संबंध उत्पादक शक्तियोंके विकाससे है—यदि पुरुष पशुपालनके हुनर द्वारा उत्पादन शक्तिको बढ़ानेमें सफल न हुआ होता तो मातृसत्ताकी जगह पितृसत्ता और वैयक्तिक सम्पत्ति स्थापित न हुई होती। यदि कृषि और गृह शिल्पके लिये मानवश्रमकी माँग न बढ़ी होती, तो शत्रुके मारनेकी जगह दासता न आती। यदि सभी उत्पादन-शक्तियोंकी वृद्धि द्वारा वैयक्तिक सम्पत्ति और उसके द्वारा वैयक्तिक प्रभाव और लोभ न बढ़ा होता, तो सामन्तवाद न क़ायम होता। इस

तरह मालूम हुआ कि समाजके परिवर्त्तनोंका मुख्य कारण उत्पादक शक्तियोंका विकास है। इसीलिये मार्क्सने कहा—*

"विकास होते-होते एक ऐसी अवस्था आती है, जब कि समाजके भीतर उत्पादनकी भौतिक शक्तियोंका उत्पादनके तत्कालीन संबंध, संपत्तिके संबंध—जिनके भीतर कि अभी तक काम होता चला आया था—के साथ टक्कर होती है। अबतक जो बातें उत्पादन शक्तियोंके विकासका रूप या सहायक थीं, वही अब उसकी बेड़ी बन जाती हैं। तब सामाजिक क्रान्तिका समय आता है। आर्थिक नींव बदल जाती है, जिसके साथ समाजका सारा ऊपरी विशाल ढाँचा परिवर्त्तित हो जाता है।"

इस तरहके भारी परिवर्त्तनको क्रान्ति कहते हैं। सांघिक सम्पत्तिकी जगह वैयक्तिक सम्पत्ति आई, और मातृसत्ताकी जगह पितृसत्ता स्थापित हुई, यह ऐसी ही क्रान्तियाँ थीं। पहिलेके जन और जनतांत्रिक समाजके उत्पादनके ढंग और आर्थिक नींवके बदलनेपर दासता और सामन्तवादका दूसरा ढाँचा स्थापित हुआ, यह भी सामाजिक क्रान्ति है।

मार्क्सने क्रान्तिके कारणोंपर विचार करते हुए कहा है—"क्रान्तिके कारण अर्थनीति और नियमोंकी टक्कर नहीं है, बल्कि वह उस टक्करका परिणाम है, जो कि उत्पादक शक्तियों और अर्थनीतिके दर्मियान होती है। और दोनोंमें फ़र्क है।" यह स्पष्ट है, कि पशुपालनकी उत्पादन शक्ति और मातृसत्ताक अर्थनीति दोनों एक साथ नहीं चल सकती थीं। अर्थ-नीति उत्पादन-संबंधको बतलाती है—मातृसत्ता, पितृसत्ता, सामन्तवाद यह भिन्न-भिन्न अर्थनीतियाँ (आर्थिक ढाँचे) थीं, जिनमें उत्पादनके संबंध अपने-अपने अलग थे। उत्पादन-शक्ति और उत्पादन-संबंध

---

*A Contribution to the Critique of Political Economy.

(अर्थनीति)को टक्कर क्रान्तिका वाहक होता है, किन्तु ऐसी हर एक टक्कर क्रान्ति नहीं लाती—कैसे टक्कर जमा होते-होते क्रान्तिको उपस्थित करते हैं, यह ज्यादा पेचीदा घटना है।

"सारे सामाजिक ढाँचेके भीतर छिपी हुई उसकी नींवका पता हमें तब लगता है, जब कि हम सीधे पैदा करनेवालों (श्रमिकों) और उत्पादनकी सारी परिस्थितिपर काबू रखनेवालों (मिल-मालिकों)के बीचके साक्षात् सम्बन्धपर विचार करते हैं। इस नींवके पता लग जानेपर हम स्वतन्त्रता और परतन्त्रताके बीचके राजनीतिक सम्बन्धों या तत्सम्बन्धी राज्यके प्रकारको जान सकते हैं।"

—(कापिटल भाग ३)

राजनीति अर्थनीतिसे अलग चीज़ नहीं; बल्कि वह बिखरी हुई अर्थनीतिका ही एकत्रित किया हुआ सार है। राजनीति आखिर वर्गके उन्हीं आर्थिक स्वार्थोंकी रक्षाके लिये है। इसलिये कोई क्रान्ति सिर्फ़ राजनीतिक क्रान्ति नहीं हो सकती। हरएक क्रान्ति सामाजिक क्रान्ति है, और हरएक सामाजिक क्रान्ति राजनीतिक क्रान्ति है। सामाजिक क्रान्ति एक वर्गके स्थानपर दूसरे वर्गको अधिकारारूढ़ करती है। उत्पादन-सम्बन्ध (उत्पादकों और उत्पादन-स्वामियोंका सम्बन्ध) सबकी जड़ है, जड़ोंमें तब्दीली होते ही सारे ढाँचेमें तब्दीली आ जाती है—जिससे राजनीतिक ढाँचा भी अलग नहीं है। उत्पादन-सम्बन्धोंमें भी वही सम्बन्ध इस सबका जिम्मेवार है, जिसे हम आर्थिक आधिपत्य कहते हैं, और जिसका आधार है, वस्तुओं और उत्पादनके हथियारोंके खास सम्बन्ध, सम्पत्तिके मौलिक सम्बन्ध और उत्पादनके हथियारोंपर एक वर्गके मालिक होनेका सम्बन्ध। हम आगे बतलायेंगे कि कैसे पूँजीवाद-ने यंत्रके विकास, उपयोग तथा श्रमिकोंको एकत्र संगठित करके उत्पादन-शक्तिको बढ़ाया। किन्तु बढ़े हुए उत्पादनके खर्च करनेमें

नफ़ा उठानेके प्रश्नने मन्दी और वेकारी पैदा की। गोया पूँजीपति-का मशीन और उत्पादनका स्वामी होना—यह सम्बन्ध अब रुकावट डालने लगा।

सामाजिक क्रान्ति क्यों होके रहती है, इसके बारेमें एक लेखकने लिखा है—"उत्पादन-शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धोंके बीचकी टक्करें—जो कि शासक-वर्गके राजनीतिक संगठनके तौरपर ठोस रूप-में अच्छी हैं—क्रान्तिके कारण हैं। उत्पादनके यह सम्बन्ध उत्पादन शक्तियोंके विकासमें इतनी जबर्दस्त बाधायें हैं, कि यदि समाजको आगे बढ़ना है, तो इनका तोड़ना ज़रूरी है। यदि इन्हें तोड़ फेंका नहीं गया, तो वह उत्पादन-शक्तियोंको आगे बढ़नेसे रोक देंगे और सारा समाज बंद धाराकी तरह थमकर सड़ाँद पैदा करने या पीछे जाने लगेगा—जिसका अर्थ है पतनकी ओर क़दम बढ़ाना।"

१. पूँजीवाद का प्रारम्भ

पूँजीवाद, यानी पूँजी द्वारा उत्पादक-साधनों—मशीन और मज़दूरों—पर अधिकारकर सिर्फ़ नफ़ेके लिये चीज़ोंका उत्पादन और वितरण करना, सबसे पहिले इंगलैंडमें उत्पन्न हुआ; इसलिये अच्छा होगा, यदि इसके आरम्भिक दिनोंके लिये हम इंगलैंडपर नज़र डालें।

१२०० ई०में, जब कि भारतपर विदेशी तुर्क अपना शासन मज़बूत कर रहे थे, इंगलैंडका मानव-समाज कम्मी* (बग़ैर-हक़के किसान) और सामन्त भूमिपतियोंमें बँटा हुआ था। सारी सम्पत्ति, जो कि प्रायः सारीकी सारी भूमि और कृषिकी उपज थी, कानूनन भूमिपतियोंकी थी। देशमें जहाँ-तहाँ इन सामन्तोंके गढ़—जो कि आराम और सैनिक दोनों दृष्टिसे बनाये गये थे—अपने आस-पासके कम्मियोंके झोपड़ोंसे परिहास कर रहे थे। शान्तिके वक़्तमें कम्मीका श्रम सामन्तके आराम

*Serf

के लिये इस्तेमाल होता था, और प्रतिद्वन्द्वी सामन्तसे जब लड़ाई छिड़ जाती, तो कम्मीको अपने सामन्तकी फौजमें सिपाही बनकर लड़नेके लिये जाना पड़ता था। क़ानून सामन्तके लिये दूसरा और कम्मीके लिये दूसरा था। एक अपराधके लिये जहाँ कम्मीको प्राण-दंड होता, वहाँ उसी अपराधके लिये सामन्तको मामूली सज़ा और चेतावनी काफ़ी समझी जाती थी। कम्मीकी इज्ज़त-आबरू सामन्त-के हाथमें थी। कम्मियोंकी तरुण कन्याएँ सामन्तके अतिरिक्त विलास-की चीज़ समझी जाती थीं। भारतमें इनमेंसे कितनी ही बातें अब तक चली आती हैं। पटियाला, अलवर आदि रियासतें अभी भी सामन्तवादको भारतमें अक्षुण्ण रखनेकी पूरी कोशिश कर रही हैं; वह पूँजीवादी समुद्रमें सामन्तवादी द्वीप हैं। रियासतोंमें किस तरह प्रजापर अत्याचार होता है, किस तरह न्यायके नामपर स्वेच्छाचार होता है, इसके कहनेकी ज़रूरत नहीं। वहाँ क़ायदा-क़ानून छोटे-से-छोटे अधिकारीकी मौज़में है। १६१३ ई०में किस्मतका मारा भूलता-भटकता अचानक मैं निज़ामके एक गाँवमें चला गया, और सिर्फ़ रात गुज़ारनेके लिये। किन्तु, वहाँ चौपालमें जिस तरह मेरे ऊपर जिरहपर-जिरह और सात पुस्तका पता जलील करते हुए पूछा गया था, उससे मालूम होता था कि सामन्तशाही पहिले ही हरएक आदमीको अपराधी मान लेती है। १६२६ ई०में फिर जब मैं एल्लोरा जानेके लिये औरंगाबाद उतरा, तो स्टेशनपर सवाल ही जवाब नहीं हुआ, बल्कि गिरफ्तारकर तहसीलदारके सामने तक घसीटा गया, और मुश्किलसे जान बची। इससे मालूम हुआ कि पिछले महायुद्ध और बीसवीं सदीके १६ साल भारतीय सामन्तशाहीकी नज़रमें कोई चीज़ न थे।

तेरहवीं सदीमें मंगोलोंका ज़बर्दस्त हमला होता है, जिससे यूरोप-की आँखें खुलती हैं, साथ ही बारूद और क़ुतुबनुमा-जैसे साधन वहाँ पहुँचते हैं। इसके पहिले अरबोंने तीन-चार शताब्दियोंमें जो यूनानी

दर्शन और अपनी भौगोलिक व्यापारिक गवेषणायें की थीं, उनका असर भी यूरोपपर पड़ रहा था। तामस् अक्विना (१२२५-७४ ई०)का अरस्तूके यथार्थवादी दर्शनका स्वीकार करना बतलाता है कि उस वक्त हवाका रुख किधरको हो रहा था। इसके बाद सभी क्षेत्रोंमें रूढ़ियोंको छोड़ स्वतंत्र विचारकी धारा फूट निकलने लगी। ल्युनार्दो दे-विन्ची (१४५२-१५१६ ई०) अपने ही समयका नहीं, हर समयके महान् कलाकारोंमेंसे एक है, वह इस पुनर्जागरण काल*का एक ज़बर्दस्त प्रतिनिधि है। उसने अपने क्षेत्रमें सारे रहस्यवादको तिलांजलि दी और निष्ठुरता तथा 'निर्लज्जता'-पूर्वक प्रकृतिका पदानुसरण किया। अपने चित्रोंमें प्रकाश, रेखाओं तथा तुलनात्मक आकार और परिमाणमें उसने कलाकी सारी रूढ़ियोंको तिलांजलि दी, और नंगे जीवित शरीर और कंकालोंको अपना आदर्श बनाया। वस्तुवाद, बुद्धिवाद, व्यक्तिवाद—पुनर्जागरणके ये प्रधान गुण हमें विन्चीकी कलामें दिखलाई पड़ते हैं।

सामन्तवादी युगमें वाणिज्य खूब बढ़ा, यह हम कह आये हैं। यूरोपमें भी इस युगमें व्यापारिक वर्ग बढ़ चला था, अरबों-के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और सम्पत्तिको देखकर वेनिस् और फलोरेंस-के व्यापारियोंने भी उधर ध्यान दिया। यद्यपि अभी वह अरबोंका स्थान ग्रहण न कर सके थे; किन्तु देखते-देखते यहाँके व्यापारी धन-कुबेर बन गये। सारे यूरोपके व्यापारी-समाजमें उनके अनुकरणकी ज़बर्दस्त इच्छा जाग उठी और उसका असर उसके एक ओरके टापू इंगलैंडपर पड़े बिना नहीं रहा।

हमने सामन्तवादी इंगलैंडका जो चित्र १२०० ई०में देखा था, वह १५५० ई० तक लुप्त हो जाता है। उसकी जगह अब

---

*Renaissance period.

इसमें एक नया दृश्य दिखाई पड़ता है। शहर कामके ज़बर्दस्त क्षेत्र बन गये हैं, जिनमें धनाढ्य व्यापारियोंके महलपर महल खड़े हैं। विदेशी मालसे लदे जहाज़ बंदरगाहोंमें आ रहे हैं, और माल उतारकर यदि मिल सका तो दूसरा माल लाद फिर नये माल लानेके लिये लौट रहे हैं। इस मालके बेचनेके लिये साधारण दूकानोंके अतिरिक्त जगह-जगह बड़े-बड़े मेले लग रहे हैं, जिनमें पुराने कम्मियोंकी सन्तान बिना रोक-टोक पहुँचती और माल खरीदती है। नगरोंमें शिल्पियोंका अपना संघ—श्रेणी*—है। कितने ही व्यापारियोंने अपनी कम्पनियाँ या सम्मिलित व्यापारी-मंडल क़ायम कर लिये हैं, जो कि पाठशालाओं और दूसरी शिक्षा-संस्थाओंको आर्थिक सहायता दे ज्ञानका प्रसार कर रहे हैं। नगरोंमें धनियोंके अतिरिक्त स्वतंत्र मनुष्य हैं। सामन्तवादी मठों और महन्थोंकी ताकत टूट चुकी है, और उसकी जगह एक नया धार्मिक संगठन - इंगलिश चर्च—क़ायम हुआ है, जो रोमके पोपको अपना प्रधान नहीं मानता। बंदरगाहवाले शहरोंमें नाविक, छोटे व्यापारी, शिल्पकार, फेरीवाले और चतुर कारीगर भरे हुए हैं। फ्लांडरके चतुर जुलाहे धार्मिक अत्याचारसे भागकर इंगलैंडके पूर्वी तटपर बसे तथा अपने कामको अच्छी तरह चलाते उन्हें एक शताब्दी बीत चुकी है। व्यापार खूब बढ़ा है। स्पेनके समुद्री डाकुओं द्वारा देश-देशान्तरोंका लूटा धन इंगलैंडके सार्थवाहोंके पास जमा हो रहा है, और वहाँ एक शक्तिशाली व्यापारी वर्ग उठ रहा है—मुमूर्षु सामन्तवादी समाजके गर्भसे नये जीवन, नई चेतना, नये साधनोंके साथ एक नया समाज पैदा हो गया है, और वह अपनी नवजात सम्पत्ति और सामाजिक प्रतिष्ठाकी रक्षा और वृद्धिके लिये निर्बल पड़ गये सामन्तवादी अमीरोंसे शासन-शक्ति छीननेके लिये तैयार है।

---

*Guilds.

१६४० ई० पहुँचते-पहुँचते सामन्तों और व्यापारियोंका यह द्वन्द्व उग्र रूप धारण कर लेता है। विद्रोह शुरू करनेका बहाना भले ही और हो; किन्तु उसकी जड़ थी उक्त दोनों वर्गोंके स्वार्थोंकी टक्कर। यह बात स्पष्ट हो जाती है, जब हम सामन्तों और उनके नेता तथा सबसे बड़े सामन्त इंगलैंडके राजाके दैवी अधिकारको तोड़नेके लिये सारे नागरिक और व्यापारीवर्गको क्रॉम्वेल् (१५९९—१६५८) के झंडेके नीचे जमा होकर लड़ते देखते हैं। प्रथम चार्लस्के सिर काटने (३० जनवरी १६४९ ई०) तथा क्रॉम्वेलकी विजयके साथ सामन्तशाही ताक़त इंगलैंडसे बिदा होती है। नई शक्तिसे सज्जित अंग्रेज़ व्यापारी दूने उत्साहसे दुनियाके कोने-कोने—भारत भी उसमें शामिल—में अपनी व्यापारी कोठियाँ क़ायम करते हैं। अपनी रक्षाके लिये सैनिक तैयार करते हैं और उनके हरएक जायज-नाजायज़ स्वार्थ या सीनाजोरीमें इंगलैंडकी सरकार 'हाँ' करनेके लिये बाध्य होती है। १७१५ ई०में क्रॉम्वेल्की क्रान्तिके खिलाफ़ इंगलैंडके सामन्त एक बार ज़ोर लगाते हैं, किन्तु असफल रहते हैं। १७४५ ई०में उनकी तरफ़से अन्तिम कोशिश की जाती है, जिसके बाद सामन्तवादी तलवार ठंढी पड़ जाती है। यद्यपि राज्यशक्तिको पूर्ण-रूपेण अपने हाथमें लेनेमें व्यापारीवर्गको अभी एक सदीकी और प्रतीक्षा करनी थी; किन्तु व्यापारिक स्वार्थ अब राजका स्वार्थ हो गया था, या राज्य-शासनका एक कर्त्तव्य व्यापारियोंके स्वार्थोंकी रक्षा हो गया था। पहिले जिन व्यापारियों और नागरिकोंको कायर, दब्बू और तलवार उठानेमें असमर्थ समझा जाता था, उन्होंने क्रॉम्वेल्की सेनामें भरती हो तलवारके धनी सामन्तों और उनके पिट्ठुओंको करारी हार देकर साबित कर दिया कि शासन करनेके लिये एक नई शक्ति तैयार हो गई है।

फ्रांसमें भी व्यापारीवर्गकी सम्पत्ति बढ रही थी, किन्तु उसी गति-

से नहीं : इसलिये वहाँके व्यापारीवर्गको अपने सामन्तवर्गसे लोहा लेनेमें १७८९ ई० तक प्रतीक्षा करनी पड़ी, और अन्तिम फ़ैसला जहाँ इंगलैंडमें १८३२ ई० के सुधार-क़ानूनके साथ हो गया था, वहाँ फ्रांस सामन्तशाहीको बिल्कुल समाप्त करनेमें तब सफल हुआ, जब कि १८७० ई०में फ्रेंच सामन्तवादी समाजने प्रुसिया (जर्मनी)से ज़बर्दस्त हार खाकर अपनेको शासनके अयोग्य सिद्ध कर दिया, और वहाँ राजाको हटाकर प्रजातंत्र स्थापित हुआ। अब फ्रांसके कृषि-प्रधान प्रदेशोंमें उद्योग-धंधे बढ़ने लगे, और नये कारखाने खुलने लगे।

इंगलैंडमें जहाँ पूँजीवाद १०० साल तक अंडेकी अवस्थामें रहा, वहाँ फ्रांसको इसमें ९० वर्ष रहना पड़ा। रूसमें १८६७ ई०में कम्मी-प्रथा*के उठानेके साथ सामन्तवादपर प्रहार हुआ, और पूँजीवादका सूत्रपात हुआ; किन्तु पूँजीवादको शासन-शक्ति प्राप्त करनेमें आधी शताब्दी (फ़रवरी, १९१७ ई०) लगी; लेकिन उस वक़्त तक उसके गर्भमें पलता श्रमिक वर्ग भी इतना चेतन और मज़बूत हो गया था कि कुछ ही महीनोंके बाद (नवंबर, १९१७ ई०) उसे साम्यवादी शासनके लिये स्थान खाली करना पड़ा।

सामन्तवादका एकाधिपत्य सर्वत्र एक समय नहीं हो सकता था; क्योंकि आर्थिक विकासकी बाढ़ सभी जगह एक समय और एक गहराई-के साथ नहीं आती। पिछले युगोंमें भी हम आर्थिक विकासकी इस विषम गतिको देख चुके हैं। दुनियाके भिन्न-भिन्न मुल्कोंमें सामन्त-शाहीका एकाधिपत्य पंद्रहवीं सदीसे उठने लगा। इंगलैंड इसमें पहिले था, जहाँ १४९५-१६०० ई० में व्यापारी-वर्गकी शक्तिको स्वीकार कर लिया गया। स्कॉटलैंडके सामन्त ज़मींदारोंकी ताक़त १७४७ ई०में कम की जा सकी। फ्रांसमें वह बात १७८९में हुई, और जापान १८७१

---

*Serfdom.

ई०में देम्यो (सामन्तों)के जूयेसे निकल सका। यहाँ यह याद रखना चाहिये कि जहाँ पूँजीवादी शासन पूरी तौरसे स्थापित हो भी गया है, वहाँ सभी जगह सामंत-वर्ग बिल्कुल खतम नहीं हो गया, उसने स्वयं पूँजीपति-वर्गमें शामिल होकर जहाँ नये उद्योग-धंधोंसे आर्थिक लाभ उठाना शुरू किया, वहाँ सेना और शासनके उच्च पद तथा पार्लामेंट-के ऊपरी भवनमें अपने लिये स्थान सुरक्षित रख लिया है। जर्मनीकी सेना, शासन और वैदेशिक विभागके स्थायी अधिकारियोंमें 'फॉन्'की ही संख्या ज्यादा है, जो कि सामन्त-घरानोंके व्यक्ति हैं। जापानमें यह बात और ज्यादा देखी जाती है। इंगलैंडमें पूँजीपति और सामन्त-परिवारोंका इतना सम्मिश्रण हुआ है, कि वहाँ दोनोंके स्वार्थ एक-से हो गये हैं, तो भी वहाँ रीति-रस्म, धर्म तथा कितनी ही और बातों द्वारा सामन्त-वादको क़ायम रखनेकी कोशिश की गई है ; यद्यपि जब-तब पूँजीवाद, आठवें एडवर्डके निकालनेकी तरह, यह दिखला देता है कि राज्या-भिषेक तथा दूसरे सैकड़ों सामन्तवादी अवशेषोंको रहने देनेपर भी वह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि सामन्तवाद, श्रमिकवर्गकी सहानुभूति प्राप्त-कर उसके अधिकारको कम करे।

२. पूँजीवादका विकास

पूँजीवादका लक्षण क्या है, इसे चंद शब्दोंमें बतलानेकी जगह अच्छा है कि उसके रूपको चित्रित किया जाय। वाणिज्यमें हम क्या देखते हैं? कोई आदमी चीज़ बनाता है, उसे दूसरा खरीदता है। बेंचनेवाले और ख़रीदनेवालेके बीच व्यापारी है, जो एकसे चीज़ लेकर दूसरेको बेंच सिर्फ़ अपनी जीविका चलाने भर ही नफ़ा नहीं वसूल करता। ऐसा होता तो बिक जाने तक चीज़का मालिक पैदा करनेवाला ही होता, और व्यापारी सिर्फ़ थाती रखनेवाला रहता। छोटे-छोटे गृह-शिल्पोंमें, हम जानते हैं कि व्यापारी कारीगरसे चीज़ ख़रीद उसका मालिक बन

जाता है, और फिर अपनी चीज़को अधिक-से-अधिक मूल्यमें बेंचनेकी कोशिश करता है। ख़रीदसे बेंचका मूल्य इतना अधिक रहता है, कि अपने शारीरिक खर्चको काटकर भी व्यापारीके पास पैसा बच रहे। यदि भारतमें फेरीवालेसे सेठ बने व्यापारियोंकी प्रगतिपर नज़र डालें, तो यह बात साफ़ हो जायगी। एक बाज़ारमें दो भाई तेलका काम करते थे। दोनोंमेंसे एक भाई तो अभी हाल तक ज़िन्दा रहा है। वे अपने सिरपर तेल लादकर गाँव-गाँवमें सरसोंसे बदलने जाया करते थे। सरसोंको लाकर तेल पेल फिर उसी तरह उसे बदलते, और कुछको बेंचते थे। खरीद और फ़रोख्तके बीचका इतना अन्तर था कि कुछ ही वर्षोंमें उनके पास अपने परिवारके ख़र्चसे अधिक पैसा जमा हो गया। उन्होंने सौदा ढोनेके लिये घोड़ा तथा बाज़ारमें नमक-तम्बाकू-तेलकी दूकान खोल ली। फिर नफ़ेकी बचतसे कपड़ा तथा कुछ और सौदा भी रखने लगे, और कुछ वर्षोंमें तेलीके उत्पादकश्रमका लाभ इतना कम जँचने लगा, कि उन्होंने उसे बंद कर दिया और सिर्फ़ व्यापारीका काम—कपड़ा, परचून, केरानाका काम करने लगे, और चंद वर्षों बाद हम उन्हें कड़े सूदकी दरपर दस-दस बीस-बीस हज़ार रुपये पास-पड़ोसके जमींदारोंको क़र्ज़ देते देखते हैं। जिस वक़्त मैं इन पंक्तियोंको लिख रहा हूँ, उस वक़्तकी नहीं कह सकता, किन्तु जब मैंने सबसे पीछे उनके कारोबारको देखा, जो उनके नाती-पोते इकट्ठे कारोबार करते थे, उनके पास लाखोंकी जायदाद थी। एक बैलवाले छोटे-से तेलके कोल्हूकी जगह अब उनकी चावल और तेलकी मिल थी। इन दोनों भाइयोंके पास इतनी जो सम्पत्ति आई, वह कहाँसे आई? कम क़ीमतमें खरीदना और ज्यादा क़ीमतमें बेंचना, और दोनोंके अन्तरसे जो मूल्य बचता गया, वही पूँजी हुई। हर बढ़ती पूँजीसे दोनों भाइयोंने फिर सौदा खरीदा, फिर नफ़ा बचाया, और फिर पूँजी बढ़ाई। उनके पूँजीपति बननेका यही रहस्य है।

पूँजीपतिके सारे कार-बार उसकी सारी दुनिया बाज़ार है, जहाँ सौदेके रूपमें नहीं, रुपयेके रूपमें सब चीज़ोंका हिसाब होता है। पूँजीपतिकी नज़र सौदेकी चीज़ोंपर नहीं होती, उसकी नज़र होती है ख़रीद और बेंचकी क़ीमतोंके बीचवाले अन्तरपर; इसीलिये बाज़ारोंमें इसी अन्तर या तेज़ी-मंदीपर सबसे अधिक ज़ोर होता है।

ऊपर हम बतला चुके हैं कि कैसे अरबोंकी देखा-देखी वेनिस, फ्लोरेन्स आदि इटालियन शहरोंके सेठोंने व्यापारसे लाभ उठा स्वयं धनी और अपने नगरोंको समृद्ध बनाया, और किस तरह अँगरेज़ोंने उसी रास्तेका अनुसरण किया। पोर्चुगीज़, स्पेनियर्ड और हालैंडवालों (डचों)ने भी इटालियनोंको ही देखकर अपना व्यापार बढ़ाया था, और एक समय था जब कि इस क्षेत्रमें अँगरेज़ उनसे पीछे थे।

व्यापारवादका ज़ोर भारत तथा दूसरे एशियाई देशोंमें बहुत पहले-से चला आता था। जावा, चीन, अरब और अफ़्रीका (मिश्र)के साथ सीधा व्यापार-सम्बन्ध भारतीय व्यापारियोंने उस वक्त स्थापित किया था, जब कि अभी अरबों और आजकी यूरोपीय जातियोंका नाम तक सुना नहीं जाता था। हाँ, यूनानी भारतके साथ व्यापार स्थापित करने-में सफल ज़रूर हुए थे। भारतीय व्यापारियोंने भी नफ़ा और पूँजी जमा की थी। उनमें भी बड़े-बड़े धन-कुवेर थे; किन्तु वे समाजका अगुआ नहीं बन पाये अर्थात् समाजके ढाँचेको पूँजीवाद रूप नहीं दे सके। इसका कारण यह था कि उन्होंने अपना कार्य-क्षेत्रको बनी-बनाई चीज़ोंको ख़रीदकर बेंचने तक ही सीमित रखा; उन्होंने स्वयं चीज़ों-को बनानेके लिये अपने कारख़ाने नहीं खोले। यह उनके लिये संभव भी नहीं था—(१) उनके बाज़ार सीमित थे और उसे और बढ़ानेका ज्ञान और साधन उनके पास नहीं था; (२) कारीगरोंका संगठन बहुत ज़बर्दस्त था, जो सिर्फ़ आर्थिक सम्बन्धों ही द्वारा नहीं, बल्कि ब्याह-शादी-के सम्बन्धसे भी ख़ूब मज़बूत हो चुका था। उसे छोड़कर कारीगर

व्यापारियोंके कारखानेमें नहीं जा सकते थे। यदि व्यापारी किसी तरहकी प्रतियोगिता पैदाकर* दस्तकारोंकी शक्ति कम करना चाहते, तो सारे सामाजिक ढाँचे और धार्मिक रुढ़ियोंपर उसका असर पड़ता, जिसके लिये भारतीय शासक (सामन्त) वर्ग तैयार नहीं था। (३) प्राकृतिक शक्तियोंके प्रयोग तथा विज्ञानकी खोजोंमें भारतीय, पास पहुँचकर भी, आगे प्रयत्नशील नहीं हो सके, क्यों?—इसके बारेमें हम आगे कहेंगे। पर और कितने ही और कारण थे, जिनसे भारतीय व्यापारवाद तक पहुँचकर ही रुक गये और उद्योग-प्रधान पूँजीवादकी ओर उस वक्त नहीं बढ़ सके।

*(१) व्यापारवाद * से पूँजीवाद*—इंगलैंडमें हम व्यापारियोंको पूँजीवादकी ओर किस तरह बढ़ते देखते हैं? बिक्री बढ़ती है, नफ़ा बढ़ता है, पूँजी बढ़ती है। पूँजीको लगाकर और अधिक आदमियों तक तथा अधिक परिमाणमें सौदा पहुँचाया जाता है। सौदेकी चीज़ोंके ख़रीदने और बेंचनेके लिये, नये देशों, नये आसान रास्तोंका पता लगाया जाता है। साहस-यात्रियोंका मान बढ़ाया जाता है, और वह अपने यात्रा-विवरणों तथा देशोंके नक्शोंको तैयार करते हैं—मार्कोपोलो (१२५४ ई०-१३२४ ई०) तेरहवीं सदीमें भारत और चीनकी सैर कर गया था।

नये मुल्कों, नये बाजारोंके आविष्कारके बाद सौदोंकी माँग बढ़ जाती है। व्यापारी कारीगरोंपर ज़्यादा माल तैयार करनेके लिये ज़ोर देते हैं, किन्तु जब उन्हें उतनी तेज़ीसे तथा इच्छानुसार माल तैयार करते नहीं देखते तो सिखे या सिखलाकर तैयार किये कारीगरोंको अपने यहाँ नौकर रखकर माल तैयार करते हैं। पहिले जहाँ वैयक्तिक कारीगर और छोटे-छोटे दूकानदार थे, वहाँ अब चीज़ोंके तैयार करने-

*Meroantalism. Capitalism.

के लिये छोटे-छोटे कारख़ाने खुल गये। इन कारख़ानोंमें कारीगर वेतन पाते थे, और काम करनेके लिये हथियार, कच्चा माल, काम करनेका घर सब मालिक देता था। व्यापारी अब सिर्फ़ बनिया ही नहीं रह गया, बल्कि कारीगर मज़दूरोंको अपने क़ाबूमें करनेमें सफल हुआ। पहिले कारीगर व्यापारीके बसमें न थे; उत्पादनके हथियार, कच्चा माल सब उनका अपना था और व्यापारी चीज़ोंको उन्हींसे पा सकते थे। अब बात उल्टी थी। व्यापारी कारख़ानों तथा उनमें काम करनेवाले कारीगरोंके मालिक थे। बाहरके स्वतंत्र कारीगर भी अब उतने स्वतंत्र न थे, क्योंकि व्यापारी अपने कारखानोंकी चीज़ोंको सस्ता करके बाज़ार दर गिरा स्वतंत्र कारीगरोंको नाक रगड़नेके लिये मज़बूर कर सकता था। ईस्ट इंडिया कम्पनीके आरंभिक ज़मानेमें इस तरहके बहुत-से कारख़ाने अंग्रेज़ोंने भारतमें खोले थे—खासकर मलमल, कालीन आदिके। कम्पनीके हाथमें जब शासनकी भी बागडोर आ गई, तो स्वतंत्र कारीगरोंपर बड़ी मुसीबत आई और उस वक़्त कितने ही कारीगर जुलाहोंके अँगूठे तकके काटनेकी घटनायें सुनी जाती हैं।

जिस अवस्थाका वर्णन अभी हमने किया, उसमें व्यापारी कारखानेका मालिक भी हो गया। उसके नफ़ेका दायरा अब तैयार मालके बेंचने और ख़रीदने तक ही महदूद नहीं था, बल्कि वह अब सस्तेमें कच्चा माल खरीदता, सस्तेमें हथियार बनवाता सस्तेसे सस्ता मज़दूर कामपर रखता और ज़्यादासे ज्यादा दामपर बेंचता था। यदि कहीं उसे स्वतंत्र कारीगरोंसे मुक़ाबिला करना पड़ता, तो चीज़का दाम कुछ समयके लिये कम करके उनकी कमर तोड़ देता, और उनके लिये सिवाय कारख़ानेका मज़दूर बननेके कोई दूसरा रास्ता न छोड़ता। चाहे युक्त-प्रान्त और बिहारके जुलाहोंको देखिये, या बुन्देलखंड और मध्य-प्रदेशके ताँतियों-कोरियोंको, कारख़ानेके बने कपड़ोंने

उनके रोज़गारको खतम कर दिया और अब वह या तो फ़ाकेमस्त खेतिहर-मज़दूर हैं, अथवा किसी कलकत्ता-बंबईकी जूट-कपड़ेकी मिलोंमें काम करते हैं।

सत्रहवीं-अठारहवीं सदी तक अभी हाथके यंत्र चलते थे, किन्तु अठारहवीं सदीके अन्तमें वाष्प-यंत्रोंका आविष्कार हुआ, उन्नीसवीं सदीसे कारखानोंमें अधिकाधिक भापसे चलनेवाली मशीनों-का इस्तेमाल होने लगा, और पीछे चलकर हाथवाली मशीनोंके लिये गुंजाइश ही नहीं रह गई।

व्यापारवाद और पूँजीवादका जो रूप हमने ऊपर बतलाया, उससे साफ़ है कि व्यापारीका काम था सिर्फ़ व्यापार; और पूँजीपति वह व्यापारी है जो चीज़ोंको भी अपने कारखानोंमें तैयार करता है।

(२) *मज़दूर*—दासतायुगमें हमने देखा कि किस तरह श्रमकी माँग बढ़नेसे युद्धके बंदियोंको मारनेकी जगह उन्हें दास बनाया जाने लगा। सामन्तवादी युगमें दास-प्रथा बंद नहीं हुई, वह तो हाल तक कितने ही देशोंमें जारी रही है। किन्तु, एक परिवर्त्तन ज़रूर हुआ—शिल्पके काममें अधिकाधिक ऐसे आदमी लगने लगे, जो दासोंकी भाँति बेंचे नहीं जा सकते थे, और सामन्तकी अधीनतामें रहते हुए अपने घरोंमें अपने हथियारोंसे चीजें तैयार करते थे। इन्हें सालके कुछ दिन सामन्तके लिये मुफ्त या सिर्फ़ खूराकपर अपने हथियारसे चीज़ें बनानी पड़ती थीं। तिब्बतमें सामन्तवाद अब भी पूरी तौरसे बना हुआ है। वहाँ दलाईलामाके चित्रकार अपने घरोंमें अपनी तूलिका-से काम करते हैं, फ़र्माइशपर या बेंचनेके लिये भी चित्र बनाते हैं; लेकिन उन्हें जब भी दर्बारकी ओरसे बुलौआ आयेगा, वहाँ काम करनेके लिये जाना पड़ेगा—मज़दूरीमें खाना पीना मिलेगा, लामा खुश हुए तो शायद इनाम भले ही कुछ मिल जाय। यदि दर्बारको कामकी जरूरत नहीं हुई, तो सालमें एक निश्चित संख्यामें अपने हथियार

और श्रमसे बनाये चित्रको दर्बारमें भेंट करना पड़ता है। यह उस्ताद चित्रकारोंकी बात है। छोटे चित्रकारोंके चित्र वहाँ पसन्द नहीं किये जा सकते; इसलिये उन्हें चित्र के लिये रंग, कपड़ा और दूसरी सामग्री देनी पड़ती है। दर्बारके हुक्मके बिना चित्रकार कहीं जा नहीं सकता। यह निश्चित है कि यह परवशता दासतायुगका अवशेष है। दासोंका काम बहुत कम उत्पादन-शक्ति रखता है—दास मात्रा ही नहीं, गुणमें बहुत हल्का काम करते हैं। जेलके क़ैदियोंका जिन्हें अनुभव है, वह जानते हैं. कि अच्छे हाथवाले क़ैदी कारीगर भी काममें कितनी बेगार काटते हैं। क़ैदी जानते हैं कि खाना-कपड़ा छोड़ उन्हें और तो कुछ मिलनेवाला नहीं है; इसलिये कौन उतना श्रम, समय और ध्यान लगावे। वह बस उतना ही काम करता है, जितनेमें उसकी चमड़ी बची रहे। जानसे हाथ धोनेका उसे डर नहीं है; क्योंकि आखिर मालिकका रुपया दासमें लगा हुआ है। बेवकूफ़ ही किसान होगा, जो गुस्सेमें आकर मारते-मारते अपने बैलकी जान ही ले ले।

यदि दाससे ज़िम्मेवारीके साथ काम लेना है, तो उसे कुछ स्वतंत्रता होनी चाहिये, जिसमें अपने श्रमका जो कुछ भी पारितोषिक मिले, उसे वह स्वेच्छापूर्वक भोग सके। यह खयाल था, जिसने दासोंसे बेहतर अवस्थावाले, खरीद-बेंचमें न आनेवाले कम्मी वर्गका जन्म दिया इनमें अधिकांश खेतीका काम करते थे, और सामन्तकी इच्छा जब तक हो, तभी तक उसके खेतको जोत सकते थे।

इंगलैंडमें सामन्तयुगके अन्तमें जब व्यापार बहुत बढ़ा और तैयार मालकी भाँति ऊनकी माँग बढ़ गई, तो सामन्तों (ज़मींदारों) ने किसानोंके खेतोंको छीन-छीनकर भेड़ोंके लिये चरागाह बनाने शुरू किये। गाँवके गाँव उजड़ गये, और निराश्रित किसान बाल-बच्चोंके

साथ दर-दर मारे-मारे फिरने लगे। यह वही समय था, जब कि व्यापारियोंने हाथमें आये नये बाज़ारोंके लिये माल तैयार करनेके लिये हाथके कारखाने खोले थे। ये असहाय किसान इन फ़ैक्टरियोंके मज़दूर बने। सारा एशिया, अफ्रीका, अमेरिका इङ्गलैंडके मालके लिये खुला हुआ था, जिसकी वजहसे मालकी खपत बहुत ज़्यादा थी; किन्तु, जिस तेज़ीके साथ सामन्तोंने किसानोंको उजाड़ा, उतनी तेज़ीसे सबको काम मिलना सम्भव न था। इसलिये, लाखों किसानोंपर क्या बीती होगी, इसे अच्छी तरह अनुमान किया जा सकता है।

अठारहवीं सदीमें समय बीतते-बीतते तथा व्यापार बढ़ते-बढ़ते अवस्था कुछ स्थिर-सी होती जा रही थी। इसी समय भापवाले यंत्र निकल आये, और उन्नीसवीं सदीसे जब उनका प्रयोग होने लगा, तो मज़दूरोंके ऊपर फिर एक बड़ा संकट आया। भापसे चलनेवाली मशीनें औसतन अच्छा और परिमाणमें ज़्यादा काम करती थीं। सौ गज़ कपड़ेके लिये जहाँ पहिले दस आदमी लगते थे, अब उतने कपड़ेको पाँच आदमी बुन सकते थे। नये कर्घोको इस्तेमाल करनेवाले कारखानोंने मज़दूर कम करने शुरू किये, कितने ही परिवार भूखों मरने लगे। मज़दूरोंने समझा सारी विपत इन्हीं मशीनोंके कारण है, इसलिये उन्होंने कितनी ही जगहोंपर मिलोंपर हमला किया, मशीनें तोड़ डालीं।

मशीनोंके प्रचार होते ही चीज़ोंका दाम गिरने लगा। हाथकी बनी चीज़ें मशीनकी बनी चीज़ोंसे ज्यादा महँगी होती हैं, और यह ज़रूरी भी नहीं है कि हाथकी बनी सभी चीज़ें मशीनकी बनी चीज़ोंसे अच्छी ही हों। किसी चीज़का दाम निर्भर करता है, उसपर खर्च किये हुए मानव-श्रमपर। मिट्टी मिटीके मोलकी चीज़ है, किन्तु मिट्टीके बर्त्तनका दाम होता है, और वह उसीके अनुसार होता है, जितना कि कुम्हारने उस बर्त्तनमें अपना श्रम लगाया है। दुर्लभ होने

से भी चीज़ोंका मूल्य बढ़ जाता है; किन्तु उसके भरोसे पूँजीपति अपना कारबार खड़ा नहीं कर सकता, पूँजीपतिका काम है, अधिक परिमाणमें पैदा करके चीजोंको सुलभ बनाना। चीज़ोंको पैदा करनेमें बहुत-सा श्रम बेकार हो जाया करता है, और यदि यह आकस्मिक नहीं है, तो यह श्रम भी चीज़में शामिल हो उसके मूल्यको बढ़ाता है। हीरेका दाम ज्यादा होता है, इसीलिये कि बहुत भारी खर्च होनेके बाद मिलता है, यदि हर सुम्हे-कुदालकी चोटके साथ एक-एक हीरा निकल आया करता, तो हीरेका दाम काँचसे भी कम होता।

(२) *"लाभ शुभ"* और पूँजीपति—मशीनके इस्तेमालसे मनुष्यके श्रमकी शक्ति बढ़ जाती है, किन्तु यह तो तब कहना चाहिये, जब कि मालके उत्पादनके पीछे समाजका हित हो। वस्तुतः यहाँ तो अधिक लाभ उठाना, और उसके लिये पूँजीको और बढ़ाना मुख्य लक्ष्य है; पूँजीवादमें चीज़के उत्पत्ति स्थानसे लेकर उसके घिस-घिसकर नष्ट हो जाने तक सभी जगह नफ़ा और सिर्फ़ नफ़ेका ख्याल मौजूद है। नफ़ाका अर्थ है, वास्तविक मूल्यसे कममें ख़रीदना, वास्तविक मूल्यसे ज्यादामें बेंचना। मज़दूरको रखते वक्त पूँजीपति-का हमेशा ख्याल रहता है, कि उसे कम से कम वेतन और ज्यादासे ज्यादा काम लिया जाय। फिर मज़दूर जो वेतन पाता है वह भी तो लौटकर पूँजीपतिके पास जाता है—वह उससे चीज़ें ख़रीदता है—अर्थात् मज़दूर अपने श्रमको पूँजीपतिकी चीज़ोंसे बदलता है। यह सभी चीज़ें उसकी बनाई नहीं होती! पूँजीपति हर बेंचीमें नफ़ा रखता जाता है, इसलिये मज़दूरको सिर्फ़ अपनी मज़दूरीमें ही कम नहीं मिलता, बल्कि हर नई चीज़ ख़रीदनेमें पूँजीपतिको नफ़ा उठाने देना, वेतनके रूपमें परिवर्तित श्रमका कुछ भाग मुफ्त भेंट कर देना पड़ता है। आखिर पूँजीपति जिसे नफ़ा कहता है, वह है क्या? हरएक उपयोगकी चीज़का वही मूल्य होता है जितना कि उसमें मानव-श्रम मिला हो, यह

हम बतला आये हैं। हवा, पानीका मूल्य नहीं है, क्योंकि उनमें मानव-श्रम नहीं लगा है। शहरमें या मरुभूमिमें घड़ेके हिसाबसे पानीका दाम होता है, इसीलिये कि उसे लानेमें मानव-श्रम लगा है। परिश्रमके बिना प्राप्त चीज़का कोई मूल्य नहीं; इतना ही नहीं, बल्कि मूल्य उसमें मिलाये परिश्रमके परिमाणके अनुसार होता है। मूल्य और श्रम चीज़को पैदा करते वक्त इस तरह दोनों पलड़ोंपर रखे हैं। श्रमका मालिक मज़दूर है। वाजिब तो यह है कि उसका जितना श्रम—और चीज़ उपयोगी बनानेमें सारा श्रम उसीका है—लगा है, उसका सारा मूल्य उसे दे दिया जाय, किन्तु ऐसा होनेपर पूँजीपतिको नफ़ा कहाँसे आयगा? पूँजीपतिने धर्म कमानेके लिये तो कारबार नहीं खोला है। आख़िर उसकी मोटर, महल, बीबी-बच्चोंका ज़ेवर, हुक्कामोंकी दावत आदि सभी खर्च कहाँसे आते हैं?—उसी पैसेसे जो कि मज़दूरके श्रमके पारिश्रमिक या मूल्यमेंसे वह अपने लिये काट लेता है। आखिर पूँजीपति छोटी मिलसे बड़ी मिलका, एक मिलकी जगह दो मिलोंका, दस लाखसे दस करोड़का स्वामी कैसे बनता है? मज़दूरसे आठ घंटे काम लिया जाता है, मज़दूर इतने समयमें एक रुपयेकी रूईको चार रुपयेके कपड़ेमें बदलता है, न्याय तो यही था कि मशीन और घरकी टुटाई-घिसाईका थोड़ा-सा दाम काटकर दो रुपये जो केवल उसके श्रमके हैं, मज़दूरको दे दिये जायँ; किन्तु मज़दूरको मिलता है आठ आना। इसका अर्थ यह है कि वह प्रति घंटे चार आनेके हिसाबसे अपना श्रम रूईमें मिलाता रहा, जिससे कि वह कपड़ा बना। किन्तु उसे जो वेतन मिला, वह सिर्फ़ दो घंटेके श्रमका मूल्य है। बाक़ी छै घंटेके श्रमका मूल्य कहाँ गया?—पूँजीपतिकी जेबमें, जिससे ही उसकी शान-शौकत और बढ़ता हुआ कारबार आप देखते हैं। आजकलके धन-कुबेरों पूँजीपतियोंके महल, भोग-विलासके सामने शाहज़ादोंके ठाट-बाट

झूठे हैं। एक सेठ अपने चार लड़के-लड़कियोंके पढ़ानेपर एक लाख रुपया साल खर्च करते हैं और स्वयं शायद ही कोई साल हो, जब कि वह पत्नी-सहित यूरोप, अमेरिका, जापानकी सैर करने न जाते हों। इन सैरोंमें वह विमान, रेल या ज़हाजके ऊँचेसे ऊँचे दर्जेमें सफ़र करते हैं, महँगेसे महँगे होटलोंमें रहते हैं—दुर्भाग्य या सौभाग्यसे हमारे सेठजी घासाहारी हैं, इसलिये यूरोपमें भोजनपर और भी अधिक खर्च करना पड़ता है। खयाल रखिये, एक-एक सफ़रमें पचास-पचास हज़ार रुपये जो बेदर्दीसे पानीकी तरह बहाये जाते हैं, वह मज़दूरोंके चुराये उसी छ घंटेके श्रमसे आते हैं। और इतने खुलकर खर्च कर रहे हैं, वही सेठजी, जो मज़दूरकी एक पैसा घंटा मजदूरी बढ़ानेकी माँगपर पुलीस बुलाते, गोलियाँ चलवाते, या लोरीके नीचे पिसवा देनेमें भी आनाकानी नहीं करते। सेठजीका खर्च इतना ही नहीं है, हर साल उन्हें अपने महलकी सजावट बनावटमें तब्दीली करनी पड़ती है। कारबारके साथ नये शहरमें नया महल बनवाना पड़ता है, जिसे चौकीदार और माली खूब साफ़ और सजाकर रखते हैं, यद्यपि उसका इस्तेमाल सालमें कुछ दिनों हीके लिये हो पाता है। शिमला और दार्जिलिंगमें सेठजीके राजसी बँगले हैं, जिनका इस्तेमाल उसी वक्त होता है, जब कि सेठजी गर्मियोंमें विदेशकी सैर-के लिये नहीं जाते। यह तो हुआ अपने शरीरके लिये खर्च, किन्तु मज़दूरके छ घंटेका चुराया श्रम इतने हीमें खतम नहीं होता। सेठजी गवर्नर और वाइसरायको दावतें देते हैं, कभी अपने घरपर, कभी शिमला और दार्जिलिंगमें। ज़िले और शहरके कलेक्टर और कमिश्नरके साथ तो उनका भाई-चारा-सा है, उनकी दावतें, चाय-पार्टियाँ बराबर होती रहती हैं। मोटरें और मोटरलंच उनकी ख़िदमतके लिये तैयार रहते हैं। वाइसराय या गवर्नर, जिस किसी फंडके लिये अपील करते हैं, सेठजी-का थैला खुला रहता है। ज़िलेके अधिकारी भी किसी अपनी योजना

के लिये पैसेकी ज़रूरत होनेपर खाली हाथ नहीं लौटते। यह सब पैसे कहाँसे आते हैं? उसी छै घंटेके श्रमकी चोरीसे।

सेठजीके कपड़े, जूट, चीनी आदिके एक दर्जनसे ऊपर कारखानोंमें बीस हज़ारसे ऊपर मज़दूर काम करते हैं, अर्थात् उनके श्रमका १ लाख २० हज़ार घंटा या तीस हज़ार रुपया रोज़ चुराया जा रहा है। भाग्य या लक्ष्मीके आनेका जो सोता सेठजीके घरमें फूटा हुआ है, वह क्या है, यह स्पष्ट है। हाँ, सेठजी महात्माजीके चर्खेके भी भक्त हैं, खादी-फंडमें उन्होंने हज़ारों रुपये दिये हैं। खुद खादी पहनते हैं। गांधीजीके खादी-महातममें उसे छोटे-बड़ेका भेद मिटानेवाली भी कहा गया है; किन्तु सेठजी कपड़ेको एक दिन पहिनकर धोबीके पास भेज देते हैं, और धोबीके यहाँसे बगलेके परकी तरह धुलकर आये तथा कलप और इस्त्री किये हुए इस कपड़ेको देखकर अंधा ही कह सकता है कि खादीने भेद-भाव मिटा दिया। फिर सेठजी पन्द्रह रुपये जोड़ेसे कमकी धोती नहीं पहनते—वह कितने ही 'आन्ध्र' खादी पहननेवालोंसे ज्यादा ईमानदार हैं; इसलिये उन्हें इतना खर्च करना पड़ता है, नहीं तो मिलकी तीन रुपये जोड़ेवाली 'आन्ध्र खादी'से भी आँखमें धूल झोंकी जा सकती थी, और वह सेठजीके जोड़ोंसे ज्यादा टिकाऊ भी होती। सेठजी गांधीजीके बड़े भक्त हैं। उनकी कोई अपील नहीं होती, जिसमें सेठजीका चन्दा न पहुँच जाता हो। उनके किसी साथी-समाजीकी भी सिफ़ारिशको सेठजी सर-आँखोंपर चढ़ानेके लिये तैयार रहते हैं। और अपने हर महल, हर बँगले, हर समयको उनके स्वागतके लिये खुला रखते हैं। हरिजन-फंडमें अभी उस दिन उन्होंने बीस हज़ार रुपये दिये। एक दिन उन्होंने शहरकी मोरियोंमें भी झाड़ू लगाया था। सेठजी गांधी-सम्प्रदायके भक्तमालके सुमेरु हैं। लेकिन, इस सबकी तहमें वही छै घंटोंकी चोरी काम कर रही है।

सेठजी बड़े आस्तिक 'धर्मभीरु' पुरुष हैं। वह गीताकी लाखों

प्रतियाँ छपवाकर मुफ्त बँटवा चुके हैं। उन्होंने अपनी एक बड़ी मिलमें सुन्दर मन्दिर बनवाया है—मज़दूरोंके पेटकी ही ओर नहीं, उनके आत्माकी ओर भी उनका खयाल रहता है। इस लोकको ही नहीं, परलोकको सुधारनेमें भी वह उनकी सहायता करना चाहते हैं। उनके मन्दिरमें हरिजनोंका प्रवेश निषिद्ध नहीं है। वह वहाँ निष्कंटक भजन-पूजन कर सकते हैं। सेठजीने परमपूज्य मालवीयजीसे इस मन्दिरका उद्‌घाटन करवाया था। मालवीयजीने सेठजीकी धर्मप्राणता और हिन्दूपनके अभिमानकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और वह अंग्रेज़ी-हिन्दी, सभी अखबारोंमें छपी थी—गांधीजीने इस समारोहके लिये खास तौरसे अपने हाथका लिखा आशीर्वाद भेजा था। विदाईके वक्त सेठजीने मालवीयजीको पच्चीस हज़ारका चेक हिन्दू-विश्वविद्यालयकी आयुर्वेदिक रसायनशालाके लिये दिया, जिसके लिये उस सालके वैद्य-महासम्मेलनने खास तौरसे प्रशंसाका प्रस्ताव पास किया। सेठजी अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे नई रोशनीके आदमी हैं; इसीलिये भारतसे बाहर जानेपर उन्हें अंग्रेज़ी पोशाक भी पहिननी पड़ती है, (यद्यपि वहाँभी उनके सूटकेसमें खादीका एक देशी सूट ज़रूर होता है) अतएव उनकी धार्मिकता अंधश्रद्धा नहीं है। वह जब तब योगिराज अरविंदके दर्शन भी कर आये हैं, और कहते हैं—उस दिव्य पुरुषके चेहरेसे दिव्य तेज और शान्तिकी किरणें फूटकर निकलती रहती हैं। वह तिरवन्नामलेके ऋषिका भी दर्शन कर आये हैं, और कहते हैं, उनके दर्शनोंसे पहिले मैं योगकी शक्तियों और अन्तर्यामितापर विश्वास नहीं करता था। थ्योसोफ़ीसे सेठजीका अनुराग विद्यार्थी-अवस्थासे ही है, जब कि जगद्‌गुरुके आगमनकी बात माता वासन्तीके कर्पूरगौर मुखसे उन्होंने सुना, उसी समय वह स्टार-आर्डरके सदस्य बने। जगद्‌गुरुवाले मुक़दमेंमें उन्होंने माता वासन्तीकी आर्थिक सहायता भी की थी।

सेठानी भी धर्मानुरागमें पतिसे कम नहीं हैं। अबकी बार वे हरिद्वारसे

बद्रीनारायण हवाई जहाजसे उड़कर गई थीं। पूजामें उन्होंने एक बहुमूल्य हार ही नहीं चढ़ाया था; बल्कि पुजारियों और पंडोंको इतनी दान-दक्षिणा दी कि सारे पहाड़में आज भी उसकी गूँज है। कालीकमलीवालेके क्षेत्र-में उन्होंने दस हज़ार दान दिया, और अपनी स्वर्गीया माताके नामसे तप्तकुंडपर संगमर्मर लगानेका विचार प्रकट किया। बद्रीनारायणके बर्फ़ और तप्तकुंडके तापमें संगमर्मरके टिकाऊ होनेपर संदेह प्रकट करनेपर उन्होंने विशेषज्ञके परामर्शपर अभी इस बातको छोड़ रखा है। सेठानीजीकी लड़कियाँ भी फरफर अंग्रेज़ी बोलती हैं, और दो तो विलायतमें पढ़ रही हैं; किन्तु सेठानीजी माँके घरसे रामायण पढ़कर आई थीं, यहाँ सेठजी और विदेशयात्राके कारण टूटी-फूटी अंग्रेज़ी बोलना भी सीख पाया है। यद्यपि सेठजीने घरके मालिक होनेके बाद मेम रखकर अंग्रेज़ी घोल-पिलानेकी बहुत कोशिश की, किन्तु 'बूढ़ा तोता राम-राम कहाँसे सीखे?' सेठानीजीको पहिले छूत-छातका भी बहुत ख्याल था। एक समय था, जब कि विलायतसे घूमकर आनेपर वे अपने पतिको धर्मभ्रष्ट समझती थीं, और उन्होंने अपना चौका-रसोइया तक अलग कर लिया था। किन्तु, कुछ ही समय बाद सेठजीके नाम विलायतसे आई एक चिट्ठीको उन्होंने कौतूहलवश खोल डाला। उसमें एक अनुपम गौरांग सुंदरीका सुगंधित फोटो था। सेठानीजीको जैसे साँप डँस गया। उन्होंने चिट्ठीको फिर उसी तरह बंद करके चुपचाप रख दिया; किन्तु दिलमें रह-रहकर टीस उठने लगी। उनको बहुत अफ़सोस होने लगा कि सेठने जब अंग्रेज़ी पढ़ानेका प्रस्ताव किया था, तो स्वीकार क्यों नहीं कर लिया—'यदि मैं अंग्रेज़ी जानती होती, तो इस नागिनके षड्यंत्रको तो जान पाती।' सेठानीने कभी इस बातका ज़िक्र सेठके सामने नहीं किया; किन्तु अगले साल गर्मियोंमें जब सेठजीने विलायत जानेकी चर्चा चलाई, तो सेठानीके मुँहसे अनायास निकल आया—"मैं भी चलूँगी।" सेठको आश्चर्य हुआ इस

परिवर्त्तनपर, किन्तु असली रहस्य उनकी समझमें नहीं आया। ऊपर-से सेठानीने यह कहकर उन्हें और सन्तुष्ट कर दिया, कि स्त्रीके लिये पतिसे अलग धर्म-कर्म नहीं है। उन्होंने यह नहीं बतलाया कि मैं तुम्हारी रखवालीके लिये चल रही हूँ। उसी दिन अंग्रेज़ी पढ़ानेके लिये तीन सौ रुपये महीनेपर एक मेम रखी गई, और वे यात्रामें भी बराबर उनके साथ रहीं। सेठानीके दान-पुण्यकी बहुत शोहरत है। 'कल्याण'की एक हज़ार कापियाँ वह अपने खर्चसे मुफ़् बँटवाती हैं।

सेठजीके परिवारमें आमदनीमेंसे धर्मादा निकालनेका जो तरीक़ा दादाके समयसे चला आ रहा था, वह अब भी चल रहा है। एक बार उनकी नई रोशनीने इसे बेवकूफ़ी समझ बंद करना चाहा; किन्तु माँ, स्त्री और समाजके विरोधके डरसे वह अपने विचारको कार्य-रूपमें परिणत न कर सके, और अब तो इसे पूर्वजोंकी अग्र-सोच, समझते हैं। आखिर धर्मादेका पैसा भी तो ग्राहकपर ही लादा जाता है। इस धर्मादा-खातेके पैसेको उनके बाप-दादा तीर्थ-व्रत, श्रद्धा-पर्व, ब्रह्मभोज, धर्मशालामें खर्च करते थे, बच रहता था, तो पूँजी बनाकर उसके नफ़ेसे कहीं सदाव्रत भी लगा देते थे। सेठजीका कारबार कई लाखका नहीं, कई करोड़का हो गया है, और अब वे व्यापारी नहीं, कारखानेदार हैं; जिससे उनका नफ़ा कई गुना बढ़ गया है, तो भी धर्मादा-खाता बदस्तूर ही नहीं, आमदनीके साथ बढ़ता चला गया है। सेठजीने इसी धर्मादा-खातासे मिलके भीतर मंदिर बनाया और मालवीयजीको पच्चीस हज़ारका चेक दिया। इसीसे गांधीजीके खादी-फंड, हरिजन-फंड तथा दूसरी अपीलोंमें वे दान देते हैं। वाइसराय और गवर्नरके फंडोंमें भी इस दानका रुपया जाता है। उस दिन प्रान्तके चीफ़-जस्टिसने जब देशी ईसाइयोंके गिर्जेके लिये सेठजी-को कुछ सहायता करनेको कहा, तो सेठजीने इसी मदसे दस हज़ार-का चेक काटा था। रेडक्रास, युद्ध-फंड, लंदनके वाइ० एम० सी० ए०

के भवनका चंदा आदि बहुतसे नये प्रकारके दान भी सेठजीके धर्मादेमें शामिल हैं, और रुपया इतना ज्यादा बच रहा है कि वह पाँच लाख लगाकर लंदनमें शिवालय बनवाने जा रहे हैं।

यह सारा दान-पुण्य, खैरात, कहाँसे चल रहा है? उसी छै घंटे-की मज़दूरीके मारे रुपयेसे यह सारा 'परमुंडे फलहार' जारी है।

मज़दूरोंकी छै घंटेकी मज़दूरी। जो चुराई जा रही है, उसमें सेठजी-का सारा पारिवारिक खर्च और दान-पुण्यका खर्च ही नहीं चल रहा है; बल्कि सेठजीकी आठसे बारह मिलों तथा बीस गुनी बढ़ी पूँजी भी उसी छै घंटेकी चोरीसे निकली है। यही नहीं, सेठजीके कारखानेके तैयार मालको उपयोग करनेवालों तक पहुँचानेके लिये जितने सफ़ेद-पोश—दलाल, एजेंट, सब-एजेंट आदि—अपनी तड़क-भड़कवाली दूकानें छाने बैठे हैं, उन सभीका खर्च और धन बढ़ाना इसी छै घंटे-की चोरीसे है।

संक्षेपमें हम कह सकते हैं—पूँजीपति चुराई मज़दूरीके अधिकांश-को उत्पादन बढ़ानेके लिये पूँजीके रूपमें लगाता है। पूँजी है, चीज़के वास्तविक मूल्यमेंसे मज़दूरी काटकर बचे अतिरिक्त मूल्य-का बड़ा भाग। यही अतिरिक्त मूल्य या पूँजी पूँजीपतिके सारे कारबारका लक्ष्य है। इस अतिरिक्त मूल्यके धनके एक भागसे वह मशीन मोल लेता है, मकान बनाता है, कच्चा माल खरीदता है, और कच्चे मालको तैयार माल—सौदेके रूपमें परिणत करता है, ज्यादा दामपर बेचता है, थोड़ा-सा मज़दूरको देकर, बाक़ी अपने खर्च कारखानेके बढ़ाने, नई मशीन लाने आदि में खर्च करता है। पूँजीवादी प्रथाका सार है लगातार चीज़ोंके उत्पादनका विस्तार और उसका खपाना और नफ़ा।

(४) *मन्दी*—हाथकी मशीनोंकी जगह भापसे चलनेवाली मशीनें इसीलिये जारी हुईं, क्योंकि उनमें श्रमका खर्च कम और मालका

उत्पादन तेज़ीसे होता था। आजसे सौ वर्ष पहिलेके मिलवाले कर्घे-को यदि आप किसी संग्रहालयमें जाकर देखें और उसे आजके कर्घेसे मुक़ाबिला करें, तो दोनोंमें ज़मीन-आसमानका अन्तर-देखेंगे। सौ वर्ष क्या, यदि बीस वर्ष पहिलेकी कातने-बुननेकी मशीन-से भी तुलना करें, तो मालूम होगा कि तबसे अब आदमीके श्रमका खर्च वहुत कम हो गया है, और चीज़ें बहुत तेज़ीसे बहुत ही अधिक परिमाणमें पैदा की जा रही हैं। चीनीकी मिलें भारतमें पिछले १०-१२ वर्षोंके अन्दर ही ज़ोरसे क़ायम हुईं; लेकिन पाँच-छै वर्षके भीतर ही इतनी चीनी बनने लगी, कि मिलवालोंको हिन्दुस्तानसे बाहर बाज़ार-ढूँढ़नेकी ज़रूरत मालूम होने लगी। और पिछले दो सालोंमें तो बाज़ार से इतनी अधिक चीनी पैदा हुई, कि मिलवालोंने लाखों मन ऊखके लेनेसे इन्कार कर दिया, फसल तबाह हुई, और किसानोंका असन्तोष दूर करनेके लिये युक्तप्रान्त और विहार गवर्नमेंटको उनमें लाखों रुपये मुफ्त बाँटने पड़े। मशीनोंके आविष्कार और लगातार होते सुधार-का पूँजीवादी दुनियामें यही परिणाम होता है कि बाज़ार मालसे भर जाता है, दाम सस्ता हो जाता है, और खरीदार पहिलेसे भी कम हो जाते हैं; क्योंकि अनाजकी मंदीसे, किसानकी वेकारी और मज़दूरीकी कटौतीसे मज़दूरकी आमदनी कम हो गई रहती है—'चीज़ें तो सस्ती हैं; किन्तु क्या करें हाथ ख़ाली है।' किसानकी फसलकी उपज सस्ती इसीलिये हो जाती है, कि कारखानोंकी चीज़ोंकी मन्दीसे उसकी चीजोंके जितने खरीदार—चाहे वह खानेवाले हों या कच्चे मालकी तरह इस्तेमाल करनेवाले हों—पहिले थे, वे कम हो जाते हैं, जिससे किसानका माल कम और सस्ती दरपर बिकता है, और उसका हाथ ख़ाली हो जाता है। कारख़ानेकी चीज़ें जब गोदामों और बाज़ारोंमें वंद हैं, और सस्ता करनेपर भी नहीं बिकतीं तो कौन मिल-मालिक होगा जो सिर्फ़ मजदूरोंकी रोज़ी चलानेके लिये अपनी मिल चालू रखेगा?

अजब गोरख-धन्धा है। मज़दूर क्यों बेकार हैं?—क्योंकि मिलका सौदा नहीं बिकता। मिलका सौदा क्यों नहीं बिकता? क्योंकि, किसान और मज़दूरके पास ख़रीदनेके लिये पैसा नहीं है। पैसे क्यों नहीं? क्योंकि, उनकी चीज़ों और श्रमको कारख़ाना ख़रीदता नहीं। यदि पूछा जाय—क्या मिलकी चीज़ें इतनी ज्यादा हैं कि उन्हें इस्तेमाल करने-वाले नहीं मिलते? जवाब मिलेगा—इस्तेमालमें तो दस गुनी, बीस गुनी चीज़ें भी आ सकेंगी; क्योंकि दुनियामें अभी नंगे-भूखे बहुत हैं; लेकिन इस्तेमाल की कैसे जावें, पूँजीपति तो मज़दूरको दो रुपयेकी जगह आठ आना रोज़ दे, डेढ़ रुपयेसे वंचित रखता है। यदि यह डेढ़ रुपये रोज़ भी मज़दूरको मिलते, तो वह पहिलेसे चौगुनी चीज़ें ख़रीदता; ज्यादा घी-दूध खाता, ग्वालेको ज्यादा पैसा मिलता, वह हमारे सेठजीकी मिलके कपड़े, चीनी, सिगरेट, लालटेन···को ज्यादा ख़रीदता। मज़दूर आध पेटकी जगह पूरे पेट भर, सारे घरके साथ खाता। इससे कोयरीकी साग-भाजी ज्यादा बिकती, गड़ेरियेकी भेड़-बकरियाँ मांसके लिये ज्यादा ख़रीदी जातीं, मछुएको मछलीकी मिकदार बढ़ानी पड़ती; कुंजड़ेको ज्यादा अमरूद, बेर, सेव, नारंगी, नाशपातीके बगीचोंकी ज़रूरत होती। मज़दूरका घर भर जूता-मोजा पहिनता, रजाई-दरी इस्तेमाल करता, कोट-कमीज़, साड़ी-जम्पर इस्तेमाल करता; इससे कारखानेकी चीज़ें पहिलेसे कई गुनी बढ़तीं। इससे मालूम होता है कि मज़दूरके छै घंटेकी मज़दूरी जो मारी जा रही है, उसीका फल है बाज़ारमें मंदी, किसानोंकी त्राहि-त्राहि और मज़दूरोंकी बेकारी।

१९२९-३३ ई०में जो विश्वव्यापी मन्दी हुई थी, उसे भारतका अनपढ़ गँवार किसान भी जानता है, किन्तु वैयक्तिक दृष्टिसे ही। उसे क्या मालूम कि इसीके कारण सिक्केकी दर गिरी, राष्ट्रोंने अपने कर्ज़ों का सूद देना बंद कर दिया; पूँजीवादी देशोंके पास पिछड़े देशोंमें

लगानेके लिये पूँजी नहीं रही। यही नहीं, चायके बगीचोंने चायकी पत्तियाँ तोड़नी बंद कर दीं; रबरको छेवा लगाना छोड़ा दिया गया; जहाज़ोंमें भरी नारंगियोंको समुद्रमें फेंक दिया गया। १६३३के शरदमें युक्तराष्ट्रकी सरकारने ५० लाख सूअरोंको खरीदकर उन्हें नष्ट कर दिया—किसीको खानेके लिये नहीं दिया। डेन्मार्कमें हर सप्ताह १५०० गौयें मारकर उनका मांस ज़मीनमें सड़नेके लिये छोड़ दिया जाता था। अर्जेन्तीनमें लाखों बड़ी भेड़ोंको मारकर नष्ट किया गया—कसाईखाना तक ले जानेमें जो खर्च होता, वह भी मांसकी बिक्रीसे नहीं निकल सकता था; इसलिये यह काम उनकी चरागाहोंमें ही किया गया। गेहूँके ढेरमें आग लगा दी गई। कॉफीके बक्सके बक्स मेंपानी फेंके गये—अर्थात् उत्पादित सामग्रीका बेदर्दीसे तबाह करना, और उत्पादनमें लोगोंको कम-से-कम लगाना, उस वक्त पूँजीवादियोंका नारा था; और यह तब जब कि करोड़ों नर-नारी बेकारी और भूखके कारण त्राहि-त्राहि कर रहे थे।

(५) *पूँजीका जमा होना*—हमने पीछे कहा था कि बिखरी हुई वस्तुओंके संगठित, केन्द्रित हो जानेपर उनकी ताक़त बढ़ जाती है। आदिम साम्यवादसे जन-संगठन अधिक शक्तियोंको केन्द्रित कर सका; इसलिये वह प्रतिद्वंदितामें आदिम साम्यवादवाले क़बीलोंको दबा सका। इसी तरह उससे अधिक पितृसत्ता, पितृसत्तासे अधिक सामन्त-वाद अधिक ताकतोंको केन्द्रित कर सका। यही उनकी सफलताओंका गुर है। यह हमने राजनीति और सामरिक दृष्टिसे कहा। लेकिन, हमें मालूम है कि भौतिक-साधन या शक्तियाँ—अर्थात् आर्थिक कारण—सबसे बलवान् होते हैं, और आर्थिक क्षेत्रमें भी देखते हैं कि केन्द्रीकरण उत्पादनको बढ़ाता है। व्यापारवाद-कालके प्रारम्भमें चीज़ें गृहशिल्पके तौरपर बनती थीं; किन्तु व्यापार-युगके अन्तमें पहुँचते-पहुँचते जब बाजारमें चीजोंकी माँगका पूरा करना मुश्किल हो गया

तो व्यापारियोंने कारखाने खोले। उन्होंने कच्चे माल, औज़ार, साधारण और विशेषज्ञ कारीगरोंको जमा ही नहीं कर दिया, बल्कि बनी हुई चीजोंके बेचनेका जिम्मा ले लिया और अंग्रेज़ों-पोर्तुगीज़ोंकी भाँति भारत, चीन, अमेरिका, अफ़्रीका सभी जगह अपनी कोठियाँ और कर्मचारी रखकर बेचनेका इन्तजाम किया। इसके करण उत्पादन पहिलेसे ज्यादा बढ़ गया, चीजें भी अपेक्षाकृत अधिक अच्छी और सस्ती मिलने लगीं, फिर उतने साधन जिनके पास न थे, उन्हें अपना टाट उलटकर किसी बड़े पूँजीपतिके कारख़ानेमें नौकरीके सिवा चारा ही क्या था? इस तरह उद्योग-धन्धे जो बिखरे हुए थे, वे एक जगह एक बड़े कारख़ानेके रूपमें इकट्ठा होने लगे, और वैयक्तिक उत्पादन—अपना-अपना अलग-अलग चर्खा और अलग-अलग कर्घा—हटा; उत्पादनने अपना सामाजिक रूप धारण किया। यह केन्द्रीकरण या समाजीकरण जहाँ एक बार पूँजीवादके इतिहासमें शुरू हुआ तो उसको आगे बढ़नेके सिवा और चारा ही नहीं था। कारख़ानोंमें भी छोटे-बड़े—अल्पसाधन बहुसाधन—का द्वन्द था। दोनोंमें जो अपने मालको सस्ता, जल्दी और अधिक मात्रामें बेच सकेगा, वह बाज़ारका मालिक होगा। यह निश्चित है कि इस दौड़में टुटपुँजिये पूँजीपति बाजी नहीं मार सकते थे, और नतीजा यह हुआ कि छोटे पूँजीपतियोंके टाट उलटने लगे, और वह बड़े पूँजीपतियोंके पेटमें हज़म होने लगे—'बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको निगलती हैं' वाली कहावत चरितार्थ होने लगी।

जबसे भाप और बिजलीकी मशीनें चलने लगीं, तबसे तो यह केन्द्रीकरण और जोरोंसे होने लगा। क्योंकि, हर पाँच-सात वर्षमें मशीनोंमें नये सुधार हो जाते हैं—पहिलेसे ज्यादा काम करनेवाली मशीनें तैयार हो जाती हैं। जो पूँजीपति नई मशीन नहीं लगाता, वह उतने ही कामके लिये ज्यादा मज़दूरोंको काममें लगाता है, और ज्यादा वेतन देता है; जिसका लाज़िमी नतीजा है, सौदेका महँगा

होना, फिर बाज़ार ऐसे कारखानेको कितने दिनों तक जिन्दा रहने देगा। नतीजा यह होता है कि पुरानी चालवाली मिल बिक जाती है, कोई बड़ा पूँजीपति उसे सस्तेमें ख़रीद लेता है। अगर लग गया तो छोटे पूँजीपतिको कोई अच्छी नौकरी मिल गई। बड़ा पूँजीपति मशीनोंको बदलकर मिलको नये ढंगकी बनाता है, जिससे उत्पादन बढ़ता है, और फिर पैर धरतीपर आ जमता है।

मशीनके नये सुधारोंके अतिरिक्त छोटे पूँजीपतियोंपर एक और आफतका रास्ता खुला हुआ है। बाज़ारकी मंदीका ज़िक्र पहिले आ चुका है। मालके बाजारमें भर जाने, मज़दूरोंके बेकार होनेसे रुपये-की आमदनी और उसका चीज़ोंके ख़रीदनेमें ख़र्च होना दोनों कम हो जाते हैं। मन्दीके ज़मानेमें एक ओर तो आमदनी बंद हो जाती है, दूसरी ओर मकान और मशीनकी मरम्मत तथा हिफ़ाज़त, ज़मीनका किराया, ख़ुद अपना और अपने परिवारका ख़र्च, और बैंकसे लिये रुपयेका सूद बढ़ता ही जाता है। इस कठिनाईसे छोटे मिल-मालिकों-के लिये इसके सिवा कोई रास्ता नहीं—या तो दीवालिया बनकर सब कुछ खो दें, अथवा कुछ आर्थिक सुभीते लेकर अपनी मिलको किसी बड़े मिल-मालिकको दे दें। हर आठवें-दसवें वर्ष जो मंदी या अर्थ-संकट आता है, उसमें हज़ारों छोटी मछलियाँ बड़ी मछलियोंके पेटमें जाती हैं, और पूँजी ज्यादा आदमियोंके पाससे इकट्ठा होकर चन्द आदमियोंके हाथमें जमा होती जाती है।

पूँजी जमा होनेका एक भारतीय उदाहरण हमने जो दो भाइयोंका दिया था, उससे शायद खयाल हो सकता है, कि पूँजी इसी तरह मितव्ययिता और व्यापारिक चतुराईका परिणाम है। लेकिन, यूरोपके पूँजीवादी देशों—खासकर इंगलैंड—के पूँजी जमा होनेके आरम्भको देखते हैं, तो मालूम होता है कि पूँजी ज़मा करनेके वहाँ और तरीक़े भी इस्तेमाल हुए हैं। ईस्ट-इंडिया कम्पनीके अठारहवीं सदीके ज़माने

पर नज़र डालिये। कम्पनी रुपयेपर अपने सैनिकोंको बड़े नफ़ेके साथ भाड़ेपर देती थी, और भाड़ेमें मामूली नहीं, भारी-भारी रक़में वसूल करती थी। जब उसे अपनी ताक़तका अंदाज़ा लग गया, तो उसने खुद अपने स्वार्थोंके लिये लड़ाई लड़नी शुरू की। अठारहवीं सदीके उत्तरार्द्ध में, क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्स, कार्नवालिसके शासनके समयपर नज़र डालिये, लगान और कर, व्यापार और कारखाना ही उसकी आमदनीके ज़रिये न थे; वरन् सीधे लूटका बाज़ार गर्म था, और वह भी कहीं अवधकी बेगमोंका खज़ाना लूटा जा रहा था, कहीं चेतसिंहकी रानियोंका सर्वस्व हरण किया जा रहा था। बड़े-बड़े राजाओं, नवाबोंसे जो बड़ी-बड़ी रक़में वसूल की जाती थीं, उनकी तो गिनती ही क्या। चाहे यह रुपये सीधे कम्पनीने किसी बहानेसे लूटे हों अथवा उसके बड़े-छोटे कर्मचारियोंकी जेबोंमें गये, वह धन इंगलैंडकी पूँजी बढ़ानेका कारण हुआ, इसमें तो सन्देह ही नहीं।

उन्नीसवीं सदीके पूर्वार्द्ध में भी धन-दोहनकी गति भारतमें करीब-करीब वैसी ही रही। हाँ यदि सीधी लूट कम हुई तो इसीलिये कि अब इंगलैंडका पूँजीपतिवर्ग भारतपर शासन कर रहा था; इसलिये सीधी लूटकी जगह वह दूसरे हज़ार तरीक़े इस्तेमाल कर सकता था। उन्नीसवीं सदीमें इंगलैंडकी सम्पत्ति निम्न प्रकारसे बढ़ी—

१८१४ ई०	२३० करोड़ पौंड
१८६५ ई०	६१०० करोड़ ,,
१८५७ ई०	८५०० करोड़ ,,

पूँजीवादके सफल होनेका गुर है, उत्पादनके साधनोंको बड़ेसे बड़े रूपमें संगठित करते जाना। पहिले छोटे-छोटे कारीगर और छोटे दूकानदार थे। दूकानदारीके बड़े रूपमें संगठित होनेसे जगत्-सेठ पैदा हुए, जिन्होंने दुनियाके हर मुल्कमें अपनी कोठियाँ

खोलीं, अपने जहाजोंसे माल पहुँचाया और फिर खुद अपने कारखाने खोले। नई मशीनोंका आविष्कार हुआ, छोटे कारखाने बढ़कर बड़े कारखाने और वे भी बिखरे न हों, एक प्रबंध और एक उद्योगमें संबद्ध हो गये। फिर मशीनोंमें नये-नये सुधार हुए, जिससे मजदूर कम किये जाने लगे, प्रबंध-विभागको और कम खर्च तथा अधिक कार्य-क्षम बनानेके लिये काट-छाँट हुए। उधर बेंचनेकी तरफ़ छोटे दूकान-दारोंकी जगह मालिकोंके स्टोर, खुदरा-दूकानें खुलीं। अब वही बाजी मार ले जा सकता था, जिसने जगह-जगह अपनी इन दूकानोंका जाल बिछा दिया है। इन बड़ी कम्पनियोंको और बढ़ा अपार पूँजी एकत्रित-कर ट्रस्ट बने। उत्पादन और विक्रयको और कार्यक्षम तथा प्रतियोगिता-में दृढ़ रखनेवाली थोक और खुदरा दूकानों, नव-संगठित फ़ैक्टरियोंको बैंक या कोषके मालिकोंकी छात्रछायामें संगठित किया। और इस तरह—
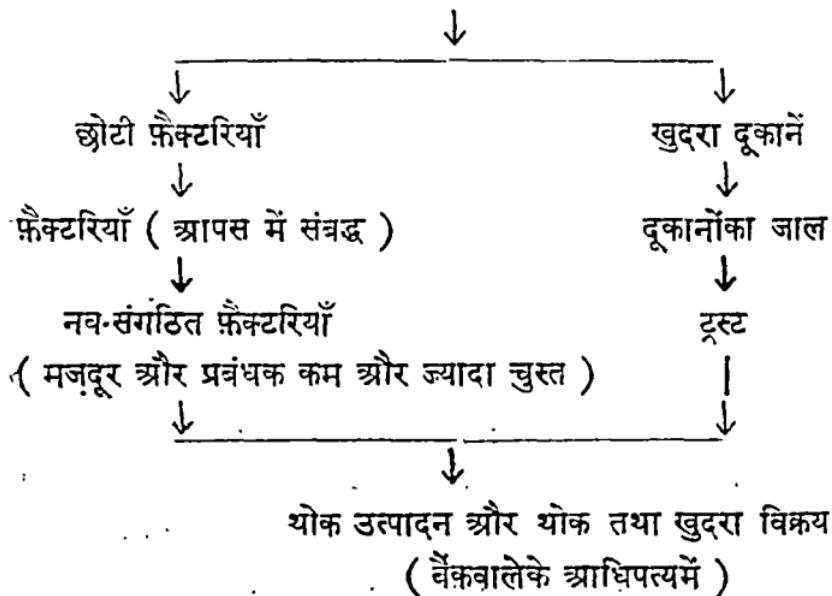
३. उत्पादनके साधन

यंत्रोंका विकास—उत्पादनके साधनों या चीज़ोंके तैयार करनेके औज़ारोंमें पिछले ढाई हज़ार वर्षोंमें जितना विकास और परिवर्त्तन हुआ, उसकी तुलना नहीं की जा सकती। मनुष्य हथियारधारी प्राणी है, पत्थर और लकड़ीके हथियारोंसे शुरू करके जब वह आजसे ढाई हज़ार वर्ष पूर्वके संसारमें पहुँचा तो पहिलेकी अपेक्षा उसके लोहेके हथियार संख्या और गुणमें बहुत ज्यादा ताक़तवर हो चुके थे; किन्तु आजसे उनकी भी तुलना नहीं हो सकती। बुद्धके समयके भारत और अरस्तूके समयके यूनानमें कौनसे हथियार थे?—

ढेकली (पानी की)	रुखानी	तीर
दोपल्ला तराजू	बसूला	धनुष
एकपल्ला तराजू	कुल्हाड़ा	छींका
संडासी	आरा	बहँगी
चिमटा	बेलन	पतवार
हथौड़ा	गाड़ी	कुम्हारका चक्का
अहरन (निहाय)	चूल	ताँबे-लोहेके चक्के
भाथी	गड़ारी (चकरी)	खुर्पी
मेख	गोफन	कुदाल

इस पुरानी हथियार-सूचीसे नई सूचियोंका मिलान ही क्या हो सकता है! वर्त्तमान युद्धमें चालीस हज़ारसे ज्यादा क़िस्मके पुर्ज़ोंकी ज़रूरत होती हैं, जिनके द्वारा युद्धके लिये हज़ारों हथियार बनाये जाते हैं। औज़ारोंका गिनाना तो मुश्किल है, यहाँ हम साधारण मशीन और बिजलीकी मशीनोंके विभाग भरका संकेत करते हैं—

(१) मशीन, पुर्ज़ों और औज़ारोंका निर्माण

(क) भाप या तेलसे चालित मशीनें

(i) चल—इंजन (रेल, मोटरका)

(ii) अचल—इंजन (कारखानेका)

(iii) दूसरी शक्ति-चालित मशीनें

(ख) साधारण इस्तेमाल की 'बहुगुना' मशीन

(i) धातु, लकड़ी, पत्थर तथा दूसरे पदार्थोंपर काम करनेकी मशीन

(ii) पम्प

(iii) क्रेन और एक जगहसे दूसरी जगह पहुँचानेवाली मशीनें

(iv) दूसरी मशीनें

(ग) ख़ास विभागोंकी बहुगुना मशीनें

(i) कातनेकी मशीनें

(ii) खेतीकी मशीनें

(iii) नया सामान बनानेकी मशीनें

(iv) बारीक़ चीज़ोंके बनानेकी ख़ास मशीनें

(v) युद्धके सामानको बनानेवाली मशीनें

(vi) तरह-तरहकी मशीनोंको बनानेवाली मशीनें

(घ) मरम्मती कारख़ानेकी मशीनें

(ङ) ब्वायलर और दूसरी मशीनें

(i) भाप-ब्वायलर

(ii) ख़ास विभागोंके ब्वायलर तथा दूसरी मशीनें

(च) मशीनके औज़ार और पुर्ज़े

(i) मशीन-टूल

(ii) मशीनके पुर्ज़े

(छ) मिल बैठाना

(ज) जहाज़ बनाना और मशीन बनानेवाली मशीनोंका निर्माण

(झ) हवाई जहाज़ और उसके पुर्ज़ोंका बनाना

(ञ) गेसकी टंकियाँ

(ट) गाड़ियोंका निर्माण

(i) बाइसीकल

(ii) मोटरगाड़ी

(iii) रेलकी गाड़ियाँ

(iv) यातायातके दूसरे साधनोंका निर्माण

(ठ) दीवार-घड़ी, मेज़ घड़ी, जेबी-घड़ी और पुर्ज़ोंका निर्माण

(ड) पियानो, हार्मोनियम्, ग्रामोफ़ोन आदि बाजोंका निर्माण

(ढ) आँखसे संबंध रखनेवाली मशीनें और दूसरे बारीक यंत्र, दूरबीन, खुर्दबीन

(i) फ़ोटोग्राफी केमरा, रेडियो, सिनेमा-यंत्र और कितने ही आँख-संबंधी सूक्ष्म-असूक्ष्म यंत्र

(ii) डाक्टरोंके चीर-फाड़के संबंधके यंत्र और औज़ार

(iii) प्राणिविद्या तथा सूक्ष्म प्राणियोंकी खोजोंसे संबंध रखनेवाले यंत्र

(iv) लालटेन, चिमनी आदिका निर्माण

(२) बिजली संबंधी उद्योग-धंधा

(क) डिनामो और बिजलीकी मोटरका निर्माण

(ख) सूखी-गीली बैटरी ,,

(ग) तार और ढँके तार ,,

(घ) बिजली नापनेके यंत्र, घड़ियाँ और गणक-यंत्रका निर्माण

(ङ) लेम्प और सर्चलाइट ,,

(च) चिकित्साके लिये बिजलीकी मशीनरी ,,

(छ) हलकी किरणोंके यंत्र ,,

(ज) बिजलीको चूनेसे रोकनेकी मशीनें ,,
(झ) बड़े कारबारोंकी बिजलीकी चीज़ें
(ञ) हर तरहकी बिजलीके यंत्रों और सामानकी मरम्मतका कारखाना।

जहाँ पुराने समाजमें लोहार, सोनार, बढ़ई-जैसे कारीगरोंकी चंद क़िस्में पाई जाती थीं ; वहाँ आजकी इस अपूर्ण सूचीको देखिये—

बिजली मिस्त्री | मशीन-निर्माता | इंजन-निर्माता
मिस्त्री* | ब्वायलर-निर्माता | इंजन-खराद मिस्त्री
फ्रेजर | भाप-हथौड़ा कमकर | भाप-ब्वायलर विशेषज्ञ
आँख-संबंधी-यंत्र-निर्माता, खेत कटाई मशीन-कमकर, कम्पोज़ टाइपिस्ट
कम्पोज़िटर | हवाई मशीन ,, | फ़ोटोग्राफर
लिथोग्राफ़र | पूलाबंधक मशीन ,, | कम्पौंडर
रेल-लाइन-मिस्त्री | ट्रैक्टर-मरम्मत-मिस्त्री | रेडियो-मिस्त्री
रेल-इजन-ड्राइवर | बिजली-इंजीनियर | तारबाबू
फ़ायरमैन | रसायन यांत्रिक | आदि-आदि

पुराने जुलाहोंसे आजके जुलाहोंका मुक़ाबिला क्या हो सकता है ? नये-नये कारखानोंमें खुद काम करनेवाली मशीनें ज्यादा हैं। फ़ोर्डके डेट्रवायटके मोटर कारखानेमें पूरी कोशिश की गई है कि जितना काम आदमीके बिना मशीन कर सकती है, उसे मशीनोंसे कराया जाय।

सेंट पिटर्सबर्ग (वर्त्तमान लेनिनग्राद)में १९१७में धातुके कारखानोंके काम निम्न शाखाओंमें बँटे हुए थे :—

यंत्र-विभाग | फ़ौलादी ढलाई | जीसन आँवा
बिजली-विभाग | लोहा-ढलाई | अ-धातु पिघलाई
लोहार ,, | लोहा-गढ़ाई | रेलकी गाड़ी

*Mechanist.

ब्वायलर-विभाग	धातु तपाई
धातु ढलाई	मार्टिन धौंकू भट्ठा
लकड़ीका रासायनिक उपचार	
कारख़ाना-निर्माण	
सहायक काम	

१६१४-१६ ई० में पिटर्सबर्गके पुतिलोक कारख़ानेमें निम्न प्रकारके कमकर काम कर रहे थे :—

ताला मिस्त्री	स्टाम्प करनेवाला कमकर	भट्ठा-फ़ोरमैन
खराद कमकर	जोड़नेवाला कमकर	रोलर कमकर
दबानेवाली मशीनका "	लुहार	मिस्त्री
बराबर करनेवाला कमकर	हथौड़ा कमकर	काटनेवाला कमकर
छिन्नी कमकर	प्रेस कमकर	बर्तनवाला "
बर्मा "	राजगीर	खड़ी खरादवाला "
मिलानेवाला "	भट्ठा झोंकनेवाला	ढलाई कमकर
	ढलाई भट्ठा-कमकर	काग़ज़ लगानेवाला
	जुड़ाई कमकर	रंगसाज़ कमकर
	बढ़ई कमकर	टिन मिस्त्री
	नल मिस्त्री	तार कमकर
		मामूली कमकर

इन कमकरों और मिस्त्रियोंके ऊपर मासिक वेतन पानेवाले मँझोले दर्जेके यंत्र-चतुर—मास्टर मिस्त्री, इंजीनियर, विशेषज्ञ, कृषि-विशेषज्ञ आदि कमकर होते हैं। इन मासिक वेतन पानेवाले कमकरोंके ऊपर मासिक वेतन पानेवाले उच्च कर्मचारी—सुपरिंटेंडेंट, डाइरेक्टर—हैं। इनके भी ऊपर असली मालिक पूँजीपति, जिन्हें भूठ ही संचालक कहते हैं; क्योंकि पूँजी और उसपर लाभ कितना हो रहा है, इसे जाननेके सिवा कारबारसे उनका कोई सरोकार नहीं है। नफ़ाका ख्याल मज़दूरों,

किसानों—साधारण जनता—को किस तरह प्रभावित करता है, इसपर कुछ कहा जा चुका है।

पूँजीपतिने अपने नीचेके काम करनेवालोंको अलग-अलग श्रेणियोंमें बाँट रखा है, और उनकी मज़दूरी आदि इस तरह रखी गई है कि उनके स्वार्थ एक दूसरेसे अलग हों। चाभी-मिस्त्री और खराद-कमकर, मशीन-कमकर, खलासी एक श्रेणीमें हैं, इंजीनियर, विशेषज्ञ आदि दूसरी श्रेणीमें। पूँजीपति, जो सबका विधाता है, बिल्कुल ही दूसरी श्रेणीमें है। यह सभी कमकर एक वर्गमें नहीं मिल सकते। पूँजीपति अपने कारखानेमें उसी तरह कमकरोंको भिन्न-भिन्न कामोंमें लगाता है, जिस तरह वह वहाँकी मशीनको काम बाँटता है; लेकिन उसी तरह कमकर पूँजीपतियोंको काम बाँटनेका अधिकार नहीं रखते। यही कारण है, जो एक स्वामी है और दूसरे उसके अनुग्रहके अधीन—सेवक हैं।

पूँजीवादी-युगमें उत्पादनके साधन कितने बढ़े हैं, इसका पता ऊपरके वर्णनसे लग गया होगा। हम जितना ही मानव-श्रमको अधिक उत्पादक बनाना चाहते हैं, उतना ही, मशीनोंको अधिक इस्तेमाल करना पड़ता है। मशीनोंकी उत्पादन-शक्तिको जितना ही अधिक बढ़ाना अभिप्रेत होता है, उतना ही उसके कामको अनेक हिस्सोंमें बाँटना पड़ता है—एक छोटी-सी सूईको यदि एक ही लुहार एक ही हथियारसे बनाना चाहे, तो उसमें इतना श्रम लगेगा कि उसका दाम कई गुना बढ़ जायगा। किन्तु, आजकल सूइयाँ, आलपीन, जो इतनी सस्ती मिलती हैं, वे इसीलिये कि लोहे या पीतलके पत्तरसे काटकर तैयार और पैक की हुई सूई या आलपीन निकलने तक उसे तेज़ीके साथ सैकड़ों मशीनोंके नीचेसे गुज़रना पड़ता है। हरएक आविष्कार मशीनों और औज़ारोंकी संख्याको बढ़ाता है—हवाई जहाज़के आविष्कारके साथ ही हज़ारसे ऊपर नये औज़ार बनाने पड़े। रेडियो-

के इस्तेमालके साथ ही सैकड़ों पुर्ज़े बनानेवाले औज़ारों और मशीनों-की वृद्धि हुई। इस वृद्धिसे उत्पादन तो बढ़ गया, किन्तु जिस मिस्त्रीके हाथसे सूई अपनी सभी अवस्थाओंको पार करती, वह जितना चतुर होता, उतना आजके सूई बनानेवाले कमकर नहीं हो सकते। इनके पास तो सूई एक सेकंड भी नहीं रहती। वह इसे भी अच्छी तरह नहीं देख सकते कि उनकी मशीनने किस वक्त सूईको छुआ और वह कब बनती बनी। गोया पूँजीपतिने कमकरको भी एक चल-पुर्ज़ा बना दिया, और उसे अपने काममें दिमाग़ लगानेकी ज़रूरत नहीं।

सप्तम अध्याय

सभ्य-मानव समाज (४)

घ. पूँजीवादी युग (२)

साम्राज्यवाद और इजारादारी

हम कह चुके कि पूँजीपतियोंमें किस तरह मत्स्य-न्याय बर्ता जाता है, और प्रतियोगितामें न ठहरनेके कारण छोटे पूँजीपति बड़े पूँजीपतियोंके पेटमें चले जाते हैं—खासकर मन्दीके ज़मानेमें तो दीवालोंकी भरमार होती है, और बड़े पूँजीपति घड़ियालोंकी पाँचो उँगलियाँ घीमें होती हैं। इस तरह छोटे-छोटे पूँजीपतियोंको निगलते हुए चंद बड़े-बड़े पूँजीपति दुनियाके कच्चे माल और बाज़ारपर मनमाना थैली-शासन करने लगते हैं, इसे ही इजारादारी, एकाधिपत्य या साम्राज्यवाद कहते हैं।

साम्राज्यवादका कुछ शब्दोंमें लक्षण करनेकी जगह अच्छा है, यदि हम उसकी उत्पत्ति और विकासके रूपपर नज़र डालें। पूँजीवाद-की स्थापनाके बाद बाज़ार और कच्चे मालके लिये जो प्रतियोगिता थी, उसे वैयक्तिक पूँजीपतियोंके ऊपर छोड़ दिया गया था। बाज़ार खुला हुआ है, जो चाहे अपना माल बेंचे, कच्चा माल मौजूद है, जो चाहे खरीदे—यह मुक्त व्यापारकी नीति थी, जिसे सबसे मज़बूत और सबसे पुराना पूँजीवादी देश इंगलैंड मानता था, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि इंगलैंड अपने अधीन देशोंसे खास फ़ायदा नहीं

उठाता था। तो भी (१) १८६०-७० ई०से पहिले तक पूँजीवादके विकासका वह समय था, जब खुली प्रतियोगिताके अन्तिम और चढ़े-चढ़े दिन थे, इजारादारी इसी वक्त शुरू होती है। (२) १८७३ ई०में जबर्दस्त मन्दी शुरू हुई—कारण, अधिक कारखाने, अधिक उत्पादन, नये बाज़ारका अभाव, आदि हम बतला चुके हैं। इस मन्दीके कारण छोटे पूँजीपतियोंका दीवाला निकलने लगा, और बड़े पूँजीपति धन, शक्तिमें और बढ़ने लगे। इजारादारीके क़दम कुछ और आगे बढ़े। (३) १९वीं सदीके अन्तमें बाज़ार खूब तेज़ हुआ। पूँजीपतियोंने दोनों हाथोंसे नफ़ा कमाया। लेकिन वर्त्तमान शताब्दीके आरम्भमें—१९००-३में एक जबर्दस्त मन्दी आई। टाटपर टाट उलटने लगे, बहुत-से छोटे मँझोले पूँजीपति ख़तम हो गये, और उनका कारबार बड़े पूँजीपतियोंके हाथमें चला गया। थोड़े पूँजीपतियोंके हाथमें अपार धन और दुनियाका सारा बाज़ार आ गया, मुक्त-प्रतियोगिता कम हो गई, और उसकी जगह इजारादारीका दौर-दौरा हुआ। पूँजीवाद अपने सर्वोच्च विकास साम्राज्यवादके रूपमें परिणत हो गया।

(१) *मुक्त-प्रतियोगितासे इजारादारी**—इजारादारी अर्थात् खास प्रदेशके कच्चे और तैयार मालके क्रय-विक्रयका सारा अधिकार अपने हाथमें रखना साम्राज्यवादकी मुख्य विशेषता है। साम्राज्यवाद है ही इजारादारीय पूँजीवाद। पूँजीवादियोंकी इजारादारी जान बूझकर पैदा की गई हो, यह बात नहीं है। इजारादारी उसी तरह परिस्थितियोंसे बनी, जिस तरह स्वयं पूँजीवाद अस्तित्वमें आया। पूँजी जितनी ही अधिक एक जगह जमा होती गई, और बाजार थोड़े लोगोंके हाथों आता गया, इजारादारी भी उसी मात्रामें मौजूद होती गई।

बड़े पूँजीपति किस तरह बढ़ते गये, इसके कुछ आँकड़े लीजिये। १८८२ ई०में जर्मनीमें प्रति हज़ार तीन बड़ी कम्पनियाँ थीं। १८९५में

---

* Monopoly

वह छः हो गईं, १९०७में नौ और १९२५ ई० अठारह। और उन कारखानोंमें काम करनेवाले मजदूरोंकी संख्या—

	प्रति हज़ार बड़ी कम्पनियाँ	प्रति सैकड़ा मजदूर
१८८२	३	२२
१८९५	६	३४
१९०७	९	४८
१९२५	१८	५५

१९२५ ई०में जर्मनीके मदूजरोंकी आधीसे ज्यादा संख्या कुछ बड़ी-बड़ी कम्पनियोंके कारखानोंमें काम करती थी। जर्मनीकी १९२५ ई०की गणनासे पता लगा है, कि सारी चालकशक्तियों (भाप, बिजली या तेल)का ८० सैकड़ा $\frac{2}{100}$ कारखानोंके हाथमें है, और बाक़ी ९८ सैकड़ा कारखाने सिर्फ़ २० सैकड़ा चालकशक्ति रखते हैं।

इंगलैंडमें भी १८८४ और १९११के बीच साधारण कपड़ेकी मिलोंको दूना कारबार करते—२५ हज़ारकी जगह ६० हजार टकुआ बढ़ाते देखते हैं। मामूली लोहेके कारखानोंके आकार १८८२ ई०से १९१३में दुगुने और १८८२से १९२०में क़रीब तिगुने हो गये।

अमेरिकामें किस तरह छोटे पूँजीपतियोंका ह्रास और बड़े पूँजी-पतियोंकी वृद्धि हुई, यह इसीसे मालूम है, कि १९१४ ई०में अमेरिकाके बड़े कारख़ाने ७०·६ सैकड़ा मज़दूरोंको काम देते थे, और बाक़ी २९·४ सैकड़ा मज़दूर छोटे कारख़ानोंमें काम करते थे। १० लाख डालर (३ करोड़ रुपयेके क़रीब)से अधिकका माल तैयार करनेवाले कारख़ाने मुल्कके सारे मजदूरों और सारी उपजके कितने सैकड़ेके मालिक थे, वह निम्न आँकड़ेसे मालूम होगा :—

ईस्वी	कमकर	उपज
१९०४	२५·६%	३८%
१९२१	४८·०%	५९%

हरएक मंदीके बाद बड़े पूँजीपतियोंकी शक्तिको बढ़ते और छोटों-को दीवालिया बनते देखा जाता है, यह कह चुके हैं। बड़ी कम्पनियाँ अपने सारे कारबार एक क्रममें बाँध सकती हैं, और साथ ही वें आपसमें बाज़ार और कच्चे मालके बारेमें समझौता कर सकती हैं; किन्तु छोटी कम्पनियोंकी भारी संख्या कभी वैसा करनेमें सफल नहीं हो सकती। बाज़ार और कच्चे मालके बारेमें यही समझौता इजारादारी क़ायम करता है।

वैयक्तिक स्वार्थ पूँजीवादकी जड़में है तो भी उसके कामका ढंग ऐसा है, जिसमें व्यक्ति पीछे और संगठित गिरोह आगे है। किसी वक्त व्यवसाय एक-एक घरका अलग-अलग होता था—हिन्दुस्तानमें ही नहीं यूरोपमें भी। लेकिन, पीछे व्यापारियोंने देखा कि अलग-अलग व्यव-साय छोटे पैमानेपर किया जा सकता है; किन्तु जीता वह है, जो बड़े पैमानेपर व्यापार संगठित कर सके। पूँजीवादियोंके हाथमें शासनके आनेपर उन्होंने एक और फ़ायदेका तरीक़ा निकाला—ज्वायंट स्टाक कम्पनी (सम्मिलित व्यापार मंडल) में कितने ही शामिल हैं, यदि उस कम्पनीका दीवाला निकलता है, तो सिर्फ़ उस कम्पनीकी सम्पत्तिसे ही पावना वसूल किया जा सकता है। ऐसा नहीं हो तो कर्ज़दारकी सारी जायदादको महाजन नीलाम करवा सकता है। आपके दस हज़ार रुपये हैं. आपने उन्हें दस कम्पनियोंमें लगा रखा है। अगर किसी कम्पनीका दीवाला निकलता है, तो आपका दसो हज़ार रुपया नहीं; बल्कि उस कम्पनीमें लगा हज़ार रुपया ही जाता है; बाक़ी नौ हज़ार रुपये आपके सुरक्षित हैं। यह तरीक़ा इतना आकर्षक सिद्ध हुआ, कि पूँजीपतियोंने वैयक्तिक व्यवसायकी जगह सम्मिलित व्यवसायको अपनाया।

मान लीजिये सेठ रामकुमार एक सीमेंटका कारखाना खोलना चाहते हैं। सेठजी सारा खर्च ख़ुद नहीं दे सकते या वह सारा खर्च

बर्दाश्त नहीं करना चाहते। वह दूसरोंको कारखानेके भविष्य और फ़ायदेकी बात बतलाकर उन्हें भागीदार बननेके लिये राज़ी करते हैं। सेठ रामकुमार पाँच लाखकी पूँजी कारखानेमें लगाना चाहते हैं, और उसे दस-दस रुपयेके पचास हज़ार भाग या शेयरमें बाँट देते हैं—ज़रूरी नहीं कि शेयर लेनेवाला हर शेयरका दस रुपया उसी वक्त दे दे। इसका मतलब सिर्फ़ इतना ही है, कि एक शेयरका मालिक कम्पनीमें $\frac{१}{५००००}$का हिस्सेदार है। शेयर अक्सर दो तरहके होते हैं—*विशेष* शेयर जिसके बारेमें वादा रहता है कि उसपर निश्चित सैकड़ा लाभ दिया जायगा। *साधारण* शेयरपर हिस्सोंके मुताबिक़ मुनाफ़ा बाँटा जाता है। साधारण शेयरवालोंको खतरा भी अधिक है, और ज्यादा नफ़ेकी भी संभावना है। शेयरवाले कम्पनीकी नीतिको निश्चित करते हैं, वह डाइरेक्टरोंको चुननेका अधिकार रखते हैं। एक शेयरका एक वोट होता है, जिसका अर्थ यह है कि जिसने ज्यादा शेयर खरीदा है, उसके वोट ज्यादा हैं। सेठ रामकुमार यदि कम्पनीको अपने हाथ में रखना चाहते हैं, तो वह आसानीसे ५१% शेयर ख़ुद या अपने विश्वासपात्रोंसे ख़रिदवा सकते हैं, और ख़ुद डाइरेक्टर बनकर कम्पनी-के प्रबंधको ही नहीं, अपनी डाइरेक्टरीकी भी मोटी तनख्वाह, भत्ता, सफ़र-ख़र्च ले सकते हैं।

कम्पनीको अपना रुपया सुरक्षित रखनेके लिये ही बैंककी ज़रूरत नहीं है। बैंक काम पड़नेपर ही कम्पनीको कर्ज़ नहीं देता, बल्कि वह या उसके डाइरेक्टर कम्पनीकी स्थापनामें भी आर्थिक सहायता देते हैं। यह सहायता जितनी ही अधिक होती जाती है, उतना ही बैंक-का अधिकार कम्पनीपर बढ़ता जाता है। बैंकके अतिरिक्त शेयर-होल्डर भी निश्चित सूद दरपर कर्ज़ देते हैं, जिन्हें डिबेंचर कहते हैं। मकान, ज़मीनका भाड़ा, डाइरेक्टरकी फ़ीस आदिको काटकर जो नफ़ा—मान लो वह ६०. हज़ार रुपया है—बचता है, उसमें सबसे

पहिले बैंकका पावना अदा करना पड़ता है, फिर डिबेंचरका, फिर *विशेष* शेयरका, तब *साधारण* शेयरका : अर्थात्*—

बैंकके पावने १२,००,०००) पर ७ सैकड़ा	१४,०००)
डिबेंचर २,००,०००) पर ५%	१०,०००)
विशेष शेयर ३,००,०००) पर ६%	१८,०००)
सधारण शेयर २,००,०००) पर २०%	४०,०००)
	कुल ८२,०००)

कम्पनीकी पूँजीको बढ़ाना, और कुछ रुपयोंका आगेके खर्च-के लिये सुरक्षित रखना, यह साधारण शेयरके नफ़ेको कम करके किया जा सकता है।

भारतमें ज्वायंट स्टाक कम्पनियाँ कितनी तेज़ीसे बढ़ी हैं, इस विषय-में इंगलैंडका उदाहरण लीजिये—

	कम्पनीकी संख्या	चुका दी गई पूँजी
१८८४	८,६६२	४,७५० लाख पौंड
१९००	२६,९३०	१६,२३० " "

* ६४१ ई०में जुग्गीलाल कमलापत कॉटन मैनुफैक्चर्स लि०, (कानपुर) १५ लाखकी पूँजीसे खुलने जा रही थी, जिसमें १२½ लाखका शेयर जारी किया गया था। इसमें २७०० शेयर (प्रत्येक १००)) विशेष और ८१०० साधारण कुल १०,८०,००० रुपयेका डाइरेक्टरोंने पहिले इन्तिज़ाम कर लिया था। सिर्फ़ १७०० शेयर जनताको खरीदनेके लिये खुले थे। विशेष शेयरपर ६% सूद निश्चित था। डाइरेक्टरोंमें पदमपत, कैलासपत, लक्ष्मीपत सिंहानियाँ स्वयं बैंकर हैं, बाक़ी तीन डाइरेक्टरोंमें राय रामनरायण बैंकर, कोकलस् और गर्ग कारखानेदार तथा व्यापारी हैं।

	कम्पनीकी संख्या	चुका दी गई पूँजी
१६०५	३६,६१६	१६,५४० लाख पौंड
१६१२	६०,७५४	२४,२६० ,, ,,
१६१६	७३,३४१	३०,८३० ,, ,,
१६२४	६०,६१८	४३,५६० ,, ,,
१६२६	१,०८,६६८	५२,००० ,, ,,
१६३१	१,१४,२६५	५५,१५० ,, ,,

यानी, १८८४से १६३१ ई०में पूँजी बारह गुनाके क़रीब बढ़ गई।

ज्वायंट स्टाक कम्पनियोंके तरीक़ेने साम्राज्यवादकी इज़ारादारी क़ायम करनेमें दो तरहसे सहायता पहुँचाई है—(१) कम्पनियोंका रूप वैयक्तिक या पारिवारिक न होनेसे कम्पनियोंको मिला लेने, गुटबंदी करने तथा एक प्रबन्धके नीचे सारे कारबारको लानेमें भारी सुभीता पैदा कर दिया। (२) सोये भागीदारों (जो शेयरवाले जानते तक नहीं कि उनका कारख़ाना कहाँ है, जिन्हें सिर्फ़ नफ़ाके भागसे मतलब है)के रुपयेके साथ सट्टाबाज़ीका भारी मौक़ा देता है।

कहनेको तो यह कम्पनियाँ हज़ारों भागीदारोंकी होती हैं; किन्तु वस्तुतः एक या दो डाइरेक्टर उनके सर्वेसर्वा होते हैं, और आजकलके कारबारकी सारी मशीनको चलानेवाले एक या दो मैनेजर (उत्पादन-मैनेजर, व्यापार-मैनेजर) होते हैं। डाइरेक्टर कम्पनीको एक तरहका पारिवारिक कारबार बना देते हैं, और प्रबंधमें जहाँ गुंजाइश होती है, वहाँ बेटा-दामाद, भतीजे और दूसरे संबंधी घुसेड़ दिये जाते हैं। डाइरेक्टरोंको अपने अधिकार, तथा अपने कारख़ानेकी समृद्धिको क़ायम रखनेके लिये ज़रूरत पड़ती है, तो वह किसी बड़े राजनीतिक नेता, किसी उच्च सर्कारी अधिकारीके संबंधीको भी जगह देकर उन्हें हाथमें रखते हैं। यह काम हड़ताल, सर्कारी तथा ग़ैर-सर्कारी कामों (ठेके आदि)के लिये सौदा करनेके वक्त बहुत नफ़ेके साबित होते हैं।

—फ़लानी कम्पनीने अमुक नेताके बड़े नालायक़ बेटेको ५००) महीनेकी जगह दी, फ़लानी कम्पनीने अमुक जज, कलेक्टर या मिनिस्टर साहेबके भतीजे या दामादको ७००) मासिकपर नौकर रखा, यह सब उपरोक्त मतलबसे ही होता है।

छोटे भागीदार दीवालेके खतरेसे बचनेके लिये अपने रुपयेको बहुत-सी कम्पनियोंमें लगाते हैं, और इसीलिये इच्छा रहनेपर भी वह न तो हर कम्पनीके वार्षिक बैठकमें शामिल हो सकते हैं, न वोट देनेमें ही दिलचस्पी रखते हैं। जब तक उनको नफ़ेकी रक़म ठीकसे मिलती रहती है, वह डाइरेक्टरकी जय-जय मनाते रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि थोड़ा-सा रुपया लगाकर भी पूँजीपतियोंकी एक छोटी-सी गुट सारी कम्पनीको अपने स्वार्थके मुताबिक़ चला सकती है। ताता, डालमिया, जुग्गीलाल बिड़ला, हुकुमचन्दकी सभी कम्पनियोंको इस दृष्टिसे यदि आप छान-बीन करें, तो इस बातकी सत्यता मालूम होगी।

कैसे एक-दो डाइरेक्टर सारी कम्पनीको अपनी मुट्ठीमें रखते हैं, इसका ज़िक्र हम कर चुके। जब यही डाइरेक्टर बहुत तरहकी, बहुत सी कम्पनियोंको हाथमें करके छोटे पूँजीपतियोंको प्रतियोगितामें हरा दीवालिया बनाने या कारबारको हस्तान्तरित करानेमें सफल होते हैं, तो बाज़ारमें प्रतियोगीके अभावसे इजारादारी—सर्वेसर्वापन—क़ायम होती है। हरएक पूँजीवादी कारबारमें इजारादारीका दौर-दौरा है; यह बात पूँजीवादी देशोंके अपने भीतरके कारबारके सम्बन्ध हीमें ठीक नहीं है; बल्कि उनके अधीन देशोंपर भी लागू है। जहाज़-रेल-बस-हवाई यातायात, लोहा-फ़ौलादका उत्पादन, दूध और दूसरी चीज़ों-का वितरण, सिर्फ़ इंगलैंड हीमें भारी इजारादारीमें नहीं बदल चुका है, बल्कि हिन्दुस्तान और अफ़्रीकाके करोड़ों मज़दूरोंकी बनाई चीज़ें या कारबार भी इजारादारीका रूप ले चुके हैं। इंगलैंडकी पी० ओ० कंपनी दुनिया भरमें अपने जहाज़ चलाती है। उसके विशाल व्यवसायके रूप

को भीतरसे देखें, तो मालूम होगा कि उसके नीचे कितनी पुरानी छोटी कम्पनियोंकी लाश पड़ी हुई है। हिन्दुस्तानके समुद्री किनारों तथा बड़ी नदियोंमें जहाज़ चलानेके लिये अपने छत्र-छायामें उसने एक दूसरी कम्पनी—ब्रिटिश इंडिया नेवीगेशन कम्पनी खोल रक्खी है। दूसरी विलायती कम्पनियोंसे लड़कर या समझौतेसे उसने फ़ैसला कर रक्खा है कि उसकी इजारादारीका क्षेत्र इतनी हद तक है।

भारतके पूँजीपतियोंने अपनी कम्पनी खोलकर जब-जब जहाज़ चलाना चाहा, तब-तब कम्पनीने अपने भाड़ेको कम करके लाख रुपयेका घाटा कराकर उन्हें दीवालिया बनने या अपने हाथमें बेंचनेके लिये मजबूर किया। ऐसा वक्त गुज़रे बहुत दिन नहीं हुआ, जब कि कलकत्तासे रंगूनका किराया उसने सिर्फ़ एक रुपया कर दिया था। करोड़ोंकी पूँजीवाले गुट्टकी कम्पनी लाख-दो लाख नुक़सान बर्दाश्त कर सकती है; किन्तु छोटी-मोटी भारतीय कम्पनीकी तो उतने नुक़सानसे कमर टूट जायगी। इसीलिये हिन्दुस्तानियोंके इस क्षेत्रमें किये कितने ही प्रयत्न व्यर्थ हुए। सिंधिया कम्पनी इसलिये बच निकली, कि वह भारी पूँजीके साथ खोली गई थी, तथा जब-जब भाड़ेका युद्ध अंग्रेजी कम्पनियोंने छेड़ा, तब-तब राष्ट्रीय नेता, कौन्सिलोंके सदस्य हल्ला मचाते तथा अंग्रेज शासकोंके स्वार्थका भंडा फोड़ करते; देशके बढ़ते राष्ट्रीय आन्दोलनको देखकर अंग्रेज शासक उसकी पर्वा न कर महायुद्धके पहिलेवाले जमानेमें लौट नहीं सकते थे।

खबरोंको देश-विदेशमें भेजनेके लिये रूटरकी एजेन्सी सारे बृटिश साम्राज्य और बाहर भी फैली हुई है। उसने हिन्दुस्तानमें एसोसियेटेडप्रेसके नामसे एक अपनी शाखा खोल रखी है। रूटरका करोड़ोंका कारबार है। उसके पास जबर्दस्त संगठन और बड़ेसे बड़े शासकके पास तक पहुँचनेके साधन हैं। भारतमें अपनी स्वतंत्र खबर-एजेन्सीके खोलनेकी कोशिश कई बार की गई, और बड़ी मुश्किलसे

राजनीतिक आन्दोलनके भयकी छायामें युनाइटेड प्रेसको क़ायम करनेमें कामयाबी हुई, तो भी उसके रास्तेमें इतनी अड़चनें हैं कि वह अच्छी तरह फल-फूल नहीं सकता। एसोसियेटेड प्रेसको यही सुभीता नहीं है, कि उसे सर्कारी हल्कों और सर्कारके पासके साधनोंसे सहायता और पुलीस आदिकी अड़चनोंसे छुट्टी प्राप्त है, बल्कि रूटर हिन्दुस्तानकी खबरें विदेशोंमें भेजनेके लिये उसकी मार्फ़त खबरें जमा करवाता है।

भारतीय व्यापारी पहिले सिर्फ़ आढ़ती जैसा व्यापार करते थे—विदेशी कारखानोंके बने मालकी एजेंसियाँ ले उन्हींको बेंचकर नफ़ा उठाते थे। महायुद्धसे पहिले प्रायः सारा ही वणिक्-समाज—मारवाड़ी खास तौरसे—व्यापारवादमें ही लगा था; किन्तु अब वह अवस्था नहीं है। * हिन्दुस्तानी पूँजीपतियोंने कपड़े, लोहे, चीनी, सीमेंट आदिके हज़ारों कारख़ाने खोले हैं, और ताता, बिड़ला आदिके नाम हिन्दुस्तानसे बाहर भी पहुँचने लगे हैं। जो मारवाड़ी जात जानेके डरसे लंका (सीलोन) जानेकी हिम्मत नहीं रखते थे, अब वह लंदन, न्युयार्क, तोकियोकी व्यापार-यात्रायें कर रहे हैं, और विश्वकी पूँजीवादी बिरादरीमें शामिल होकर नये-नये क्षेत्रोंपर अधिकार जमाते जा रहे हैं। दूसरे व्यवसायोंकी तरह अंग्रेजी अखबारोंका व्यवसाय भी पहिले अंग्रेज पूँजीपतियोंके हाथमें थे। उनका काम सिर्फ़ ताज़ी खबरें ही देना न था; बल्कि पूँजीवाद और उसके शासनको दृढ़ करना तथा हर तरहकी राष्ट्रीय जागृतिको उठने न देना भी था। भारतीय हितोंकी वकालत करके

---

* कानपुरके सिंहानिया (पदमपत कैलासपत, लक्ष्मीपति) परिवारकी मिलोंको देखिये—

(१) जुग्गीलाल कमलापत कपास कताई-बुनाई मिल (कानपुर)
(२) जु० क० जूट मिल (कानपुर)
(३) जु० क० लोहा फौलाद कम्पनी (कानपुर)

एक दो भारतीय पूँजीसे चलनेवाले अखबार टुक-दम टुक-दम चलने लगे ; किन्तु प्रचार अंग्रेजोंके अखबारों हीका ज्यादा था ; क्योंकि उन्हें वह सुभीते प्राप्त थे, जिनका जिक्र रूटरके वर्णनमें कर आये हैं। महायुद्धके बाद राष्ट्रकी नवजागृतिके साथ राष्ट्रीय पत्रोंकी माँग बढ़ी। कई अंग्रेज पत्र बंद हुए ; किन्तु उससे 'स्टेट्स्मैन'की शक्ति और बढ़ी, उसने कलकत्ताके अतिरिक्त दिल्लीसे भी अपना एक संस्करण निकालना शुरू किया। आज सरकारी ग्राहकोंमें तो उसकी इजारादारी है ही, बाक़ी भी हज़ारों पाठक उसे इसलिये लेते हैं, कि उसमें सरकारी ग़ैर-सरकारी स्रोतकी खबरें जल्दी मिल जाती हैं, और भारी आमदनीके कारण अच्छे योग्य सम्पादकीय विभागपर काफ़ी रुपया खर्च करके वह सुसम्पादित रूपमें प्रकाशित होता है। उनके हितका प्रचारक होनेके कारण उसे सरकारी विज्ञापन सारे

---

(४) लक्ष्मी नारायण काटन मिल (कानपुर)
(५) पुआल-उपज (कूट दफ्ती आदि) लिमिटेड (भूपाल)
(६) प्लास्टिक प्रोडक्ट लि० (कानपुर)
(७) स्नो ह्वाइट फूड प्रोडक्ट (खाद्य) कं० (कलकत्ता)
(८) मोतीलाल पदमपत सूगर (चीनी) मिल (कानपुर)
(९) कमलापत मोतीलाल गुटैया सूगर मिल (कानपुर)
(१०) जु० क० होसियरी (बनियान) फ़ैक्टरी (कानपुर)
(११) जु० क० होसियरी (बनियान) फ़ैक्टरी (कलकत्ता)
(१२) जु० क० तेल मिल (कानपुर)
(१३) कमला बर्फ फ़ैक्टरी (कानपुर)
(१४) जु० क० बैंकर्स (कानपुर)
(१५) जु० क० काटन मनुफ़ेक्चरर्स लि० (कानपुर)
(१६) अलमोनियम्

ही, तथा व्यापारियोंके भी बहुत ज्यादा मिलते हैं; लेकिन, अब इस क्षेत्रमें भारतीय पूँजीपति भी उतरने लगे हैं। वह जानते हैं कि अखबार सिर्फ नफ़ा कमानेके ही अच्छे साधन नहीं हैं, बल्कि खुद पूँजीवादको स्वतंत्रचेता बुद्धिजीवियोंके हमले तथा मजदूर-संघर्षोंकी चोटसे बचानेके लिये, और अंग्रेज-शासकोंसे अधिक रियायत हासिल करनेके लिये अखबार बहुत जरूरी साधन है। "हिन्दुस्तान टाइम्स" (दिल्ली)के तजर्बेने भारतके बड़े-बड़े पूँजीपतियोंको इसका पूरा विश्वास दिला दिया। "हिन्दुस्तान टाइम्स" उनके हितके लिये रात-दिन गोलाबारी कर रहा है। कभी वह अंग्रेज् शासकोंके विरुद्ध सम्पादकीय अग्र-लेख और कार्टून छापता है। कभी मज़दूरोंकी हड़तालों और माँगोंके ख़िलाफ़ आवाज़ उठाता है। सोवियत् और समाजवादियों-के ख़िलाफ़ ज़हर उगलनेके लिये तो वह सदा तैयार रहता है। जर्मनी-के सोवियत्पर हमलेके बाद वह जानता है, कि सोवियत्की पराजयका मतलब इंगलैंडकी पराजय और अमेरिकाके प्रभावकी हानि ही नहीं; बल्कि हिन्दुस्तान भी रंग और जाति-भेदके कट्टर प्रचारक, परतंत्र देशोंके निर्दय दोहक नात्सीवादके पंजेमें चला जायगा, और उससे निकलना आसान काम न होगा; किन्तु सोवियत् युद्ध-क्षेत्रकी खबरोंपर आप "स्टेट्स्मैन" और "हिन्दुस्तान टाइम्स"की सुर्खियोंकी तुलना कीजिये, आप इसके सिवा और किसी नतीजेपर नहीं पहुँच सकते, कि भारतीय पूँजीवाद नात्सीवादसे कोई भारी खतरा नहीं महसूस करता।

मैं यहाँ अखबार-व्यवसायकी इजारादारीके बारेमें कहना चाहता था। एक जगहके तजर्बेको देखकर अब भारतीय पूँजीपति अखबार व्यवसायको उपेक्षित नहीं कर सकता। अब वह दिल्लीकी नई राजधानीसे भारतको पुरानी राजधानी पटना तक पैर फैला चुका है, और उसके फलस्वरूप आज कांग्रेसका राष्ट्रीय-पत्र "सर्चलाइट" बड़े

आकारमें खूब सज-धजके निकलने लगा है। अब वह हाथसे कम्पोज करके छपनेवाला बिना कार्टून और तस्वीरका कमजोर "सर्चलाइट" नहीं है, कि जिसे कोई पुरातनपन्थी जमींदार अपने झोंकेसे कंठगत-प्राण बना दे। इससे हमें हवाका रुख भी मालूम हो रहा है, और बहुत समय नहीं गुज़रेगा, जब कि युक्तप्रान्त और मध्य-प्रदेशमें भी हम बड़ी मछलीको छोटी मछलियाँ निगलते देखेंगे। अँग्रेजी अखबारी क्षेत्रमें ही नहीं, 'हिन्दुस्तान'के द्वारा हिन्दी अखबार क्षेत्रमें भी थैली-राज्य पदार्पण कर चुका है, और कुछ ही समय बाद मज़दूरों, किसानोंके संघर्षकी आवाज़का गला घुटता दिखाई पड़ेगा।

अखबारोंकी इजारादारी हमारे अखबारोंको कहाँ तक पहुँचायेगी, इसे हम आसानीसे अन्दाज़ा लगा सकते हैं।

पूँजीवादी क्षेत्रमें इजारादारीका आरम्भ १९वीं सदीके अन्तसे पहिले ही शुरू हो गया था, जब कि बड़े-बड़े पूँजीपतियोंने निम्नतम मूल्य तथा कुछ-कुछ विक्रेय वस्तुके परिमाणके संबंधमें आपसमें समझौता कर लिया। इसके बाद दूसरी अवस्था तब आई, जब कि अलग-अलग कम्पनियोंको मिलाकर एक बड़ी कम्पनीको बनाया जाने लगा। इसे या तो पूँजीपति, स्वयं अपने शेयरों और डाइरेक्टरोंको सम्मिलित करके करते हैं, अथवा जो कम्पनियाँ स्वतंत्र सत्ता रखकर उनसे व्यापारिक प्रतियोगिता करना चाहती हैं, उन्हें भावकी लड़ाई, शेयर-बाजारकी चिन्ताजनक अफ़वाहों तथा दूसरे हर भले-बुरे तरीक़े द्वारा दीवालिया बनने या घुटना टेकनेके लिये मजबूर किया जाता है। भारतकी कितनी ही छोटी-छोटी सिगरेट कम्पनियाँ इस हथियारका शिकार बन चुकी हैं, और अब उस क्षेत्रमें सिर्फ़ एक अँग्रेजी कम्पनीका एकाधिपत्य है।

इस तरह ज्ञात हुआ कि विराट् केन्द्रीकरण पूँजीपतिके लाभ, शक्ति

और कार्य-क्षेत्रको बहुत बढ़ा देता है। पूँजीवादी दुनियामें आजकल ऐसे विशाल गुट्ट बने हुए हैं; जो अखबार निकालते हैं, काग़ज़, स्याही तथा दूसरी उपयोगी चीज़ोंकी फ़ैक्टरियोंको भी ख़ुद संचालित करते हैं। इंग्लैंडमें गेस्ट, कीन और नेटलफ़ोल्ड सिर्फ़ लोहेके कारख़ानोंके ही मालिक नहीं हैं, बल्कि उनकी अपनी लोहे और कोयलेकी खानें, अपने इंजीनियरिंग कारखाने हैं।

(२) *बैंक स्वामियोंका ज़ोर*—कार-बार चलानेके लिये सूदपर रुपये पहिले भी दिये जाते थे, किन्तु व्यापार-युगमें महाजनोंके फंदे इतने कड़े न थे, जितने कि आज बैंकोंके। पूँजीवादी-युगके अन्त —साम्राज्यवादी काल—में बैंकोंकी ताक़त इतनी बढ़ गई, कि एक तरह कहा जा सकता है—समाजका जीवन-मरण बैंकोंके हाथमें है। इसका कारण उद्योग और बैंकके बीच नये संबंध हैं। उद्योगको बराबर क़र्ज़-की ज़रूरत रहती है, और वह भी लम्बी मियादके क़र्ज़की। यह काम बैंक कर सकते हैं। बैंक पूँजीपर नफ़ा कमानेके लिये काम करता है। बैंकका मुनाफ़ा वह रक़म है, जो कि अपने पास अमानतके रूप-में रखे रुपयेको सूदके रूपमें देना, और अपने क़र्ज़खोरोंको दिये ऋणके सूदका पावना है। बैंक स्वयं कम सूद देता है, और क़र्ज़दारों-से ज्यादा सूद वसूल करता है। जितना ही बैंकका कारबार ज्यादा होगा, उतना ही फ़ायदा भी ज्यादा होगा, यह निश्चित बात है।—जितनी ही बड़ी पूँजी बैंकमें लगाई जावेगी, उतनी ही उसकी शाखायें ज्यादा होंगी, उसके ऊपर लोगोंका विश्वास भी ज्यादा होगा, और उसके यहाँ सूदपर जमा करनेवाले भी अधिक आवेंगे। यह "रुपया रुपयेको खींचता है" वाली कहावत है।

पिछले पचास सालोंमें बैंकोंका केन्द्रीकरण बहुत ज़ोरसे हुआ। इंगलैंडके संयुक्त पूँजीवाले* बैंकोंमें जितनी पूँजी लगी है, उसका

*Joint stock.

६०% वहाँ पाँच बड़ोंमें है। यह "पाँच बड़े" हैं—लायड, नेशनल प्राविन्शियल, वेस्ट-मिन्स्टर, बर्कले और मिडलैंड। बैंकोंमें मत्स्य न्याय-का प्रयोग और ज्यादा देखा जाता है। जहाँ १८६०में इंगलैंडमें १०४ संयुक्त पूँजीवाले बैंक अपनी २२०३ शाखाओं तथा ६७८ लाख पौंड पूँजीसे काम करते थे, वहाँ १६३२ ई०में उनकी संख्या १६ रह गई; इनमें भी दो स्वतंत्र नहीं हैं, यद्यपि इन्हीं बयालीस वर्षोंमें शाखायें १०१७८—चौगुनीसे अधिक, और पूँजी १३४५ लाख पौंड, दूनीसे ज्यादा हो गई। वृद्धिकी गतिके लिये इन आँकड़ोंको देखिये*—

वर्ष	बैंक-संख्या	शाखाएँ	रक्षित निधि और पूँजी (लाख पौंड)	अमानत पूँजी (लाख पौंड)
१८६०	१०४	२२०३	६७८	३६८७
१६००	७७	३७५७	७३८	५८६७
१६१०	४५	५२०२	८०६	७२०७
१६१५	३७	६०२७	८१७	६६२६
१६२०	२०	७६१२	१२८२	१६६१५
१६२५	१८	८८३७	१३४८	१८०६८
१६३०	१६	१००८२	१४४३	१६७६८
१६३१	१६	१०१७८	१३४५	१८२१०
१६३२	१६	१००६६	१३५२	२०६४३

स्कॉट्लैंडमें भी १८६०में जहाँ १० बैंक थे, वहाँ १६३१में ८ हर गये (इन आठोंमें चार 'पाँच बड़ों'के मातहत हैं), यद्यपि इतने ही समयमें शाखाएँ ६७५से १६६३ और पूँजी तथा रक्षित निधि १४८ लाखसे ३०७ लाख पौंड हो गई।

---

*The Economist (London) १३ मई, १६३३।

संयुक्त पूँजीवाले बैंकोंके अतिरिक्त राथचाइल्ड, मोर्गन आदि कितने ही प्राइवेट बैंक भी हैं, जिनमें कुछ 'पाँच बड़ों'से मिले हुए हैं। इनका ह्रास और केन्द्रीकरण देखिये—

	संख्या	रक्षित निधि और पूँजी (लाख पौंड)
१८९५	३८	११८
१९१३	८	३६
१९२०	५	३१
१९३१	४	३२
१९३२	४	२४

लुप्त प्राइवेट बैंकोंमें कितने ही 'पाँच बड़ों'के पेटमें चले गये।

बैंक सिर्फ़ सूदपर रुपया ही लेते-देते नहीं हैं, बल्कि वह बहुतसे कारखानोंके मालिक भी होते हैं; यहाँ इसे और खोलकर कहनेकी ज़रूरत है। बैंक बड़ी-बड़ी इमारतें और उनके चहबच्चोंकी सोनेकी ईंट ही नहीं हैं, बल्कि बैंक उन व्यक्तियोंके स्वार्थोंके बाह्य रूप हैं, जो कि उसके मालिक—डाइरेक्टर—हैं। बैंकके यह सजीव डाइरेक्टर अपने स्वार्थ द्वारा जैसे बैंकसे संबद्ध हैं, वैसे ही वे दूसरी औद्योगिक कम्पनियोंसे भी संबंध रखते हैं। १९३२ ई०में बृटेनके छै बड़े-बड़े बैंकोंके १७४ डाइरेक्टर दूसरी कम्पनियोंके १२७५ डाइरेक्टर-पदों-पर अधिकार रखते थे—

बैंक	डाइरेक्टर	दूसरी कम्पनियोंमें	विवरण
१. वर्कले	३८	२०२	२१ जहाज़ी २० महाजनी, २४ बीमा
२. वेस्टमिन्स्टर	२५	२११	इनमें ३७ विदेशी बैंकों २९ महाजनी
३. नेशनल प्राविंशियल	२१	१५२	१७ बीमा

बैंक	डाइरेक्टर	दूसरी कम्पनियोंमें	विवरण
४. मिड्लैंड	३२	२६१	२१ कपड़ा, ६५ महाजनी, २४ बृटिश बैंक, २४ लोहा-कोयला
५. लायड	३३	२४५	१६ विदेशी बैंक, २५ महाजनी, २२ बीमा, १४ लोहा-कोयला, ६ बिजली
६. बैंक आफ़ इंगलैंड	२५	(१७५)	१२ लोहा-कोयला ११ जहाजी, २२ महाजनी

लेनिनका कहना कितना सच है—"बैंकके विकासका अन्तिम रूप इजारादारी या एकाधिपत्य है।"

जर्मनीमें भी यही बात देखी जाती है—१९१३में वहाँके चालीस बड़े बैंकोंमें जितनी पूँजी थी, उसकी आधेसे ज्यादा आठ बड़े बैंकोंमें थी। १९२६ ई०में १७ बड़े बैंक थे, जिनमें छः ७०% पूँजीके धनी थे।

१९३८ ई०में प्रेसिडेंट रूजवेल्टने कहा था—"आज जिस तरह वैयक्तिक धन चन्द हाथोंमें जमा हो रहा है, उसकी इतिहासमें मिसाल नहीं।" ५ सैकड़ा बड़े कारबार ८७ सैकड़ा पूँजी और सम्पत्तिके स्वामी हैं, और ४ सैकड़ा कारखानेवाले मुल्कके ८४ सैकड़ा नक़द नफ़ेको लूटते हैं। हर्स्ट, रॉकफ़ेलर, मेलोन्, डु-पोन्ट फ़ोर्ड और मोर्गन* अमेरिकाके नहीं, दुनियाके सबसे बड़े धनी-परिवार हैं। १९२९ ई०में युक्तराष्ट्र अमेरिकाका राष्ट्रीय धन ४२५०० लाख-लाख डालर† या पौने चौदह लाख अरब रुपया था, जो प्रत्येक स्त्री, बच्चा या मर्दपर

*मोर्गनके १६७ व्यक्ति २४५० डाइरेक्टर-पदोंके अधिकारी हैं।

†१ डालर = ३ रु०

बराबर-बराबर बाँटनेपर ३५०० डालर या साढ़े दस हज़ार रुपया पड़ता। किन्तु वास्तविकता क्या थी? युक्तराष्ट्रके १ सैकड़ा धनी लोग सारे चलते धनके ८३%के मालिक थे, जब कि ६६ सैकड़ा जनता सिर्फ़ १७% धनपर अधिकार रखती थी। यह भी याद रखना चाहिये कि १६३०-३८के भीतर युक्तराष्ट्रके १७ लाख किसान (अर्थात् सारे किसानोंके चौथाई) अपने खेतीके कारबारको बेंच डालनेपर मजबूर हुए।

फ्रांसकी सारी पूँजीका प्रायः सारा भाग दो सौ परिवारोंके हाथमें है। इंगलैंडमें १० हज़ार पौंड (१३० हज़ार रुपया) सालानासे ऊपरकी आमदनीवाले व्यक्ति आठ हज़ारसे भी कम हैं—और यह इन्कमटैक्स देनेवालोंके $\frac{१}{१००}$ सैकड़ा हैं। इनकी औसत आमदनी २२००० पौंड (२८६००० रुपये) सालाना है।

यहाँ हिन्दुस्तानी बैंकोंके बारेमें भी कुछ कह देना ज़रूरी है। हिन्दुस्तानका सबसे नया बड़ा बैंक रिज़र्व बैंक है, जिसकी स्थापना १६३४ ई०में ५ करोड़ रुपयेकी पूँजीसे हुई। कहनेको तो यह सरकारी बैंक है, और इसके सर्वोच्च पदाधिकारको सरकार मनोनीत भी करती है; किन्तु इसमें विलायती पूँजीपतियोंका रुपया सबसे ज्यादा लगा हुआ, और विलायती पूँजीपतियोंकी भारत सर्कार भी वैसे ही चेरी है, जैसे विलायतकी सर्कार। दूसरे 'पाँच बड़े' बैंक हैं—

	स्थापना	प्राप्त पूँजी (रुपया)
१. इम्पीरियल बैंक	१६२१	५६२ लाख (१६२७)
२. सेंट्रल बैंक	१६११	१६८ लाख (१६३१-३६)
३. इलाहाबाद बैंक	१८६५	
४. बैंक आफ़ इंडिया	१६०६	
५. बैंक आफ़ बड़ौदा		
६. भारत बैंक	१६४२	

इम्पीरियल बैंक भी सरकारी बैंक है; अर्थात् उसपर विलायती पूँजीपतियोंका आधिपत्य है। सेन्ट्रल बैंक सबसे बड़ा ग़ैर-सरकारी तथा हिन्दुस्तानी बैंक है, जिसे सर सोराबजी पोछनावालाने क़ायमकर विदेशी प्रतियोगितासे बचाते हुए आगे बढ़ाया। पंजाब नेशनल बैंक छठा सबसे बड़ा बैंक है, जिसे हमारे देशके राष्ट्रीय नेता लाला लाजपतरायने स्थापित किया था।

प्राइवेट बैंक भी कितने ही हैं, यद्यपि वह बिना दूसरे बड़े बैंकों और बैंकरोंके कृपापात्र बने अपना अस्तित्व क़ायम नहीं रख सकते।

ऊपर हम दिखला चुके हैं कि कैसे बैंकोंके मालिक खान, कारखाना आदिके व्यवसायमें भी शामिल हैं। बीमा, रेलवे, जहाज़ आदि सभी व्यवसायोंपर अधिकार किये बिना, पूँजीके सारे उद्योगोंको एकत्रित किए बिना, पूरा नफ़ा उठाना तथा होड़में जीवित रहना मुश्किल है। इसीलिए, हम बिड़लोंको जूट, कपड़ा, चीनीके कारख़ानों-को ही नहीं चलाते देखते; बल्कि उनकी बीमा-कम्पनियों और बैंकके कारबारको भी। डालमियाँकी सीमेंट, कागज, चीनीकी ही मिलें नहीं हैं; बल्कि वह भारत-बीमा कम्पनीको भी ले चुका है। हुकुमचंद तथा दूसरे पूँजीपतियोंकी भी यही बात है।

भारतकी परतंत्रताके कारण भारतीय पूँजीपतियोंको उतना हाथ-पैर फैलानेका अधिकार नहीं है, तो भी हमारे यहाँके बैंकों, बीमा तथा दूसरी कम्पनियोंके डाइरेक्टरोंकी सूचीको देखें, तो उनमें कितने ही परिचित राष्ट्रीय नेताओं और कौंसिल-एसेम्बलीके सदस्योंको देखेंगे, कर्मचारियोंमें तो उच्च अधिकारियों तथा मिनिस्टरोंके संबंधियोंको भी पायेंगे।

इंगलैंड, अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस आदि मुल्कोंमें राज-शक्ति और थैली-शक्तिका गठबन्धन और भी जबर्दस्त है। इंगलैंडमें पार्लमेंटके लार्ड-भवनके सदस्योंको बड़ी-बड़ी रेलों, बैंकों, कारख़ानोंमें सभी

जगह पायेंगे। मिनिस्टर जिस वक्त मिनिस्ट्रीमें जाते हैं, उस वक्त उन्हें डाइरेक्टर-पदसे इस्तीफ़ा देना होता है। किन्तु, यह बिछोह चन्द दिनोंका होता है, और कम्पनी अच्छी तरह याद रखती है, कि हमारा डाइरेक्टर वहाँ गया है, जहाँसे वह हमारे कारबारको सीधे नहीं तो टेढ़े, देश-में ही नहीं विदेशमें भी बढ़ानेका अच्छा मौक़ा देगा और मिनिस्टरी-से हटते ही वह फिर अपनी जगह भूतपूर्व मिनिस्टरीकी हैसियतसे आ बिराजेगा। इंगलैंडमें अर्थ-विभागके बड़े-से-बड़े अधिकारी, अवकाश ग्रहण करते ही बैंकोंके उच्च पदाधिकारी बन जाते हैं। युद्धके बड़े-बड़े पेंशनप्राप्त पदाधिकारी गोला-बारूदके कारखानोंके डाइरेक्टर क्यों बनाये जाते हैं? इसीलिये कि बड़े-बड़े सरकारी ठीकोंसे पूरा नफ़ा उठानेका मौक़ा मिले।

गेस्ट, कीन और नेटलफ़ील्डने इकट्ठा करके १२० लाख पौंड (१५६० लाख रुपये)को पूँजी कोयला-लोहेके व्यवसायमें लगाई है; इसपर चेम्बरलेन-परिवारका आधिपत्य है। गेस्ट, कीनका दक्षिणी वेल्सके बाल्डविन-व्यवसायके साथ संबंध है। नेविल चेम्बरलेनके बाप जोज़फ़ चेम्बरलेनने नेटलफ़ील्ड और चेम्बरलेन-व्यवसायोंको बढ़ाया, और इंगलैण्डके स्क्रूके व्यापारपर एकाधिपत्य क़ायम किया। जोज़फ़ चेम्बरलेनने ही चेम्बरलेन-परिवारके बड़े व्यवसायकी नींव रक्खी। हम जानते हैं कि जोज़फ़ चेम्बरलेन बोअर-युद्धके ज़मानेमें उपनिवेश-मन्त्री थे। १९०० ई०में चेम्बरलेन-परिवारपर ज़बर्दस्त आक्षेप हुए थे, और हल्ला मचा था कि उनकी कम्पनी—इलियट मेटल ऐंड स्क्रू लिमिटेड—ने युद्धके ठेकेसे बहुत फ़ायदा उठाया है। आम कहावत थी 'जितना ही अधिक बृटिश साम्राज्यका विस्तार हो, उतना ही ज्यादा चेम्बरलेनका ठेका भी।' बाल्डविनकी भाँति नेविल चेम्बरलेन-ने भी राजनीति नहीं, व्यापारीके तौरपर जीवन आरम्भ किया। १९२० ई० तक वह इलियट मेटल कम्पनी (कीनच वर्कस), जो कि अब

इम्पीरियल केमिकल इन्डस्ट्री, बर्मिंघम स्माल आर्म्स (शस्त्र) लिमिटेड और होस्किन एण्ड सन्स (नौ-सेनाके ठेकेदार)के डाइरेक्टर थे। बर्मिंघम स्माल आर्म्सके चेम्बरलेन जब डायरेक्टर थे, तो उसका नफ़ा १८६००० (१९१३ ई०), ४०८००० (१९१५), ४३५००० (१९१८) हुआ। १९१५-१६में २०% नफ़ा बाँटा गया। १९३५ ई०में इस कम्पनीको २००० पौंड नफ़ा हुआ था ; किन्तु १९३८ ई०में वह साढ़े चार लाख पौंड हो गया। इस शस्त्रीकरणके ज़मानेमें दूसरी शस्त्र-उत्पादक कम्पनियोंने भी ख़ूब फ़ायदा उठाया—इंगलैण्डकी १२ बड़ी कम्पनियोंका नफ़ा १९३५ ई०में १२,२०,००० पौंडसे १९३८ ई०में साढ़े एकतालीस लाख हो गया। चेम्बरलेन जब 'राष्ट्रकी भलाई'-पर ज़ोर देते, तो उसका मतलब था, उन पाँच सैकड़ा लोगोंकी भलाईसे जिनके पास राष्ट्रके धनका ९५ सैकड़ा है।

यदि पिछले पच्चीस वर्षोंके यूरोपीय सर्कारोंके दानादानपर नज़र डालते, उच्च मंत्रियों और उच्च अधिकारियों तथा पूँजीपतियोंके बीच हुए ऐसे अवैध दान-आदानोंको ही लें, जिनका कि भंडाफोड़ हो गया था; तो उनके वर्णनके लिये एक अलग पुस्तक चाहिये। लेकिन, जितने रहस्यों-का भंडाफोड़ हुआ, उनसे कई गुने अधिक कभी रोशनीमें आये ही नहीं। फिर बहुत-से तरीक़े ऐसे हैं, जो कि क़ानूनकी सीमामें नहीं आते, आखिर वैयक्तिक-सम्पत्तिके स्वामी कामचोर शासकोंने क़ानून भी तो अपने फ़ायदेके लिये बनाये हैं।

(३) *पूँजीका देशान्तरित करना*—पूँजीके एकत्रित होने तथा बैंकों और कारखानोंके आपसमें मिल जानेसे इजारादारी स्थापित होती है। पहिली अवस्थामें पूँजीपति पिछड़े देशोंसे कच्चा माल लेते और तैयार माल भेजते थे। इसके अतिरिक्त वह रेल या कर्ज़के लिये भी रुपये देते थे, जो सिर्फ़ इसीलिये कि पिछड़े देश उनके हाथमें बने रहें। लेकिन, जब एकाधिपत्य क़ायम हो गया, तो उन्होंने वहाँ पूँजी ले

जाकर अपने कारख़ाने क़ायम करने शुरू किये। यदि भारतकी कपास-से भारतमें ही कपड़ा तैयार किया जाय, तो जहाँ उसे विलायत जाने-आनेका भाड़ा बच जायगा, वहाँ अंग्रेज़ मज़दूरको तीन रुपया रोज़ देनेकी जगह यहाँ आठ आना रोज़में मज़दूर मिल सकता है। यही कारण था, जिससे कि अंग्रेज़ पूँजीपति कानपुर और बम्बईमें कपड़ेके कारख़ानोंको खोलनेमें सरगर्म देखे गये। पीछे इससे भारतीय पूँजीपतियोंने फ़ायदा उठाया, ख़ासकर प्रथम महायुद्धके बाद। पूँजी-के विदेशमें लगनेसे अपने देशके मज़दूरों और उसपर निर्भर लोगों-की जीविका छिनती है; किन्तु पूँजीपतिको इसकी क्या पर्वाह ? वह जीविका देनेके लिये नहीं, नफ़ा—अतिरिक्त मूल्य—कमानेके लिये व्यवसाय करता है।

पूँजीपति कितनी तेज़ीसे देशके बाहर पूँजीको लगा रहे हैं, इसका अन्दाज़ इसीसे लग सकता है, कि १८८१ ई०में जहाँ बृटेनने सवा अरब पौंड (सवा सोलह अरब रुपये) विदेशमें लगाये थे, और उससे ५.२० करोड़ पौंड (५७.६० करोड़ रुपया) सालाना नफ़ा उठा रहा था, वहाँ १९१५में ३ अरब ८० करोड़ पूँजीपर २० करोड़ पौंड (२.६० अरब) नफ़ा ले रहा था। १९२९ ई०में जितनी पूँजी इंगलैंड-की बाहर लगी हुई थी, उसपर ३० करोड़ पौंड या क़रीब चार अरब रुपये नफ़ाके आ रहे थे। बाहर लगी हुई पूँजीका आधा बृटिश साम्राज्यमें लगाया गया था। आख़िर साम्राज्यका अर्थ कच्चे-पक्के मालकी ख़रीद-बेंच नहीं, बल्कि पूँजीको ले जाकर वहीं कार-बार खोलना भी तो है। अमेरिका ऐसा मुल्क है, जो राजनीतिक साम्राज्य न रहनेपर भी थैलीका साम्राज्य क़ायम किये है; ख़ासकर महायुद्धके बाद तो अमेरिकन पूँजी और तेज़ीसे बाहर भेजी जाने लगी है। जैसे—

१९२३ ई०	२,६७० लाख डालर	(७०.१० करोड़ रुपये)
१९२४ ई०	६,९७० लाख "	(२९९.१ करोड़ ")

१६२५ ई०	१०,८३० लाख डालर	(३२५.८ करोड़ रुपये)
१६२६ ई०	११,४५० लाख ,,	(३४३.५ करोड़ ,,)
१६२७ ई०	१५,६७० लाख ,,	(४७०.१ करोड़ ,,)

(*भारत*)—इंगलैंडने व्यवसायके लिये भारतसे सम्बन्ध जोड़ा। उस वक्त बृटिश सौदागरों—ईस्ट इंडिया कम्पनी—का काम था एक जगहके मालको दूसरी जगह नफ़ेके साथ बेंचना। धीरे-धीरे जब भारतकी कमज़ोरियोंसे फ़ायदा उठाकर, उसने राजशक्ति भी अपने हाथमें ले ली, तो उसे भी उसी व्यापारी भावसे देखा और उसके फलस्वरूप हम बंगालमें क्या देखते हैं कम्पनीके शासनके पहिले साल (१८६४-६५)ई०में जहाँ मालगुजारी ८,१८,००० पौंड (आजकी दरसे १,०६,३४,००० रु०) थी, वहाँ कम्पनीके शासनके पहिले ही साल वह १४,७०,००० पौंड—पौने दो गुनेसे ऊपर हो गई।* और तबसे वह सारे कम्पनीके शासनमें कैसे बढ़ती गई, उसके लिये इस आँकड़ेको देखिये—

(१७६४-६५	१,१८,००० पौंड)
१७६५-६६	१४,७०,००० ,,
१७६०-६१	२६,८०,००० ,,
१८२२-२३	१,२६,००,००० ,,
१८५७-५८	१,७२,००,००० ,,

—अर्थात् कम्पनीके राज्यके ६३ वर्षोंमें बंगालकी मालगुजारी बीस गुना बढ़ गई। कैसा बढ़िया सौदा किया! और इस दोहनका परिणाम कम्पनीके राज्यके छठवें ही साल (१७७० ई०)में एक भारी अकाल देखते हैं, जिसमें बंगालके एक करोड़ आदमी भूखके

*पलासीके युद्धके बादके नौ वर्षों (१७५७-६६ ई०)में कम्पनीको ६० लाख पौंड या ८ करोड़ रुपयेके क़रीबकी भेंट मिली थी। व्यक्तियोंको मिलनेवाली भेंटें इससे अलग थीं।

मारे मर जाते हैं। १७७०से १९०० ई० तकके १३० सालोंमें हिन्दुस्तानमें २२ बड़े-बड़े दुर्भिक्ष पड़े, जिनमें इतने आदमी मरे, जितने कि पिछली तीन सदियोंकी दुनियाकी सारी लड़ाइयोंमें भी नहीं मरे।

यह तो हुई सामंतवादी इंगलैंडके व्यापार-प्रधान कालकी बात। १९वीं सदीके आरम्भसे वाष्प-चलित मशीनोंका युग आरम्भ होता है। इंगलैंड कल-कारखानोंके खोलनेमें सबसे आगे रहता है। इंगलैंड-के इन कारखानोंको बढ़ानेके लिये पूँजी कहाँसे मिली? इसका उत्तर ऊपरके ईस्ट इंडियन कम्पनीकी भेंट और कर जैसे उदाहरणोंसे भली भाँति मिल जायगा। १९वीं सदीके आरम्भमें कम्पनीके द्वारा भारत-से इंगलैंडको प्रतिवर्ष ३ लाख पौंड (चार करोड़ रुपया) जाता रहा। यदि व्यक्तियोंके दोहनको भी मिला दिया जाय, तो वह पचास लाख पौंड (७ करोड़ रु०) प्रतिवर्षसे जाता रहा। आगे पूँजी बढ़ानेका यह द्वार और भी खुलता गया।

१८३५-३६	५३,४७,०००	७ करोड़ रुपये
१८५१-५६	७७,३०,०००	१० करोड़ रुपये

यह कम्पनीके मदकी बात है। व्यक्तियोंकी आमदनीकी बचत अलग समझिये।

व्यापारवादी बृटेन जैसे-जैसे पूँजीवाद-प्रधान होता गया, वैसे ही वैसे भारतसे इंगलैंडको तैयार माल कम तथा कच्चा माल ज्यादा जाने लगा, और इंगलैंडका तैयार माल भारतमें ज्यादा आने लगा—

	बृटेन को	बृटेनसे भारतको
१८१४	१२,६६,६०८ थान	८,१८,२०८ गज
१८२१	५,३४,४९५ ,,	१,९१,३८,७२६ ”
१८२८	४,२२,५०४ ,,	४,२८,२२,०७७ ”
१८३५	३,०६,०८६ ,,	५,१७,७७,२७७ ”

—अर्थात्, जहाँ इंगलैंड जानेवाला भारतका तैयार कपड़ा इन इक्कीस सालोंमें चौथाई रह गया, वहाँ इंगलैंडसे भारतमें कपड़ेकी आमदनी साठ गुनासे भी ज्यादा हो गई। यही बात रेशमी-ऊनी कपड़ों-की है। उन्नीसवीं सदीके मध्य तक भारतीय तैयारी मालके इंगलैंड जाने-का रास्ता हम बिल्कुल बन्द होते देखते हैं। उसके बाद भारत इंगलैंड-के पूँजीपतियोंके लिये कच्चा माल जुटानेवाला बन जाता है, जो कि प्रतिवर्ष इंगलैंड जानेवाली रूई, जूट और अनाजकी इस सूचीसे मालूम होगा—

	रूई	जूट	अनाज
१८४६	१७,७५,३०६ पौंड	६८,७१७ पौंड	८,५८,६६१ पौंड
१८५८	४३,०१,७६८ ,,	३,०३,२६२ ,,	३७,६०,३७४ ,,
१९०१	१,०१,२६,७१७ ,,	१,०८,७७,७५६ ,,	१,४०,६६,५०६ ,,

उन्नीसवीं सदीके तीन-चौथाई हिस्सेमें जब तक पूँजीवाद साम्राज्य-वादका रूप नहीं ले पाया, तब तक हिन्दुस्तान इंगलैंडके लिये सिर्फ़ कच्चा माल पैदा करता, तथा विलायती तैयार मालके बेंचनेका बाज़ार रहा; लेकिन जब इंगलैंडने साम्राज्यवादकी ओर क़दम बढ़ाना शुरू किया और इजारादारीके साथ बृटिश पूँजी भी भारतमें आने लगी, तबसे हिन्दुस्तानमें भी कारखाने खुलने लगे। १८७६ ई०से भारतीय कपड़ेकी मिलें कैसे बढ़ीं, इसे देखिये—

	मिलें	करघे	पूँजी
१८७६ ई०		६,१३६	
१९१३ ई०	१७२	६४,१३६	
१९३२ ई०	३४०	१,८६,४०७	
१९३१	३५०		३६·४६ करोड़ रुपया
१९३८	३८४		३७·६० ,, ,,

भारतमें जो कपड़ा तैयार हुआ—

१८९९	१० करोड़ ४० लाख पौंड (आधा सेर)
१९१४	२७ ,, ४० ,, ,,
१९३१	५६ करोड़ पौंड

और जूट—

	मिलें	कर्घे	तकुये
१८७९-८०	२२	४,९४६	७०,८४०
१९१३-१४	६४	३६,०५०	७,४४,२८९
१९३०	१००	६१,८३४	१२,२४,९८२
१९३५	१००	६३,०००	१२,७६,०००
१९३८	१०५	६७,०००	१३,३८,०००

और लोहा ! जमशेदपुरमें ताताका कारख़ाना १९०७ ई०में क़ायम हुआ था, जिसमें १९२५ ई०में बंगाल लोहा-फ़ौलाद कम्पनी भी शामिल हो गई। इसके अतिरिक्त भद्रावती (मैसूर) आदिके भी कारख़ाने हैं। ताताके कारख़ानेकी उपज इस तरह बढ़ी—

	कच्चा लोहा	फ़ौलाद
१९१४	२,४०,००० टन	७०,००० टन
१९३०	११,४००,०० ,,	६,१६,००० ,,
१९३९	१८,३८,००० ,,	२८,७५,००० ,,

और कोयला—

१९१३	१ करोड़ ६२ लाख टन
१९१९	२ करोड़ २६ लाख टन
१९२९	२ करोड़ ३० लाख टन
१९३९	२ करोड़ ७७ लाख टन

जूट और कोयलेका रोजगार ज्यादातर अंग्रेज़ कम्पनियोंके हाथमें है। हिन्दुस्तानमें १९१६ ई०में जहाँ साढ़े छब्बीस करोड़ पौंड या पौने छः अरब रुपयेकी विलायती पूँजी लगी थी; वहाँ १९३१-३२में वह १० अरब ८१ करोड़ या दूनीके क़रीब हो गई। भारतमें कल-कारखानों-में जितनी पूँजी १९३४ ई०में लगी थी, उसमें आधी अँग्रेजी पूँजी थी। अंग्रेजी पूँजी लड़ाईके बाद कैसे बढ़ी, इसे देखिये—

	कम्पनियाँ	पूँजी
१९२२-२३	७२०	४८७० लाख पौंड
१९३१-३२	९११	७५६० लाख पौंड
		(= १०·०८ अरब रुपये)

इस पूँजीका विवरण इस प्रकार है—

	कम्पनियाँ	पूँजी (पौंड)
बैंक और कर्ज	२९	९९३ लाख पौंड
बीमा	१४३	८०४ लाख ,,
जहाजी	१८	४१३ लाख ,,
रेलवे	१८	२४८ लाख ,,
व्यापार	३५९	३०९८ लाख ,,
चाय	१८०	२८२ लाख ,,
खान	३४	१,१३४ लाख ,,
जूट	५	२८ लाख ,,

एक अमेरिकन प्रोफ़ेसरने भारतमें वृटिश साम्राज्यके स्वार्थके बारेमें लिखा है*—

*Imperialism & world politics (by Parker T. Moon 1933, P. 291)

"सार्वजनिक ऋण,* जिसका अधिकांश अंग्रेज पूँजीवालोंका है, साढ़े तीन अरब डालर (११॥ अरब रुपये) है;† विदेशी ६३४ कम्पनियाँ, जिनमें अधिकांश अंग्रेज़ हैं, ढाई अरब डालर (७॥ अरब रुपये)की पूँजी रखती हैं; भारतमें संगठित ५१६४ कम्पनियों और उनकी एक अरब डालर (३ अरब रुपये)की पूँजीमें भी काफ़ी अंग्रेज़ी पूँजी लगी हुई है।

"इसमें व्यापारको जोड़ दो। बृटेन हिन्दुस्तानमें प्रतिवर्ष एक अरब डालर (३ अरब रुपये)का माल बेंचता है, जो इंगलैंडके सारे निर्यात व्यापारका $\frac{१}{१०}$ है, और हिन्दुस्तानसे चालीस करोड़ डालर (१२० करोड़ रुपये)का माल ख़रीदता है, जो प्रायः सारा ही कच्चा माल है, और भारतके सारे निर्यात का $\frac{९}{१०}$ है। ... इंगलैंडके कपड़ेके कारख़ानेवालोंको हिन्दुस्तानका अर्थ है, साढ़े बाईस करोड़ डालर (साढ़े ६७ लाख रुपये) वार्षिक; और लोहा-फ़ौलाद, रेलवे मोटर तथा दूसरी मशीनोंसे १० करोड़ डालर (३० करोड़ रुपये)। १२ करोड़ डालरकी चाय. करोड़ों डालरके जूट, कपास, चमड़ा तथा दूसरी चीज़ोंको भेजनेका व्यापार भी अंग्रेज़ कम्पनियोंके हाथसे होता है।..."

आर्थिक लाभ और व्यापारके लिये किस तरह अंग्रेज़ोंने अपना राज्य-विस्तार किया, इसका ज़िक्र करते हुए मून ने लिखा है—

"यद्यपि (१८५७के) ग़दरके बाद निस्सन्तान राजाके राज्यको

---

*यह एशिया और अफ्रीका तकको लड़ाइयोंमें इंगलैंडके लाभके लिये खर्च किया गया।

†सर जार्ज पेशके अनुसार युद्धसे पहिले भारतमें ३७६० लाख पौंड (प्रायः ५ अरब रुपये) अंग्रेजी पूँजी लगी हुई थी।

ले लेनेकी नीति उठा दी गई, तो भी रियासती भारतके मत्थे बृटिश भारतका क्षेत्रफल बढ़ता ही गया, जैसे कि—

नया क्षेत्र	१८६१—७१	४,०००	वर्गमील
	१८७१—८१	१५,०००	,,
	१८८१—९१	९०,०००	,,
	१८९१—१९०१	१,३३,०००	,,

"१९०१के बाद बृटिश राज्यकी वृद्धिने दूसरा रूप लिया है।... महाराजा, राजा, निजाम और दूसरे देशी शासक अब भगवानकी दया-से नहीं, इंगलैंडकी दयासे शासन करते हैं। वस्तुतः, अंग्रेजोंने उन्हें इतना उपयोगी शासन-यंत्र समझा है कि आज उनके बारेमें कहा जा सकता है—उनका निरंकुश शासन बृटेनकी सहायतापर निर्भर है।"

"...१८७६ ई०में साम्राज्यवादी युगके उगते बाल-सूर्य डिसाराइली-ने पार्लमेंटको राजी किया कि महारानी विक्टोरियाको भारत-साम्राज्ञी-की उपाधि दी जाय। यह सिर्फ़ इस बातके विज्ञापनके लिये किया गया था कि 'इंगलैंडकी रानी प्राच्य देशोंमें सबसे जबर्दस्त देशकी स्वामिनी हैं।' उसीका अगला क़दम था १९११ ई०में राजा जार्ज और रानी मेरीका भारत आना और प्राच्य देशोंकी तड़क-भड़कके साथ भारत-की पुरानी राजधानी दिल्लीमें उनका अभिषेक होना ...। सिंहासना-रोह या (दिल्ली) दर्बारकी आँखोंको चौंधिया देनेवाली धूमधाम, हिन्दुस्तानपर यह प्रभाव डालनेके लिये की गई थी, कि इंगलैंडने पुराने मुग़लोंका—जिनका तख्त दिल्लीमें था—राज्याधिकार अपने हाथमें ले लिया। पार्लमेंटरी शासन और राजनीतिक स्वतंत्रताकी जन्मभूमि ग्रेट बृटेन, मरे हुए प्राच्य स्वेच्छाचारके बाहरी प्रदर्शनको इस तरह भारतमें पुनरुज्जीवित करेगा, यह १९११में दिल्लीके ऐतिहासिक दर्बारके कुछ दर्शकोंके लिये उचित नहीं मालूम हुआ।"

अंग्रेज़ शासकोंकी अपनी भारत-हितैषिताके ढिंढोरा पीटनेके बारे-में अमेरिकन प्रोफ़ेसरका कहना है* —

"बृटिश साम्राज्यवादी अभिमानके साथ कहना चाहते हैं कि (पिछले) युद्धको जीतनेके लिये भारतने १५ करोड़ पौंड (दो अरब रुपये), ८ लाख सिपाही और समुद्र पार काम करनेके लिये ४ लाख मज़दूर दिये। बात उल्लेखनीय ज़रूर है; मगर इसे भोलेपनसे नहीं मान लेना चाहिये, क्योंकि रंगरूट फ़ौजी श्रेणियों और जातियोंसे लिये गये थे, जिनका शहरोंके शिक्षितोंसे कोई वास्ता न था, और आर्थिक सहायता बृटेन-नियंत्रित शासन द्वारा दी गई थी। यह सच है कि कुछ देशी राजाओंने हाथ खोलकर सहायता दी थी; किन्तु उसका कारण ए० जे० मेकडानल्डके शब्दोंमें—'वह अनुभव करते थे कि (उनके) स्वेच्छाचारी शासनका अस्तित्व बृटिश आधिपत्यपर निर्भर है।'

पूँजीवादी बृटेन कैसे भारतका शोषण कर रहा है, इसका वर्णन समाप्त करते हुए एक और मद—शासन-व्यय—का भी ज़िक्र कर देना जरूरी है; क्योंकि भारतके साथ समझौता करनेके लिये आर्थिक स्वार्थ, राजाओंके साथ सन्धिके अतिरिक्त अंग्रेज़ नौकर-शासकोंके स्वार्थको भी सुरक्षित करनेकी बात पेश की जाती है। १८७६से १९२९ तक किस तरह शासन-व्यय बढ़ता गया वह निम्न तालिकासे मालूम होगा—

	फ़ौज (प्रति व्यक्ति रुपया)	सार्वजनिक हित (प्रति व्यक्ति रुपया)
१८७६	१·८१०)	·१५९)
१८८६	२·१०८)	·१६६)
१८९६	२·१४२)	·२०१)
१९०६	२·४६२)	·२७७)

*मून, पृष्ठ ३००

	फ़ौज (प्रति व्यक्ति रुपया)	सार्वजनिक हित (प्रति व्यक्ति रुपया)
१९१२	२'५१४)	'३०२)
१९२१	४'५११)	'५८८)
१९२९	४'२१०)	'८६७)

फ़ौजी तथा शासन-विभागके बड़े-बड़े नौकर अधिकांश अंग्रेज़ होते हैं, और फ़ौजी सामान प्रायः सारा ही इंगलैंडसे आता है ; इसलिए आसानीसे समझा जा सकता है, कि इस शासन-व्ययसे किसको सबसे अधिक लाभ है।

(४) *साम्राज्यवादके कारण और सहायक*—यूरोपने साम्राज्य-वादको पहिले हीसे तर्क-वितर्कसे सोचकर नहीं अपनाया ; बल्कि उसका प्रादुर्भाव तब हुआ, जब कि आर्थिक और तज्जन्य राजनीतिक परिस्थि-तियोंने वैसा करनेके लिये मजबूर किया। पुराना ज़माना, पुरानी व्यवस्था बदली, "और यदि नया आकाश नहीं तो नई ज़मीन" ज़रूर दिखलाई पड़ने लगी।

(क) *यंत्र*—औद्योगिक क्रान्ति लानेवाले आविष्कारोंसे सबसे पहले लाभ उठानेवाला इंगलैंड था। जब तक दूसरे राष्ट्र हाथसे काम करते रहे और इंगलैंड, भाप और मशीनसे ; तब तक उसे प्रतियोगिताका ख़तरा नहीं था। और दूसरे राष्ट्र मशीनके इस्तेमाल करनेमें बहुत सुस्त रहे भी। वजह, पूँजीकी कमी थी। उन्नीसवीं सदीके पहिले पृथिवीके तीन-चौथाई भागोंमें बृटिश उद्योग-धंधेके सामने दूसरे राष्ट्रोंके उद्योग-धंधे नगण्य-से थे। १८७० ई०में इंगलैंड दुनियाके सारे लोहेका आधा उत्पन्न करता था। कपासके मालका आधा उसके यहाँ पैदा होता था। उसका बाहरी व्यापार किसी भी प्रतिद्वन्दी राष्ट्रसे दूना था। किन्तु, उन्नीसवीं सदीके अन्तिम पादमें हालत बदल गई थी। जर्मनी, युक्त-

राष्ट्र, फ्रांस और दूसरे यूरोपीय राष्ट्र भी उद्योग-धंधेमें बहुत आगे बढ़ गये। इंगलैंडका लौह-उद्योग दूसरोंकी बनिस्बत पीछे पड़ने लगा, और शताब्दीके अन्त तक पहुँचते-पहुँचते युक्त-राष्ट्र प्रथम हो गया; इंगलैंड-का दर्जा दूसरा रह गया। जैसा कि निम्न आँकड़े बतलाते हैं (कच्चा लोहा लाख टन)—

	१८७०ई०	१८९६	१८९७	१९०३
बृटेन	५९·६०	८६·६	८७·९६	८९·३५
युक्त राष्ट्र (अमेरिका)	१६·७०	८६·२३	९६·५३	१८०·०९
जर्मनी	१३·९	६२·६	६७·६	९८·६

अर्थात्, १८७०—१९०३ ई०के बीच जहाँ इंगलैंडकी लोहेकी उपज सिर्फ़ ५२% बढ़ी, वहाँ अमेरिका (युक्तराष्ट्र)की ९६६% और जर्मनीकी ६०९%।

इसी तरह कपड़ेके बाज़ारमें अमेरिका (और जापान भी) बृटेनके साथ प्रतिद्वन्दिता करने लगे, जैसा कि व्यवसाय बढ़ानेकी दरके ये आँकड़े बतला रहे हैं—

	१८७०-८० ई०	१८८०-९० ई०	१८९०-१९०० ई०
बृटेन	१९	१८	—३
युक्तराष्ट्र	९०	४२	५०
यूरोप	३३	५३	२५

निर्यात व्यापारकी भी कहानी ऐसी ही है, जहाँ १८७०-१९०० ई० के तीस वर्षोंमें अमेरिकाका निर्यात चौगुना हो गया, ज़र्मनीका दुगुना, वहाँ इंगलैंडका ड्योढ़ा (४५%) भी नहीं हो पाया।

इसका परिणाम हुआ, बाज़ारमें तीव्र प्रतियोगिता। हरएक बड़े-बड़े औद्योगिक राष्ट्र कपड़ा, लोहा, फ़ौलाद तथा दूसरे माल उससे कह ज्यादा पैदा कर रहे थे, जितना कि वह स्वयं इस्तेमाल कर सकते थे।

सबके पास फ़ाज़िल माल था, जिसे वह बाहरके मुल्कोंमें बेंचना चाहते थे। लेकिन, कोई भी औद्योगिक राष्ट्र अपने यहाँ दूसरेके मालकी खपतको नहीं देखना चाहता था। इंगलैंडके अतिरिक्त सभी मुल्कोंने अपनी सीमाओंपर चुंगीकी ऊँची दीवार इसलिए खड़ी कर रखी थी, जिसमें कि दूसरेका माल भीतर पहुँचते-पहुँचते बहुत महँगा पड़ जाय। गृह युद्ध और उसके बाद युक्त-राष्ट्रने अपने नवजात उद्योग-धंधेकी रक्षाके लिये चुंगी लगाई, और १८९० तथा १८९७ ई०में चुंगीको और ऊँचा किया। रूसने भी १८७७से चुंगीको ऊपर उठाना शुरू किया। जर्मनीने १८७९में, फ्रांसने १८८१में और दूसरे मुल्कोंने भी इसका अनुसरण किया। फ्रेंच महामंत्री फेरी ने १८८५ ई०में परिस्थिति-का वर्णन इस तरह किया—

"हमारे महान् उद्योगोंको किस चीज़की कमी है? उनको कमी है ज्यादा और ज्यादा बाज़ार की। जर्मनी अपने गिर्द (चुंगीकी) दीवार खड़ी कर रहा है; इसलिये कि युक्तराष्ट्र (अमेरिका) चुंगीवादी हो गया है, और वह भी चरम सीमाका।"

अब इस अँधेरेमें प्रकाशकी किरणें सिर्फ़ एक दिशासे आ रही थीं, वह थे उपनिवेश—अधिकृत देश। एक अंग्रेज़ साम्राज्यवादी सर फ्रेडरिक लगार्डने अपनी पुस्तक "हमारे पूर्व-अफ्रीकीय साम्राज्यका उत्थान"में १८९३ ई०में लिखा था—

"जब तक हमारी नीति मुक्त व्यापारकी है, तब तक हम नये बाज़ारोंको ढूँढ़नेके लिये मजबूर हैं; क्योंकि पुराने बाज़ार प्रतिरोधी चुंगी-द्वारा हमारे लिये बंद किये जा रहे हैं। हमारे अधीनवाले बड़े-बड़े देश, जो पहिले हमारे मालके खरीदार थे, अब हमारे व्यवसायके प्रतिद्वन्द्वी होते जा रहे हैं।...."

उन्नीसवीं सदीके अन्तमें यूरोपने साम्राज्य-विस्तारपर ज़ोर दिया, उसका कारण था यही फ़ाजिल माल की खपतके लिये बाज़ारकी

तलाश। इसीके परिणाम-स्वरूप आज हम पृथिवीपर छोटे-बड़े साम्राज्यों-का विस्तार निम्न प्रकार (वर्गमील) पाते हैं—

	अफ्रीका	एशिया	प्रशान्त-महासागर	अमेरिका	योगफल
बृटिश	४२,०३,०००	२१,६,०००	३१,७६,०००	४०,०८,०००	१,३६,१६,०००
फ्रेंच	१७,७३,०००	३,१८,०००	१०,०००	३६,०००	६४,००,०००
पोर्तुगीज	६,२७,०००	६,०००	१,६००		६,३६,०००
बेलजियन	६,३१,०००	६,०००			६,३७,०००
युक्तराष्ट्र	३७,०००		१,२२,०००	९,५२,०००	६,११,०००
डच (हालैंड)			७,३४,०००	५५,०००	७,८९,०००
इतालियन	७,८०,०००				७,८०,०००
स्पेनिश	१,३२,०००				१,३२,०००
जापान		८६,०००	२८,०००		१,१४,०००
				(वर्गमील)	२,८७,४२,०००

और इन साम्राज्यों की जनसंख्या (लाख में)—

	अफ्रीका	एशिया	प्रशान्त-महासागर	अमेरिका	योगफल
बृटिश	६५०	३३३०	८०	११०	४१७०
फ्रेंच	३५०	२३०	क	क	५६६
डच			५००	क	५००
जापान		१९०	४०		२३०
युक्तराष्ट्र	१५		११४	९०	२२०
बेलजियन	११५				११५
पोर्तुगीज	८०		क	क	९०
इतालियन	१६				२०
स्पेनिश	१०				१०
					६३००

क* १० लाखसे कम

साम्राज्य-विस्तारकी गति कैसी रही, इसके लिये इंगलैंडका उदाहरण ले लीजिये। १८६०में बृटिश-साम्राज्यके २५ लाख वर्गमील अधिकृत देश थे, जिनकी जनसंख्या साढ़े चौदह करोड़ थी। किन्तु, १६००में अधिकृत देशोंका क्षेत्रफल ६३ लाख वर्गमील तथा जनसंख्या ३१ करोड़के करीब; और आज वहाँ १३६ लाख वर्गमील और पौने बयालीस करोड़ जनसंख्या है। फ्रांसकी वृद्धि देखिये—

	क्षेत्रफल (वर्गमील)	जन-संख्या
१८६०	२,००,०००	३४,००,०००
१८८०	७,००,०००	७५,००,०००
१६००	३७,००,०००	५,६४,००,०००
महायुद्ध के बाद	६४,००,०००	५,६०,००,०००

युद्धके बाद पराजित शक्तियोंके अधिकृत देशोंकी जो बंदर-बाँट हुई थी, उसमें सबसे बड़ा भाग इंगलैंड और फ्रांसको मिला। "अदूर-पूर्व"-में तुर्कीके अधिकृत देशोंमें फ़िलस्तीन और इराक़ अंग्रेज़ोंके हाथ आये, और सिरिया फ्रांसके हाथमें। बाकीके बँटवारेकी सूची—

अफ्रीका

		क्षेत्रफल	जन-संख्या
टोगोलैंड	बृटिश टोगोलैंड	१२,६००	१,८५,०००
	फ्रेंच टोगोलैंड	२२,०००	७,४७,०००
केमरोन	बृटिश केमरोन	३१,०००	५५,०,०००
	फ्रेंच केमरोन	१,६६,०००	२७,७१,०००
जर्मन पूर्व-अफ्रीका	तंगानिका (बृटिश)	३,६५,०००	४१,२५,०००
	रुआंडा-उरुंडी (वेल्जियन)	२१,२३५	३०,००,०००
दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका		३,२२,०००	२२,८०,०००

दक्षिण सागर

दक्षिण सागर-द्वीप (जापान)	८००	४२,०००
न्यू गायना (आस्ट्रेलिया)	८६,०००	४,००,०००
पश्चिमी सोमोओ (न्यूजीलैंड)	१,२५०	३८,०००
नौरू द्वीप (बृटेन)	१०	२,०००

(ख) *यातायातकी सुविधाएँ*—यूरोपीय पूँजीवादके साम्राज्यवादी रूप लेनेमें दूसरा कारण या सहायक, यातायातकी वह सुविधाएँ और विस्तार था, जो कि उन्नीसवीं सदीके चौथे भागमें हुईं। अधिकृत देशोंकी उपजसे लाभ उठानेके लिये भापवाले जहाज़ोंकी ज़रूरत थी। एशिया और अफ्रीकाके दुरूह स्थानों तक माल और सेनाके पहुँचानेके लिये रेलोंकी ज़रूरत थी। अधिकृत देशोंको स्वामिदेशके साथ नजदीकसे बाँधनेके लिये तारकी ज़रूरत थी। यद्यपि भाप-जहाज़ रेल-इंजन और तारका आविष्कार बहुत पहिले हो चुका था, किन्तु उसका जितना विस्तार उन्नीसवीं सदीके अन्तिम पादमें हुआ, उतना पहिले न था, जैसा कि इस तालिकासे मालूम होगा—

	१८५०	१८७३	१८८०	१८९०	१९००
रेलवे (हज़ार मील)	२४		२२४		५००
भाप-जहाज़ (प्रति सैकड़ा कुल जहाज़)		२५		५६	७७
तार (हज़ार मील)	५		४४०		११८०

(ग) कच्चे *मालकी माँग*—तीसरी बात थी गरम और अल्पगरम देशोंके कच्चे मालकी औद्योगिक देशोंमें माँग। हिन्दुस्तानसे कच्चे मालका जाना किस तरह बढ़ा, इसके बारेमें हम कह आये हैं। इंगलैंड लम्बे रेशेकी कपासको पहिले अमेरिकासे खरीदता था; किंतु जब अमेरिकाने खुद कपासका कपड़ा बनाना शुरू किया, तो यह काम मिश्र-

के ज़िम्मे दिया गया। १८६५ ई०में मिश्रने ३४८ हजार मन कपास उपजाई, जो कि १८६० ई०में ६ गुनी हो गई। रबर, कोको, चाय, चीनी, नारियल आदि चीज़ोंकी माँग ही थी, जिससे कि कांगो, मलाया, लंका, जावा तथा दक्षिणी प्रशान्त-महासागरके टापुओंपर गुलामीकी जंजीर मजबूत की गई। खादमें उपयुक्त होनेवाले फ़ास्फ़ोटके लिये ही फ़्रांसने उत्तरी अफ़्रीकाकी अपनी *कालोनियों* (अधिकृत देशों)को पकड़ रखा है; और टीनके लिये फ़्रांसने दक्षिणी चीनपर अपना पंजा जमा रखा है। ट्रान्सवालकी सोनेकी खानें थीं, जिनके लिये इंगलैंडने ट्रान्सवाल (अफ़्रीका)को विजय करना ज़रूरी समझा। लोहा, कोयला, कपास हैं, जिनके लिये जापानने चीनको निगलना शुरू किया। तेल-अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ोंकी एक बड़ी जड़ है। मोसल, ईरान, बर्माकी तेल खानें जब तक मौजूद हैं, और ये छोटे-छोटे देश जब तक आत्म-रक्षा करनेमें असमर्थ हैं, तब तक इन्हें साम्राज्यवादियोंके पंजेसे मुक्त होनेकी आशा नहीं करनी चाहिये।

(४) चौथी बात पूँजीका बाहर ले जाना है, जिसे हम बतला चुके हैं।

लेनिनने साम्राज्यवाद और कालोनीके संबंधमें लिखा है—"सिर्फ़ कालोनी-अधिकार ही (ऐसी बात) है, जो कि प्रतिद्वन्द्वियोंके साथ प्रतियोगिताके खतरेसे इजारादारीको सफल बनानेकी गारंटी दे सकता है।...पूँजीवाद जितना ही अधिक विकसित होता है, उतना ही कच्चे मालकी ज़रूरत अधिक होती है; प्रतियोगिता जितनी ही सख्त होती जाती है, उतना ही अधिक सारी पृथिवीपर कच्चे माल-की ज़बर्दस्त तलाश शुरू होती है और उतना ही अधिक लोनियोंके प्राप्त करनेका संघर्ष प्रखर हो उठता है।"

(घ) "अंधा बाँटे अपनों को"—यही नहीं कि चुंगीसे बचनेके लिये औद्योगिक जातियोंको कालोनियोंके बाज़ार और कच्चे मालकी ज़रूरत है; बल्कि उच्च जातियोंका निम्न जातियोंपर अधिकार है, और वह अधिकार है कर्त्तव्यके कारण—उच्च जातियोंका कर्त्तव्य है निम्न जातियोंको सभ्य बनाना। फ्रांसको अफ्रीकासे दासताका दाग़ धोना होगा। सभ्य श्वेत जातियोंके सरके ऊपर भगवान्ने एक भारी कर्त्तव्यका बोझ दे रखा है, जैसा कि अंग्रेज़ साम्राज्यवादी कवि किपलिङ्ने १८९९ ई०में लिखा था।*

'गोरोंका दायित्व-भार है, भार वहनकर,
भेज कोखके लाल अनोखे निर्वासितकर
सात समन्दर पार, इष्ट शासित जनका उपकार;
वहाँ कठिन कर्त्तव्य निरत वे रहें निरन्तर,
जहाँ अधीर, असभ्य, क्षुब्ध बन्दीजनका घर
जो आधे राक्षस से, आधे शिशुओंसे साकार।"

लेकिन किपलिङ्की कविता और पूँजीवादियोंके उच्च आदर्शका ढिंढोरा किसीकी आँखमें धूल नहीं झोंक सकता। १९२०—२२ ई०-

---

*"Take up the white mans' Burden
Send forth the best ye breed,
Go bind your sons to exile
To serve your captives' need;
To wait in heavy harness,
On fluttered folk and wild
Your new caught, sullen peoples,
Half devil and half child."

में इंगलैंडसे भारत आनेवाले मालके निम्न आँकड़ेको कौन मिटा सकता है ?—

सूत, कपड़ा	५३,३५,७७,०००	पौंड
लोहा, फ़ौलाद, इंजन, मशीन	३,७४,२३,०००	,,
गाड़ी, लोरी, मोटर	४२,७४,०००	,,
काग़ज़	१८,५८,०००	,,
पीतल काँसेकी चीज़ें	१८,१३,०००	,,
ऊनी कपड़ा, सूत	१६,००,०००	,,
तम्बाकू	१०,६०,०००	,,
दूसरे सामान	१०,२३,०००	,,
	५८,२६,२८,०००	,, या ७ अरब ५७॥ करोड़ रुपया।

कच्चे-पक्के माल शस्त्र व्यवसाय और बैंकवालोंका सम्राजी नफ़ेसे सीधा संबंध है ; किन्तु लुटेरा बाँटकर खानेमें ही अपना ज्यादा स्थायी लाभ देखता है ; इसीलिए व्यवसायी लोग विल्हेल्म द्वितीय, निकोला द्वितीय, किसी राजवंशिक ड्यूक,* और महामंत्री या मंत्रीके संबंधीको, कालोनीकी रेलों, जहाज़ों और दूसरे व्यवसायोंमें पूँजी लगानेके लिये राज़ी कर लेते हैं ; किसी राष्ट्रपतिके साले या बहनोई-को मेक्सिकोके तेल-व्यवसायमें शामिल करते हैं, जिसमें कि राष्ट्रपति-भवनपर व्यवसाय अपना प्रभाव क़ायम रख सके। दक्षिणी अफ़्रीका-

* राजा लो-बेंगुलाकी भूमि (वर्त्तमान रोडेशिया)पर रोड्सकी कम्पनीका अधिकार स्वीकार करनेमें जब महामंत्री लार्ड सालिसबरी इन्कार कर रहे थे, तो 'रोड्सने अपनी क़ायम होनेवाली कम्पनीका सभापति, उप-सभापति फाइफ़ और अबेरकोर्नके ड्यूकोंको बना दिया।

के हीराके राजा तथा ५ अंग्रेज़ महापूँजीपतियोंमें एक सेसिल रोड्सने पार्लमेंट उदार-दलके कोशमें अपनी थैली इसीलिये खोली थी, कि वह मिश्रपरसे कहीं अपना हाथ न खींच ले। रोड्सने जबर्दस्त समाचार-पत्रोंको—हिन्दुस्तान टाइम्सके स्वामियोंकी भाँति—इसीलिये खरीदा, कि वह पूँजीवादकी साधारण तौरसे, और अपने स्वामीकी विशेष तथा सूक्ष्म तौरसे प्रशंसा करें। विश्वविद्यालयों, अस्पतालों और पुस्तकालयोंको जो बड़े-बड़े दान दिये जाते हैं, वह भी उसी तरह व्यवसायके अंग हैं, जैसे कि विज्ञापनबाजी।

पूँजीपतियोंने अपने महान् शोषण-यंत्रमें दूसरे भी कितने ही तरहके व्यक्तियोंको शामिल कर लिया है। (i) सेनाके अफसरोंकी शस्त्र-व्यवसाय हीमें नहीं, सेनाके विस्तार और अधिक व्ययपर भी स्वार्थपूर्ण निगाह पड़नी ज़रूरी है।

(ii) यही बात राजदूतों, कालोनीके बड़े नौकरों और उनके परिवारके बारेमें है; क्योंकि वह जानते हैं कि उनकी जीविका—वेतन और पेंशन—का स्रोत क्या है।

(iii) लार्डवंशोंके छोटे पुत्रों—जिनका पैतृक सम्पत्तिमें कोई अधिकार नहीं होता—की भी समस्या कठिन है, जिसका हल पार्लमेंट, पादरी-पद, वायु-जल-स्थल-सेनाके अतिरिक्त कालोनीकी नौकरियाँ भी हैं।

(iv) व्यवसायी, सैनिक और 'छोटे पुत्रों'के अतिरिक्त पादरियोंका व्यवसाय भी साम्राज्यवादी राष्ट्रोंके लिये कम आकर्षक नहीं है। उन्नीसवीं सदीमें जहाँ धर्मके प्रति अश्रद्धा और सन्देह बहुत बढ़ गया, वहाँ यूरोप और अमेरिकामें धार्मिक पुनरुजीवनके लिये भी भारी उत्साह और उसके परिणामस्वरूप मिशन-कारबारका बढ़ना बड़ी उल्लेखनीय घटना रही है। यद्यपि मिश्नरी गये तो बतलाये जाते हैं, स्वर्ग-सम्राज्य क़ायम करनेके लिये, किन्तु वह कितनी ही बार सांसारिक

साम्राज्यकी क़ायमी और विस्तारमें बड़े सहायक साबित हुए हैं। कितनी ही बार उन्होंने यह काम अनजाने भी किया। दो जर्मन मिश्नरियोंकी हत्याने चीनमें जर्मनीको एक बड़े बन्दरगाहपर कब्जा करनेका मौक़ा दिया।

(४) साहस यात्रियों और भौगोलिक-वैज्ञानिक गवेषकोंने सिर्फ़ विज्ञानकी सीमाका ही विस्तार नहीं किया, बल्कि उन्होंने जाने-अनजाने—और अकसर जान बूझकर ही—साम्राज्यके विस्तारमें भी भारी मदद पहुँचाई. यही वजह है, कि पूँजीपति और उनकी सर्कारें इस कार्यमें दिल खोलकर मदद देती रहीं। हेनरी मोर्टन स्टेनूली सिर्फ़ भौगोलिक गवेषक ही नहीं था. और उसकी १८७४-७७की अफ्रीका-के अज्ञात भागकी यात्राने सिर्फ़ वहाँके भूगोल-ज्ञानको ही नहीं दिया, बल्कि काँगोपर बेल्जियमका अधिकार उसीकी सहायतासे हुआ। पहिले उसने अपनी जन्मभूमि इंगलैंडको यह उपहार देना चाहा था, किन्तु इगलैंडने जब उसकी बातपर ध्यान न दिया, तो स्टेन्ली बेल्जियमके राजा ल्युपोल्डके पास पहुँचा। मान्चेस्टरके व्यवसाइयों-को उत्तेजित करते हुए स्टेनलीने १८८४ ई० में कहा था—

"कांगोके मुहानेके परे चार करोड़ आदमी हैं, जिनको पहनाने-के लिये मानचेस्टरके जुलाहे इन्तज़ार कर रहे हैं। बर्मिंघमकी पिघली चमकीली लाल धातु उनके लिये लोहेका कारख़ाना बनानेके लिये तैयार है; वहाँके काँचके मोती, मूँगेके ज़ेवर उन मैले गलोंके हार बननेके लिये तैयार हैं, और ईसाके मिश्नरी उन निर्धन अभागे क़ाफ़िरोंको ईसाई धर्ममें लानेके लिये बेक़रार हैं।"

(५) *अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष*—साम्राज्यवादके सूत्रपात होते ही किस तरह तेज़ीसे भिन्न-भिन्न सम्राजी क्षेत्रोंमें पृथ्वीका विभाजन होने लगा, इसे हम देख आये हैं। प्रथम महायुद्धके बाद तो रहे-सहे भागका भी बँटवारा ख़तम कर दिया गया, और अब कोई भूमि नहीं रह गई थी, जिसपर कि सम्राजी लुटेरे कब्ज़ा करते! संसारका विभाजन पहिलेसे

समाप्त और इजारादारीवाले पूँजीवादकी कच्चे माल तथा बाज़ारकी माँग, पृथिवीके फिरसे विभाजनके लिये मजबूर करती है।

"साम्राज्यवादियोंको युद्धकी ज़रूरत है, क्योंकि सिर्फ़ इसके ही द्वारा वह संसारका नव-विभाजन—नये बाज़ारों, कच्चे मालके स्रोतों और पूँजी लगानेकी जगहोंका नई तरहसे विभाजन—कर सकते हैं।"

(१) प्रथम साम्राज्यवादी युद्ध (१९१४-१८ ई०)

(क) युद्धके कारण—१९१४–१८ ई०का महायुद्ध इस पुनर्विभाजनके लिये हुआ था।

फ़्रांस, बृटेन ही नहीं बेल्जियम, हालैंड भी जब काफ़ी भू-भागपर, अपना अधिकार जमा चुके थे, तब तक जर्मनी बेख़बर सो रहा था। १८६६–७०में जर्मनीके एक राष्ट्र होनेपर जब उद्योग-व्यवसाय बढ़ा, और उसे बाज़ार और कच्चे मालकी ज़रूरत हुई, तो सभी जगह सीमाबंदी, चुंगीकी ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी हो चुकी थीं। बीसवीं सदीके आरम्भमें जर्मनीकी औद्योगिक प्रगति जितनी तेज़ीसे हुई, उससे बाज़ार और कच्चे मालके अभावसे जर्मनीकी औद्योगिक मशीनके रुक जानेका डर था। उसके लिये युद्धके सिवा कोई रास्ता न था। प्रथम महायुद्धका अभिप्राय था, पृथिवीका पुनर्विभाजन और उसके द्वारा जर्मनीका ऐतिहासिक "अन्याय"से मुक्त होना।

दूसरी ओर बृटिश साम्राज्यवाद और उसके सहायकोंको क़दम-क़दमपर जर्मनीके व्यवसायका सामना करना पड़ रहा था; चुंगीके बावजूद भी जर्मनीका माल दुनियामें फैल रहा था, जो यदि परिमाणमें नहीं तो गुण और सस्तेपनके कारण अँग्रेज़ी पूँजीपतियोंके नफ़ेपर प्रहार कर रहा था—और रंग, रसायनिक पदार्थों, दवा आदिमें तो बल्कि इजारादारी भी स्थापित कर रहा था। इस तरह बृटिश साम्राज्यवाद

* मानचेस्टर व्यापार-मंडल द्वारा १८८४में प्रकाशित पुस्तिका।

और उसके सहायक भी हवाका रुख देख रहे थे, और युद्धको अवश्यम्भावी समझ रहे थे। जर्मनी और वृटेन-फ़्रांस दोनों पक्षोंने युद्ध शुरू किया, अपनी-अपनी इजारादारी क़ायम करनेके लिये।

युद्धमें जर्मनी परास्त हुआ, उसकी थोड़ी-बहुत जो कालोनियाँ थीं, वह भी हाथसे निकल कर वृटेन, फ़्रांस और जापानके हाथमें चली गईं। स्वयं यूरोपमें भी उसे अपनी ७५,३०० वर्ग किलोमीतर ज़मीनसे हाथ धोना पड़ा—"चौवेजी छब्बे बनने गये, दुब्बे रह गये।"

(ख) जन-धनकी हानि—महायुद्ध पृथ्वीके जिस पुनर्विभाजनके लिये शुरू किया था, वह नहीं हुआ। लेकिन साथ ही साम्राजी आपसी विरोध भी इससे खतम नहीं हुए, बल्कि वह और भी विस्तृत रूपमें आ मौजूद हुए। जापान युद्धके फलसे वंचित रखा गया और उसे प्रशान्त-महासागरके कुछ थोड़ेसे छोटे-छोटे टापुओंको देकर टरका दिया गया। इसलिये अब वह वृटेनकी गुटमें नहीं रह सकता था। इतालीकी भी यही हालत थी।

पिछले युद्धकी तैयारी एक दिनमें नहीं हुई थी। सभी राज-शक्तियाँ जानती थीं और वह भविष्यके महायुद्धकी तैयारी बड़े ज़ोरसे कर रही थीं। निम्न आँकड़े बतला रहे हैं कि १८८०से १९१३ ई० तक किस तरह युद्ध-व्यय बढ़ता रहा—

	१८८०–८९ (वार्षिक औसत लाख पौंड)	१८९०–९९	वृद्धि (सैकड़ा)	१९००–१३ (वार्षिक औसत लाख)	वृद्धि (सैकड़ा)
जर्मनी	२२५	३१५	+४०	६७३·५	+११४
वृटेन	२७३	३७०	+३५·५	५३४·३	+६१
फ़्रांस	३४३	३२८	+४	४२०	+३०
इताली	१२०	१३०	+८·३	२०९	+६१
ज़ार का रूस	२४९	३४१	+८	५१०·७	+७२

इस सूचीसे यह भी पता लगता है, कि वर्त्तमान शताब्दीमें जब पूँजीवाद साम्राज्यवाद या इजारादारीमें परिणत हुआ, तबसे सैनिक व्यय और भी तेज़ीसे बढ़ा।

१९०७से १९१२ ई०में जारशाही रूसका सैनिक व्यय ५६ सैकड़ा बढ़ा। १९०७ सालके सारे बजटका १८% युद्धयंत्रपर खर्च हो रहा था, १९१२ ई०में वह २३% और १९१४में (जब महायुद्धकी घोषणा हुई) वह २८% पहुँच गया था।

वही बात फ़्रांसके बारेमें होती जाती थी, जहाँ कि १९१० का १·३ अरब फ़्रांकका सेना-व्यय १९१४ ई०में दो अरब फ़्रांक हो गया, और सारे बजटमें उसका भाग ३२%से ३८%।

(ग) **फिर उसी ओर**—महायुद्धके बाद १९१४ ई०में जर्मनी सेना-पर ४५·८५ करोड़ मार्क खर्च कर रहा था, जब कि १९३१ ई०में वह ७५ करोड़ मार्क हो गया। १९३० ई०में महायुद्धमें पराजित जर्मनी अपने सारे बजटका १४·६% या १·२१५६ अरब मार्क खर्च कर रहा था। ३० जनवरी १९३३को हिटलरके अधिकारारूढ़ होनेके बाद जर्मनीका नारा था, "मक्खनकी जगह बन्दूक"। यद्यपि जर्मनीने अपने सैनिक व्ययको प्रकट नहीं करना चाहा; किन्तु १९३९ ई०में वह कई गुना तथा बजटका सबसे बड़ा भाग था, इसमें सन्देह नहीं। दूसरे देशोंकी १९३९में कितनी फ़ौजी तैयारी थी, वह निम्न सूचीसे मालूम होगी *—

	युद्ध-विमान	टैंक	तोप	मशीनगन	सैनिक
जर्मनी	?	?	?	?	?
फ़्रांस	५०००	४५००	२०००	१६,०००	७,६०,०००

* "Deutsch Wehr" फरवरी १९३९ ई०

बृटेन*	५,०००	६००	१,९००	१०,०००	५,२९,०००
इताली	४,०००	१,०००	१,९००	१४,०००	४,००,०००
युक्तराष्ट्र	३,७००	४००	३,३००	२५,०००	३,८४,०००
जापान	२,३००	२००	९००	६,०००	३,२८,०००
पौलैंड	१,६००	३००	१,३५०	७,०००	३,०२,०००

सैनिक व्यय और हथियारके कारखानोंके मालिकोंका स्वार्थ एक है, यह हम बतला चुके हैं।

जर्मनीका सबसे बड़ा हथियार-कारखाना क्रुपका है। फ्रांस-जर्मनी-के युद्धके समय १८७०–७१ ई०में क्रुपके कारखानोंमें काम करनेवाले आदमियोंकी संख्या ९,००० थी, जो कि १८८५में ३२,०००, १९०२में ४४,००० और १९१३में ८८,००० हो गई। १९०२के २२,०००से १९१३में ८८,००० होना—चौगुनी वृद्धि—खास साम्राज्य-वादी-युगमें हुई है। १९३९के प्रारम्भमें क्रुपके कारखानोंमें १ लाख आदमी काम कर रहे थे। हिटलरको क्रुपकी भारी आर्थिक सहायता रही है, इसलिये हिटलरवादके अधिकारारूढ़ होनेके बाद क्रुपकी वृद्धि स्वाभाविक है। ३० जून १९३४ ई०को हिटलर एसेन्में क्रुप्के बँगले हीमें था, जब कि उसने नात्सी पार्टीके अर्ध-समाजवादी अंशके खूनसे अपने हाथको रँगा था। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि १८७०से १९३९ तक मशीनोंकी उत्पादन-शक्तिमें क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुआ है।

चेम्बर्लेनके हथियार कारखाने *स्माल आर्मस् लिमिटेडका* ज़िक्र हम कर चुके हैं। विकर मेक्सिम् कम्पनी दूसरी जबर्दस्त हथियार

---

*१९४०-४१के बजट-तख़मीनाके १३१ करोड़ रुपयेमें ५९ करोड़ अर्थात् ४२%सेनाके लिये था।

बनानेवाली कम्पनी है। इसका संबंध सरकारके संचालकोंसे बहुत घनिष्ठ है। इसकी पूँजी-वृद्धिको देखिये—

१८७० ई०	१,६५,००० पौंड
१९०७	६२,००,००० ,,
१९१२	८५,००,००० ,,

हथियार कम्पनियाँ युद्ध और युद्धके आतंकपर जीती हैं, कम्पनियों-की डाइरेक्टरीसे बृटिश मंत्री भले ही इस्तीफ़ा दे दें, किन्तु उनके लाभ-से वह इस्तीफ़ा नहीं दे सकते, जब कि उनकी पूँजी वहाँ लगी हुई है। १९०६ ई०में हारकोर्ट उपनिवेश-मंत्री, तथा हाब्हौस् इन कम्पनियोंके भागीदार थे, जब कि युद्धकी ज़बर्दस्त अफ़वाह उड़ाई गई थी, और आर्मस्ट्रांगने ८२% और विकरने ८४% नफ़ा अपने भागीदारोंमें बाँटा था। उस वक्त आर्मस्ट्रांगके शेयरदारोंमें ६ लार्ड, २० उच्च फ़ौजी अफ़सर, पार्लमिंट-मेंबर (एम्० पी०), ८ अखबारवाले, १५ बैरोनेट्, और २० बड़े-बड़े 'सर' लोग थे।

और इस सबका परिणाम पिछले महायुद्धका वह भीषण नर-संहार था, जिसमें—

	मृत	घायल
बृटिश साम्राज्य	१०,८९,९१९	२४,००,९८८
फ्रांस	०३,९३,३८८	०४,९०,०००
जर्मनी	२०,५०,४६६	४२,०२,०३०
अमेरिका	१,१५,६६०	२,०५,७००

गत महायुद्धका सारा खर्च ४ अरब पौंड या ५२ अरब रुपया आँका गया है। १७९३से १९०५ तक सारा युद्ध-खर्च ४ अरब १५ करोड़ पौंड हुआ था, और इस सारे समयके युद्धोंमें जितने आदमी मारे गये थे, उनके दस गुने इस युद्धमें मारे गये थे।

पूँजीवादियोंने इतना खर्चीला पिछला नर-संहार बाज़ार और कच्चे मालके वास्ते संसारके पुनर्विभाजनके लिये छेड़ा था, वह पूरा नहीं हुआ, उलटे दुनिया के ⅙ हिस्सेके उस पूँजीवाद राक्षसका खात्मा नहीं हुआ, जिसकी रक्त-पिपासा—शोषण—के लिये वह छेड़ा गया था। युद्धके बाद हमने देखा, किस तरह फिर युद्धकी तैयारी शुरू हुई।

(२) *द्वितीय साम्राज्यवादी युद्धका प्रारम्भ*—जापानने नये बँटवारेके लिये सबसे पहिले क़दम उठाया। १९२२ ई०में बृटेनके साथ उसकी मैत्री समाप्त हो गई। लड़ाईके बाद अपने-अपने स्वार्थोंके लिये फ्रान्स, इंगलैंड, अमेरिकामें जिस तरह मनमुटाव हो गया था, उससे फ़ायदा उठाकर जापानने १८ सितम्बर (१९३१ ई०)को मंचूरिया-पर कूच बोल दूसरे साम्राज्यवादी महायुद्धका सूत्रपात किया। ४,६०,००० वर्गमील और ३ करोड़ आबादीवाले मंचूरियाको लेकर उसे सन्तोष नहीं हुआ। १९३२ ई०में जापानने शांघाईको बर्बाद किया। चाङ्-कै-शकने दबकर जापानको सन्तुष्ट करनेकी कोशिश की और यह कार्रवाई पाँच वर्षों तक जारी रही, किन्तु पूँजीवादी पिशाचकी बाज़ार—कच्चे माल—की भूख—क्या चाङ्की खुशामदसे दूर हो सकती थी? आखिर ७ जुलाई १९३७ ई०में पेकिंगमें जापानी सिपाहियोंके गोली चलानेसे चीन-जापान युद्ध शुरू हो गया। १९ फ़रवरी १९४० ई० तक जापानके ६ लाख और चीनके १७ लाख सैनिक हताहत हो चुके हैं। यद्यपि जापान चीनके सबसे घने बसे प्रदेशके अधिक भागपर अधिकार कर चुका है, किन्तु चीन अपनी स्वतन्त्रताके लिये अब भी उसी तरह लड़ने-मरनेको तैयार है। सारी दुनियामें जनताकी आज़ादीके हामी सोवियत्को चीनकी सहायता करनी ही थी। उधर, चीनमें ४५ करोड़ पौंड (५८५ करोड़ रुपये) पूँजी लगाकर इंगलैंड तथा ४० करोड़ डालर (१२० करोड़ रुपये) लगाकर अमेरिका अपनी पूँजीको डूबने

नहीं दे सकते थे, इसलिये यह दोनों साम्राज्यवादी-शक्तियाँ भी अपने आर्थिक स्वार्थके लिये चीनकी सहायता करती रहीं।

(ख) **इताली**—इताली पहिले जर्मनी-आस्ट्रियाकी गुटमें था, लेकिन पिछले महायुद्धमें जब उसे वृटेन-फ्रांसका पलड़ा भारी मालूम होते दीख पड़ा, तो इताली—जो अब तक तटस्थ था—वृटेन-फ्रांसकी ओर मिल गया। लेकिन विजयके बाद जब लूटके बँटवारेमें उसका ख्याल नहीं किया गया, और साम्यवादके भयसे त्रस्त पूँजीपतियोंकी सहायतासे मुसोलिनीकी फ़ासिस्त टोली १६२६ ई०में शासन-यंत्रपर अधिकार जमानेमें सफल हुई, तो उसका भी रुख जापानकी भाँति पुनर्विभाजनकी ओर हुआ। २ अक्तूबर १६३५को युद्ध आरम्भकर उसने ज़हरीली गैसोंसे नर-संहार करके अबीसीनियाकी साढ़े तीन लाख वर्गमील भूमि और ७५ लाख आदमियोंको फ़ासिस्त गुलामी की जंज़ीर-में बाँधा और ६ मई १६३६को अबीसीनियाको इतालीके अधीन घोषित किया। साल भर बाद पश्चिमी शक्तियोंने मुसोलिनीकी विजय-को स्वीकार कर लूटको जायज़ मान लिया। द्वितीय साम्राज्यवादी युद्ध-का यह दूसरा क़दम था।

(ग) **स्पेन**—युद्ध और भूखसे बचनेका उपाय सिर्फ़ एक है, कि दुनियासे थैलीका राज्य खतम कर दिया जाय। सोवियत्-शासनने इसे समाप्तकर अपने यहाँकी जनताको ही सुखी नहीं बनाया; बल्कि दुनियाके दूसरे देशोंकी पीड़ित जनताको भी आशा और उत्साह प्रदान किया। जर्मनी, हंगरी, आस्ट्रियामें भी इसके लिये प्रयत्न हुए, मगर बाहरके पूँजीवादी राष्ट्र इस खतरेको समझ रहे थे, और उन्होंने अपनी सहायतासे थैली-राज्यको वहाँ दृढ़ किया। स्पेनकी पार्लामेंटके चुनाव में मज़दूरों-किसानोंका बहुमत देखकर स्पेनकी शोषक जोंकें—ज़मींदार, पूँजीपति और महंथ—घबराये, और इस घबराहटसे इताली और जर्मनीकी फ़ासिस्त शक्तियाँ भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती

थीं ! बृटेन और फ्रांसका पूँजीवादी शासक-वर्ग भी इससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता था। पूँजीवादके फलने-फूलनेके प्रयत्न—पुनर्विभाजन—में अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध छिड़ जाते हैं, और उससे धन-जनका संहार भी बहुत ज्यादा होता है; किन्तु युद्धके हटानेके लिये पूँजीपतियोंके स्वार्थ, उनके सुख-विलासके जीवन हीको समाप्त कर दिया जाय, इसे वह कब पसन्द कर सकते थे। इसीलिये जर्मनी इतालीकी प्रत्यक्ष और इंगलैंड-फ्रांसके पूँजीपतियोंकी अप्रत्यक्ष निष्क्रिय सहायतासे १८ जूलाई १९३६ ई०को फ्रैंकोने बग़ावत शुरू की, और ४ अप्रैल १९३९ ई० तक पौने तीन सालकी खूनी लड़ाई लड़नेके बाद वोटोंसे निर्वाचित शासनको हटा तलवारका शासन स्थापित किया।

(घ) **फासिस्त जर्मनी**—सभी पूँजीवादियोंमें जर्मनी ही वह बड़ा पूँजीवादी देश था, जो कि साम्राज्यवादी युगमें कालोनी—कच्चे माल और बाज़ार—से वंचित था, इसीलिये पृथिवीके पुनर्विभाजनके लिये वही सबसे उतावला था। लंडनमें जर्मनीके राजदूत प्रिंस मेटर्निखने कहा था—"१८६६ और १८७०के बीच जर्मनी एक महान्, और सभी शत्रुओंपर विजयी राष्ट्र बन गया; किन्तु उसके द्वारा पराजित फ्रांस और इंगलैंडने दुनियाको आपसमें बाँट लिया, और जर्मनीको एकाध 'टुकड़ा' ही हाथ लगा। अब समय आ गया है, कि जर्मनी अपनी न्याय्य माँग पेश करे।"

जर्मनीकी यही पेश की हुई 'न्याय्य' माँग थी, जो पिछले महायुद्ध-का कारण हुई; और उसकी दूसरी 'न्याय्य' माँग है जो कि वर्त्तमान द्वितीय महायुद्धका कारण है।

(i) *हिटलरका आवाहन*—पिछले महायुद्धमें पराजित होनेपर जर्मनीमें थैली-राज्य उठानेके-ख्यालने ज़ोर ज़रूर पकड़ा, किन्तु देश-विदेशके थैलीवाले उसके विरुद्ध ज़बर्दस्त षड्यंत्र करने लगे। इस षड्यंत्रमें जन-तांत्रिक समाजवादी—धीरे-धीरे पूँजीवादको समाजवाद-

में परिणत करनेकी दुहाई देनेवाले—उनके हाथकी कठपुतली साबित हुए। इनके धीरे-धीरे समाजवादकी प्रतीक्षासे जनतामें असन्तोष फैलने लगा, जिसे कि हिटलरने इस्तेमाल किया। उसने 'राष्ट्रीय-समाजवाद'-के लुभावने नामसे पूँजीवादके अन्तिम रक्षक फासिस्तवादका प्रचार और संगठन शुरू किया।

१६३३ ई० तक पिछले युद्धको समाप्त हुए १५ साल हो चुके थे, लोग उस भीषण नर-संहार और दुष्कालको भूल रहे थे। साथ ही जर्मनीके पूँजीपतियोंने देखा कि क्रान्ति-विरोधी समाजवादियोंका ज़ोर कम होकर क्रान्तिकारी समाजवादियों—कामूनिस्तों—का प्रभाव जनतामें बढ़ता जा रहा है; इससे उनकी चिन्ता बहुत बढ़ गई। पूँजीपति और ज़मींदार हिटलरके आरम्भसे ही संरक्षक और सहायक थे। क्रुप, थाइसेन आदिकी थैली फ़ासिस्त संगठनके लिये खुली रहती थी। १६२८ तक हिटलरका प्रभाव बहुत धीमी गतिसे बढ़ा, और उस सालके निर्वाचनमें वह आठ लाख वोट पा चुका, तथा अपने १२ सदस्य राइख्-स्टाग्—जर्मन पार्लामेंट—में भेज सका। १६२६में विश्व-व्यापी अर्थ-संकट—बाज़ारकी माँगसे अधिक मालके उत्पादनके फल—ने जर्मनीपर भारी प्रहार किया, और साम्यवादी लहर वहाँ तेज़ हो चली। थैलीवाले घबड़ाकर इधर-उधर झाँकने लगे। उस वक्त उन्होंने देखा कि अपने अस्तित्वको कायम रखनेके लिये हिटलरकी पीठपर हाथ फेरनेके सिवा और कोई चारा नहीं। इसका परिणाम हम १६३० ई०के चुनावमें हिटलरको ६४ लाख वोट और १०६ पार्लामेंट सदस्य हाथ लगते देखते हैं। पंद्रह वर्ष तक सुधारक समाजवादियोंके दिलासेपर विश्वास रखती जर्मन-जनता निराश होने लगी थी; उसने देखा कि शासनकी बागडोर हाथमें आनेपर भी यह कुछ नहीं कर सकते। ऐसे वक्तमें थैलीवालोंकी भीतरी सहायता और 'राष्ट्रीय समाजवाद'के नामपर हिटलरने वेर्साई-सन्धि, प्रजातंत्र, यहूदियों

और मार्क्सवादको गाली देते हुए अपना ज़बर्दस्त प्रोपेगंडा शुरू किया। आगे उसके पक्षमें वोट निम्न प्रकार मिले—

१० अप्रेल १९३२ १,३४,००,००० हिंडनबर्गके पौने दो करोड के मुक़ाबिलेमें

३१ जुलाई १९३२ १,३७,००,००७ साधारण निर्वाचन

हिटलरने सबसे बड़ी पार्टी होनेके कारण चान्सलर (महामंत्री)-के पदकी माँग की, मगर हिंडनबर्गने अस्वीकार कर दिया। अब हिटलरसे लोग निराश-से होने लगे, जिसका फल हुआ—

६ नवम्बर १९३२ १,१७,००,००० वोट

दिसम्बर १९३२में जब कि इन पंक्तियोंका लेखक जर्मनीमें था, हिटलरका सितारा अस्ताचलकी ओर ढलने लगा था। रेल, और भूगर्भी रेलोंके स्टेशनोंपर हिटलरके भूरी वर्दीवालोंको पिंजरापोलके चपरासीकी तरह भीख माँगते देख लोग नाक-भौं सिकोड़ते थे।

मंदीके कारण अर्ध-दीवालिया ज़मींदार, फौलादके राजा, बैंकर और कारखानेवाले हिटलरके पलड़ेको ऊपर उठते और कमूनिज़्म—साम्यवाद—के पलड़ेको भारी होते देख शंकित हो उठे। ये लोग कोलोनमें एक प्रसिद्ध बैंकर श्रोइडरके घरमें भूतपूर्व चान्सलर फान पापेनकी प्रेरणासे इकट्ठे हुए। ज़मींदार और पूँजीपति जानते थे कि हिटलर उनके स्वार्थके खिलाफ़ नहीं जा सकता, वह उनकी मुट्ठीमें रहेगा। उन्होंने हिटलरको चान्सलर बनाना तै किया। हिंडनबर्ग खुद सामन्तवादी ज़मींदार परिवारका था, इसलिये उनकी सम्मति माननेमें उसे इन्कार नहीं हो सकता था, और इस प्रकार ३० जनवरी १९३३ ई०-को हिटलर जर्मनीका चान्सलर बना।

(ii) *हिटलरकी हुकूमत*—हिटलरने अधिकारारूढ़ होते ही पहिला काम जो किया, वह था कमूनिस्तोंको बदनाम करना तथा अपना रसूख बढ़ानेके लिये राइखस्टाग्-भवनमें आग लगवाना।

उसने इस प्रोपेगंडेकी आड़में पार्लामेंटमें अपना बहुमत लानेके लिये साधारण निर्वाचनकी घोषणा की ; किन्तु ५ मार्च १९३३के निर्वाचनमें उसे १,७२,७०,००० या ४४% सैकड़ा ही वोट मिले, और वह बिना राष्ट्रवादी पार्टी (८% वोट)की सहायताके अपना बहुमत नहीं ला सकता था।

थैलीके शासनमें हिटलर भूखों और बेकारोंको खाना-कपड़ा दे नहीं सकता था, इसलिये उसने प्रोपेगंडा और भविष्यकी विजयकी आशापर लोगोंको दिलासा दिलाना तथा सैनिक शक्तिको बढ़ाना शुरू किया। इंगलैंड, अमेरिका तथा फ्रांसके पूँजीपति और उनकी सर्कारें हिटलरको दबाती नहीं, उत्साहित करतीं ; क्योंकि जर्मन ज़मींदारों और पूँजीपतियोंकी भाँति वह भी साम्यवादके होवैसे नींद खो चुकी थीं। वह हिटलरके ज़रिये जर्मनीसे ही नहीं विश्वसे साम्यवादका मूलोच्छेद करना चाहती थीं। हिटलरने इससे फ़ायदा उठाया और अपनी शक्ति बढ़ानी शुरू की। डेढ़ सालके हिटलरी शासनमें थैलीवालों और ज़मींदारोंका ही बोलबाला देख हिटलरके वे साथी असन्तुष्ट होने लगे, जो राष्ट्रीय समाजवादको समाजवाद समझते थे। उनका असन्तोष ख़तर-नाक शकल धारण करने जा रहा था, जब कि एसेनमें फ़ौलादके राजा डाक्टर क्रुपके बंगलेमें रहते हिटलरने ३० जून १९३४को अपने उन साथियोंका शोणित-तर्पण किया, जिनकी सहायतासे वह जर्मनीका नेता बना। इस शोणित-तर्पणमें हिटलरने एक हज़ारसे ऊपर जानें लीं। कैप्टन रोएम् हिटलरकी दहिनी बाँह तथा दूसरे नात्सी नेताओंके साथ जेनरल फ़ान श्लाइखेर—हिटलरसे पहिलेके चान्सलर—आदि कितने ही और अ-नात्सी नेता भी मारे गये।

दो सालकी तैयारीके बाद हिटलरने वेर्साई-सन्धिकी खुलकर धज्जी उड़ानी शुरू की। मार्च १९३५ ई०को उसने सन्धिके विरुद्ध ज़बर्दस्ती सैनिक शिक्षा शुरू की। वृटेन, फ्रांस, अमेरिकाके पूँजीपति

शासक शुतुर्मुर्गकी भाँति बालूमें सिर छिपानेकी नीति स्वीकारकर रहे थे, क्योंकि एक तो विश्वव्यापी मंदीसे वह बदहवास हो, वह अभी-अभी ज़रा दम लेने लगे थे, और युद्धका ख्याल भी नहीं लाना चाहते थे ; दूसरे अपने-अपने स्वार्थोंके लिये वह आपसमें विरोध उत्पन्न कर चुके थे। साल भर और तैयारी करके ७ मार्च १९३६ ई०-को हिटलरने राइनलैंड प्रान्तमें सेना भेज दी। यह लोचर्नो-संधिके खिलाफ़ था, किन्तु हिटलर जानता था कि फ्रांस भले ही फड़फड़ाये, मगर बाल्डविनकी सर्कार उसमें कोई बाधा नहीं डालेगी।

हिटलरने सेना-वृद्धिके लिये युद्ध-सामग्रीकी उपज बढ़ा तथा स्त्रियोंको घरके भीतर बंद करके ज्यादा बेकारोंको काम दिया, और "मक्खनकी जगह आलू", "मक्खनकी जगह बंदूक"के नारे बुलंदकर पृथिवीके पुनर्विभाजनके लिये बड़े ज़ोर-शोरसे दूसरे महायुद्धकी तैयारी शुरू कर दी।

(iii) *बृटिश थैलीशाहीकी कूटनीति*—लोहे और हथियारके कारखानोंके स्वामी बाल्डविनकी सर्कार हिटलरको प्रोत्साहन दे रही थी। वह समझती थी, हिटलरके पेट भरनेके लिये, सोवियत्‌की भूमि, फ्रांस, स्पेन या बेलजियम्‌के साम्राज्य काफ़ी हैं। जब तक वह मौजूद हैं, तब तक इंगलैंडको डरनेकी ज़रूरत नहीं। इस नीतिका अनुसरण करके इंगलैंडने अमेरिकाके संकेत करनेपर भी मंचूरियामें जापान-के प्रहारके खिलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं करनी चाही। ३१ अगस्त १९३७को नेविल चेम्बरलेन बाल्डविनकी गद्दीपर इंगलैंडके प्रधान-मंत्री बने। चेम्बरलेन थैली स्वार्थके आदर्श पुरुष थे। उनका ध्येय था—"थैली माता, थैली पिता, थैली बंधु, थैली सखा"। दूरदर्शिताके वह सख्त दुश्मन थे, यदि दूरदर्शिताका यह ख्याल भी उनके दिलमें कभी आता, तो थैलीके ख्यालसे ही। थैलीवालोंका हित उनके लिये राष्ट्रका हित था। पार्लमेंटमें शुद्ध थैलीपतियोंका बहुमत था, और

चेम्बरलेन उनके हिटलर, नहीं-नहीं बनिया-राज थे ; चेम्बरलेनके पास आगमें गिरनेका कलेजा कहाँ था।

इंगलैंडमें चेम्बरलेनका प्रभुत्व—स्वार्थियोंका प्रभुत्व, हिटलरके लिये सुंदर औसर था। १२ मार्च १९३८को हिटलरने एकाएक आस्ट्रियापर कब्ज़ा कर लिया। इंगलैंड और फ्रांस हक्का-बक्का रह गये। इधर कुछ समयसे फ्रांसने इंगलैंडको हिटलरकी पीठ ठोंकते देख, मुसोलिनीको शह देना शुरू किया था, जिसके ही कारण इंगलैंड अकेले मुसोलिनीके द्वारा अबीसीनियाको चबाये जाते देख, कुछ कर नहीं सका। अब आस्ट्रियाके मामलेमें वह जल्दीमें कामका कोई एक रास्ता नहीं निकाल सकता था। फ्रांसको उम्मीद थी, मुसोलिनी हस्तक्षेप करेगा, किन्तु वहाँ तो 'चोर-चोर मौसेरे भाई'का नाता स्थापित हो रहा था।

हिटलरने विश्व-विजय—संपूर्ण पृथ्वीपर जर्मन थैलीका अकंटक राज्य स्थापित—करनेके लिये क़दम उठा लिया। पृथ्वीके पुनर्विभाजन-में असफल जर्मनी २० वर्ष बाद फिर उसी काममें और ज्यादा तैयारीके साथ लगा। सितंबरमें उसने चेकोस्लोवाकियाको सुडेटन प्रान्त जर्मनी-के हवाले करनेकी धमकी दी। युद्ध तुरन्त छिड़ने जा रहा था। चेम्बरलेन दो बार उड़कर हिटलरके दर्बारमें हाज़िर हुए, और चेकोस्लोवाकियाके विरोध करते रहनेपर भी मुसोलिनी, दलादिये, चेम्बरलेनकी एक रायसे १९ सितम्बर १९३८को चेकोस्लोवाकियाका बलि-पत्र लिखा गया। पहिली अक्तूबरको जर्मन-सेनाएँ चेकोस्लोवाकिया-में दाखिल हो गईं। हिटलरने म्यूनिचमें वचन दिया था कि यह उसकी अन्तिम इच्छा है; आगे वह चेकोस्लोवाकियाकी आज़ादीपर हाथ नहीं लगावेगा। थैलीपतियोंके प्रतिनिधि हिटलरकी सत्यवादितापर इंगलैंड आदि इतने मुग्ध और निश्चिन्त हो गये थे कि चेकोस्लोवाकियाकी जो दरअसल रक्षा कर सकता था, उस सोवियत्-प्रजातंत्रको उन्होंने पूछा तक

नहीं। हिटलरके पास बहानोंकी कमी न थी, उसने शान्ति और व्यवस्था-के नामपर १५ मार्च १६३६को सारे चेकोस्लोवाकियाको हड़प लिया। सप्ताह बाद २२ मार्च १६३६को हिटलरने मेमेलको भी लिथुआनियासे छीन लिया। जर्मनी बेरोक-टोक अकेले पृथ्वीके पुनर्विभाजनके कार्यको सम्पन्न करने लगा। इंगलैंड, फ्रांस, अमेरिकाके थैलीदार आँख मलकर देखने लगे। हिटलरने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकियाके समयके शब्दोंको दुहराया—जर्मनीने अपनी खोई भूमि पाली, अब उसे कोई इच्छा नहीं।

(iv) *हिटलरका प्रहार*—चार महीने भी नहीं बीतने पाये थे कि हिटलरने ३० अगस्तको डेन्ज़िग और पोलिश् 'गलियारे'के लिये पोलैंडको अल्टीमेटम दे दिया। १ सितम्बर १६३६को उसने डेन्जिगपर अधिकारकर पोलैंडपर चढ़ाई कर दी।

बृटेन और फ्रांस सोवियत् प्रजातंत्रके माथे अपना उल्लू सीधा करना चाहते थे। बहुत दिनों तक उनकी—खासकर चेम्बरलेनके गुट-की—इच्छा थी कि हिटलर पच्छिमकी ओर मुड़नेकी जगह पूरबका रास्ता ले तो अच्छा। उसे इसकी ओर बराबर शह देता जाता रहा, मगर हिटलर जानता था कि सोवियत्ने सैनिक-विज्ञानके पिछली आधी सदीके विकासको सबसे अधिक इस्तेमाल किया है, और सोवियत्-वासी थैलीमुक्त-शासनका वह आनन्द ले चुके हैं, जिससे कि वह अपनी मातृभूमिकी स्वतंत्रताके लिये एक-एक करके मर मिटेंगे। इसीलिये उसने सोवियत्से युद्ध ठाननेकी जगह २३ अगस्त १६३६ ई०को सोवियत्के साथ अनाक्रमण-मूलक-सन्धि कर डाली।

पोलैंडको इस तरह अकेले कुर्बान होते देख, अपनी बारीके लिये इन्तिज़ार करना अब सरासर मूर्खता होती, इसीलिये ३ सितम्बर १६३६-को इंगलैंड और फ्रांसने जर्मनीके खिलाफ़ युद्ध-घोषणा कर दी।

कच्चे माल और बाज़ारको हथियानेके लिये पूँजीवादने पृथिवी-विभाजनके वास्ते दूसरा साम्राज्यवादी युद्ध छेड़ दिया; और छेड़ा भी बहुत भारी पैमानेपर, विज्ञानके नये से नये आविष्कारोंके साथ। कहाँ किसी वक़्त पत्थर और डंडेकी लड़ाई थी, जिसकी सफलतामें व्यक्तिके शारीरिक बल और .फुर्तीका बहुत हाथ था। फिर धनुष-बाण और ताँबे-की तलवारोंका ज़माना आया। उसमें कुछ हज़ार तक आदमी लड़ पाते थे। लड़ाई आमने-सामनेकी होती थी। फिर लौह-युगमें वही चीज़ें लोहेकी हो गईं। हाँ, अब दारा, सिकन्दर, चन्द्रगुप्त मौर्य्य के-से विस्तृत राज्य क़ायम हो गये थे, जिससे युद्धोंमें योद्धा भारी संख्यामें भाग लेते थे। किसलिये लड़ाई हो रही है, इसके बारेमें वह इतना ही जानते थे कि जिसका नमक खाया है, उसके लिये हम जान दे रहे हैं। नमकहराम होना दीन-दुनिया दोनोंको खोना है। तेरहवी सदीमें बारूदका ज़माना आया। अब तोपें और बंदूकें बनने लगीं। सेना-संचालनमें और शिक्षा और संगठनकी ज़रूरत पड़ी। लड़ाइयाँ राज्य-विस्तार और लूट—श्रमिकोंकी कमाईको छीनने—के लिये और विकराल रूप धारण करने लगीं। व्यापार-युगमें बारूदके हथियार और मज़बूत किये गये। गोला-गोली किस गति और किस रास्तेसे दूर तक पहुँचते हैं, कौन-सा धातु-मिश्रण गोली छोड़नेको कितना बर्दाश्त कर सकता है, यह बातें वैज्ञानिक बड़ी तत्परतासे खोजने लगे। फिर उन्नीसवी सदीके पूँजीवादी युद्धोंमें हम पहुँचते हैं। अब पूँजीकी भाति अच्छेसे अच्छे नये-नये आविष्कृत हथियार भी पूँजीपति-शासकोंके पास थे। अपने व्यापार, अपनी पूँजीको सुरक्षित रखने तथा ज्यादा नफ़ा कमानेके लिये बड़े पैमानेपर लड़ाइयाँ लड़ी जाने लगीं, और दुनियाका बँटवारा ज़ोरोंसे होने लगा। बीसवीं सदीकी साम्राज्यवादी लड़ाइयोंके सामने पुरानी लड़ाइयों-के हथियार, सेना-संख्या, रण-कौशल बिल्कुल फीके पड़ गये। इस लड़ाईमें न सिर्फ़ सत्तर-सत्तर मील तक गोला मारनेवाली तोपें, पन-

डुब्बियाँ और बेतार ही इस्तेमाल किये गये, बल्कि युद्धके खतम होते-होते हवाई जहाज़, टैंक और एटम बाम्ब भी उसमें भाग लेने लगे। अब आज हम दूसरे महायुद्धके बादसे गुज़र रहे हैं। विज्ञानका इतना अधिक इस्तेमाल आज तक किसी युद्धमें नहीं हुआ था। लकड़ी-पत्थरका हथियार पकड़नेवाला मानव अब टैंक और हवाई जहाज़ोंसे लड़ रहा है। पहिलेके सभी हथियार बेकार साबित हो गये हैं। जिसने पुराने हथियारों और पुरानी रण-विद्यापर भरोसा रखा, वह चुटकी बजाते-बजाते खतम हो गया। तीन सप्ताहके भीतर दुनियाकी ज़बर्दस्त सामरिक शक्ति फ्रांसका जर्मनीके सामने घुटना टेकना इसका ही उदाहरण है। पोलैंड, डेन्मार्क, नार्वे हिटलरके ख़ूनी पंजेके शिकार हो चुके। बेल्जियम, हॉलैंड, फ्रांस आज नात्सीवादके जूए के नीचे पीसे जा रहे हैं। इताली बँटवारेमें पीछे नहीं रहना चाहता। उसने अकेले यूनान-विजयकी ठानी; किन्तु जब तक हंगरी, रूमानिया, युगोस्लाविया, बुल्गारियापर हाथ साफ़कर हिटलर वहाँ नहीं पहुँचा, तब तक इताली पीछे ही हटता रहा। जर्मनीने यूनानको ले यूरोप के प्रायः सारे ही समुद्र-तट तक अपनी सीमा फैला ली। क्रेतका युद्ध वर्त्तमान युद्धके हथियार—हवाई जहाज़ और पिछले युद्धसे चले आये हथियार चलते-फिरते समुद्री किले—जंगी जहाज़—के मुक़ाबिलेका युद्ध था। और वहाँ नया हथियार पुरानेपर विजयी हुआ।

(२) *साम्राज्यवादी युद्धसे जनताका* युद्ध—अब तक लड़ाई थी तो बाज़ार और कच्चे मालकी भूमिके बँटवारेके लिये ही; किन्तु वह पूँजीवादी शक्तियोंके बीचमें थी। एक तरफ़ यूरोपके सभी छोटे-मोटे राज्य—उनके थैलीवाले शासक—छोटे हिटलर बनकर सारी दुनियामें शोषण और लूट, अपमान और अत्याचारके क्रूरतम शासनको स्थापित करना चाहते हैं, दूसरी ओर पहिलेसे दुनियापर अधिकार जमाये इंगलैंड और अमेरिका—एक मैदानमें, दूसरा उसके पीछे—डटे हुए

थे। किन्तु फ़ासिस्तवादके प्रतीक हिटलरने देखा कि थैली-शासनके अतिरिक्त एक दूसरा शासन—सोवियत् साम्यवादी शासन – भी दुनियामें है, और वह सिर्फ़ हथियारोंमें ही शक्तिशाली नहीं है, बल्कि वह एक ऐसा आदर्श पेश करता है, जो सभी समस्याओंका साम्यवादी हल सामने रखता है, और जिसकी ओर सिवाय चंद स्वार्थान्धों और उनके पिट्ठुओंके सभी संसार—सारी जाँगर चलानेवाली जनता—चाह-भरी निगाहसे देखती है। इस हलसे संसारमें न काले-गोरेका सवाल रह जाता है, न यहूदी ग़ैर-यहूदीका, न हिन्दू-मुसलमानका, न जमींदार-किसानका, न पूँजीपति-मज़दूरका, न शिक्षित-अशिक्षितका, न स्वतंत्र-परतंत्रका, न तेजी-मंदीका, न शोषक-शोषितका। परिवारोंको संगठितकर जिस जन-समाजका आरम्भ किया गया था, और जिसे संगठनने बहकाकर मानवको नृशंस, क्रूर पूँजीवाद और उसके अधिनायकत्व फ़ासिस्तवाद तक पहुँचकर उसे आजका दिन दिखलाया, उसे विश्वव्यापी एक मानव-जनके रूपमें उच्च तलपर विज्ञान-पोषित साम्यवादी समाजमें परिवर्तित करना जिसका ध्येय था—ऐसे सोवियत्-शासनसे हिटलरने दो साल पहिले समझौता किया था, शान्तिके लिये नहीं, अपने स्वार्थके लिये। उसने अपनी ताक़तको खर्च होते देखा, विजयका भी जहाँ तक आँखें पहुँचती थीं, पता नहीं था। उसके नीचे कुचले जाते देशों हीमें नहीं, खुद जर्मनीमें भी लोग फ़ासिज़्मकी अँधेरी रातमें पड़े हुए। लोगोंको एक ही आशाकी किरण दिखाई देती थी, वह थी साम्यवाद और उसका झंडा-बर्दार सोवियत्-प्रजातंत्र।

हिटलरने २२ जून, १९४१को सोवियत्पर धावा बोल दिया। उसने पहिलेसे कोई सूचना न दी, और न सन्धि-पत्रके दस वर्षके वादेका कोई खयाल किया। यह सीधे विश्वासघात था; किन्तु वह आक्षेप उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखता। आख़िर सामूहिक सम्पत्तिकी जगह वैयक्तिक सम्पत्तिकी स्थापना मानवताको उच्च आचारकी ओर

ले जानेके लिये नहीं थी। उसका एकमात्र मतलब था निकृष्ट स्वार्थ, नीच लोभ और समाजको चूल्हेमें झोंककर व्यक्तिकी इच्छापूर्त्ति। जितना ही समय आगे बढ़ता गया, यह स्वार्थी शासक-वर्ग मानवताको अपने नैसर्गिक गुणोंसे और अधिक वंचित करता गया। किसी वक्त दुश्मनको बराबरका हथियार दिये बिना लड़ना शूरतापर कलंक समझा जाता था; किन्तु आज? किसी वक्त दुश्मनको सूचित किये बिना वार करना कायरता समझी जाती थी; किन्तु आज? किसी वक्त निहत्थे नागरिकोंपर अस्त्र छोड़ना नृशंसता समझी जाती थी। लेकिन, इस 'किसी वक्त'से 'सतयुग'पर ख्याल मत दौड़ाइये। मानवके इस पतनका कारण वही वैयक्तिक सम्पत्ति है—सम्पत्ति और विज्ञानका विस्तार उसके लिये ज़िम्मेवार नहीं है।

आज (नवम्बर १९४३) २९वाँ दिन जा रहा है, जबसे कि फ़ासिस्त असुर-सेनाने सोवियतपर हमला किया। हिटलर समझता था, फ़्रांसकी भाँति सोवियतको भी वह चंद हफ्तोंमें समाप्त कर देगा। और, दर-असल यदि साम्यवादी प्रजातंत्रकी जगह वहाँ रूसका थैली-राज्य होता, तो हिटलरकी इच्छा और जल्दी पूरी हो जाती। हिटलर आगे बढ़ा था; लेकिन कितने नुक़सानके बाद? और अब विजयकी आशा? वह तो खत्म हो रही है। चाहे तो हिटलरको सारी पृथिवीको जर्मन तरुणोंके खूनसे रँगकर संसार-विजय करना होगा, नहीं तो अपनी ही सुलगाई आगमें जल मरना होगा। कौन सम्भव मालूम होता है? हिटलरकी महत्त्वाकांक्षा या उसकी पराजय?

साम्राज्यवादियों द्वारा भड़काई युद्धाग्निका साम्राज्य-विरोधी देश तक फैल जाना स्वाभाविक ही है; क्योंकि पृथिवी अखंड है, विज्ञानने उसके विस्तारको बहुत छोटा कर दिया है—दिल्लीसे लन्दन चार

दिनपर है, जिसे रातकी उड़ानसे दो दिन भी किया जा सकता है। समाजवादी सोवियत्-संघपर प्रहार होते ही युद्धका रूप बदलकर अब वह जनताका युद्ध हो गया; क्योंकि अब इसके परिणामपर कमकर जनताके भागका निबटारा है।

६. राज्य-शासन

वर्ग-स्वार्थकी रक्षाके लिये वर्ग-शासन आरम्भ हुआ, यह पितृसत्ताक समाजमें देखा गया था। जब पुरुष पशुपालन-द्वारा सम्पत्ति पैदा करने लगा था, तो कैसे हो सकता था कि वह मातृसत्ता—स्त्रीकी समानता—को स्वीकार करता। आगे दासता, सामन्तशाहीके शोषणमें कोई बाधा न उपस्थित करे, इसके लिये कोष, क़ानून और शस्त्रको अपने हाथमें सँभालनेकी ज़रूरत थी। सामन्तशाहीयुगमें सामन्तों, भूमिपतियों, सर्दारोंकी हुकूमत थी। अपने सुख-विलासके बढ़ते हुए खर्चके लिये उन्होंने बनियोंको देश-देशान्तरसे सोना, मसाला, रेशम, जवाहरात··· को ठगनेके लिये भेजा। धनमें शक्ति है, यह बनिये अनुभव करते ज़रूर थे; किन्तु वह तब तक अपने प्रभुओं–सामन्तों–से अधिकार छीननेकी हिम्मत नहीं कर सकते थे, जब तक कि पूँजीवादी युगमें उनके कारखानोंमें लाखोंकी तादादमें मज़दूर जमा होने नहीं लगे, और सामन्तोंकी बिखरी प्रभुता एक जगह केन्द्रित नहीं हो गई। क्रॉम्वेलके नायकत्वमें कैसे इंगलैंडके उदीयमान पूँजीपति-समाजने खून और तलवारके द्वारा सामन्तशाहीके निरंकुश शासनको तोड़ा, इसका ज़िक्र हम कर चुके हैं। लेकिन, उससे इंगलैंडमें पूँजीपति-वर्गका शासन नहीं क़ायम हो पाया। इसके लिये नये मज़दूर-वर्गकी मददसे पूँजी-पतियोंको भारी तूफ़ान खड़ा करना पड़ा, और तब १८३२ ई०का सुधार-क़ानून पास हुआ तथा शासन-यंत्रपर पूँजीपतियोंका आधिपत्य स्थापित हुआ।

संसारमें कहीं-कहींपर अब भी सामन्तशाही यंत्रको काम करते देखते हैं, लेकिन भारतकी देशी रियासतोंकी भाँति वह या तो किसी मसलहत-से पूँजीवादकी मर्ज़ीके मुताबिक बचा हुआ है; अथवा अरब, अफ़ग़ानिस्तान, तिब्बत-जैसे देशोंमें विरोधी पूँजीवादी स्वार्थोंकी टक्करसे बचानेके लिये बे-मालिककी ज़मीनकी भाँति उसे छोड़ रखा गया है। लेकिन, इस छोड़नेका मतलब यह नहीं कि वह पूँजीवादी प्रभावसे उसके शोषण और नियन्त्रणसे मुक्त है।

दूसरे कितने ही देशोंमें पूँजीवादी 'जनतंत्र' शासन कर रहा है; युक्तराष्ट्र (अमेरिका), हालैंड इसके उदाहरण हैं।

तीसरी शासन-प्रथा, क्रूर पूँजीवादकी निकृष्टतम शासन-व्यवस्था—फ़ासिस्तवाद है। जर्मनी, इताली, जापान और इनके अधीनवाले राज्य इसी प्रथा को अपनाए हुए हैं।

चौथी शासन-प्रथा—समाजवादी शासन-व्यवस्था है, जो कि सोवियत्-प्रजातंत्रमें देखी जा रही है। वहाँके शासनमें शोषक और कामचोरवर्गके लिये कोई गुञ्जाइश नहीं है। जो सम्पत्तिको उत्पादन करता है, उसीके हितके लिये स्व-निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा राज्य-संचालन होता है।

आइये, हम चारों तरहके शासनोंकी बानगी देखें।—

१. आधुनिक कालमें सामन्तशाही-शासन

(क) *तिब्बत*—अपनी प्राकृतिक परिस्थिति, मठों और धर्मकी प्रभुता तथा विरोधी राज्य-शक्तियोंके सीमान्तपर होनेके कारण तिब्बत आज भी पाँच सदी पीछेके ज़मानेकी यादगार है। तिब्बत समुद्रतलसे

१२,००० फ़ीट ऊपर भले ही हो; मगर वहाँ नदियोंके कछार बहुत चौड़े—बीस-बीस, तीस-तीस मील तक चौड़े—ज़मीन पथरीली और पक्की सड़क बनानेके लिये बहुत ही उपयुक्त तथा कम खर्चवाली है; तो भी वहाँ आज तक न मोटर चलती है, और न दूसरी पहियेदार सवारी। आधुनिक छापेखाने और अखबार वहाँके लिये अजूबी चीज़ें हैं। कल-कारखानेकी तो बात ही क्या, वहाँ अभी तक कपड़े (पट्टी) एक बलिश्त ही चौड़े बनते हैं, और लोग 'उड़नेवाली' ढरकीके कर्घेको जानते तक नहीं। जीविकाका साधन खेती और पशु-पालन है। कितनी ही जगहोंमें सिर्फ़ पशु-पालन ही रोज़ीका ज़रिया है। खेतीकी सारी ज़मीन सामन्तोंमें बँटी हुई है, जिसमें आधीसे अधिक बड़े-बड़े मठों—महन्थोंके हाथमें है। शासनका प्रधान दलाईलामा इसी तरहका एक बड़ा महन्थ सामन्त है। बाक़ी कम्मी या सर्फ़ हैं। जानसे मारनेके सिवा सब तरहकी सजाएँ सामन्त उन्हें दे सकते हैं—और जानसे मार देनेपर भी सामन्तको कोई भारी सज़ा होगी, इसकी उम्मीद नहीं; क्योंकि सारा शासन-यंत्र वर्ग-चेतनावाले सामन्त-वर्गके हाथमें है। कम्मीके जाँगरको सामन्त अपनी मर्ज़ीके मुताबिक इस्तेमाल कर सकता है। आधी रातको भी कम्मीको बिना पाथेय या मज़दूरीकी आशाके सौ-दो सौ मीलके लिये जानेके लिये तैयार रहना होगा—चाहे उसके घरमें लड़का मर रहा हो, चाहे उसकी खेती बर्बाद होती हो। उसकी लड़की या किसी स्त्रीको सामन्त-परिवारकी सेवा—साधारण शारीरिक सेवा, काम-पिपासा-तृप्ति, नाच-गान, शारीरिक श्रम, कताई-बुनाई या दूसरे शिल्पके काम—के लिये बिना हीला-हुज्जतके हाज़िर रहना होगा। तिब्बत पैदा करता है—मुलायम ऊन, क़ीमती पोस्तीन, कुछ कस्तूरी, मांस, मक्खन, मुश्किलसे खाने भरके लिये नाज। इसमेंसे पहिली तीन चीज़ोंको वह देशसे बाहर भेज सकता है, और उनके बदले बाहरसे मँगाता है—चाय, (थोड़ा) रेशमी कपड़ा,

मोती-जवाहर, कितनी और शौककी चीज़ें, लोहे-चीनी-शीशेके सामान, सिक्कोंके लिये ताँबा, चाँदी आदि। पूँजीवादी जगत्‌की इन चीज़ोंके साथ तिब्बतकी राजधानी ल्हासामें तार और बिजलीकी रोशनी भी पहुँच गई है। अभी तिब्बतकी पृथिवी चिपटी है, अभी भी तिब्बतके आसमानमें झुंडके झुंड देवता और पिशाच घूमते हैं।

तिब्बतके शासनका प्रधान दलाई लामा कहा जाता है। १६४२ ई०में मंगोल सर्दार गुश्रीखानने तिब्बतकी छोटी-छोटी सर्दारियोंको पराजितकर सारे तिब्बतका एक राज्य बना, अपनी धर्मप्राणताको प्रदर्शित करते हुए, उसे डेपुङ् मठके एक प्रभावशाली महन्थको अर्पण कर दिया। इस लामा और इसके उत्तराधिकारियोंके नामके अन्तमें ग्यंछो = सागर (मंगोल 'ताले') आता है, जिससे उसे ताले लामा (अंग्रेज़ीमें बिगड़कर दलाई लामा) कहा जाता है। दलाई लामा न किसी तरहके चुनावसे होता है, और न पहिले दलाई लामाका शिष्य या पुत्र होता है। वहाँ यह विश्वास फैलाया गया है कि दलाई लामा मरनेके बाद फिर पैदा होता है, और तिब्बतके 'दिव्य शक्तिधारी' लामा और ज्योतिषी उसी बालकको पता लगाकर ले आते हैं, और वही दलाई लामाके सिंहासनका अधिकारी तथा तिब्बतका शासक बनता है। अक्सर दलाई लामा किसी प्रभावशाली सामन्त-परिवारका होता है। यदि इन परिवारोंके स्वार्थ आपसमें टकराये और किसी साधारण गृहस्थका लड़का स्वीकार करना पड़ा, तो उसके साथ ही बच्चेके माँ-बापको सदाके लिये एक बड़ी जागीर और देशकी सर्वोच्च पदवी "कुङ्" (ड्यूक) देकर उन्हें सामन्तवर्गमें शामिल कर लिया जाता है। इस तरह तिब्बतका प्रधान शासक महन्थ एक बड़ा सामन्त है।

सर्कारी कर्मचारियों और मंत्रियोंमें साधु भी होते हैं; क्योंकि राज्य जो महन्तका ठहरा। दलाई लामाके नीचे लोन्-छेन् या महामंत्री

होता है, जो सदा कोई प्रभावशाली सामन्त होता है। कई वर्षोंसे तो पिछले दलाई लामाका भतीजा लोन्-छेन चला आ रहा है। उसके नीचे चार मंत्री (क-शी) होते हैं, जिनमें एक लामा या साधु होता है। लोन्-छेन् और क-शी इन्हीं पाँचोंका तिब्बतका मंत्रिमंडल या क-शा है, जिसका बनाना बिगाड़ना दलाई लामाके हाथमें है। एक दलाईके मरनेके बाद नये दलाई लामाके पैदा होनेमें कमसे कम नौ महीनेका अन्तर होता है, और उसके लड़कपनके अट्ठारह-बीस सालोंमें शासनका प्रधान बड़े महन्थोंमेंसे एक—उपराज—होता है। प्रबंधके लिये सारा देश १०८ (?) जोङ् या ज़िलोंमें बँटा हुआ है, जहाँ दुहरे अधिकारी (जोङ्पोन्)—एक साधु, एक गृहस्थ—होते हैं। गृहस्थ-अधिकारी किसी न किसी सामन्त-परिवारके होते हैं। साधु-अफ़सर साधारण जनतामेंसे भी हो सकते हैं, मगर मठोंकी शिक्षा-दीक्षामें बीस साल गुज़ारनेके बाद वह जनताके आदमी नहीं रह जाते। सेनाधिकारी तथा दूसरे कर्मचारियों-में भी सामन्त-परिवारका ही बोलबाला है। सामन्त और कम्मीके बीच दरअसल तिब्बतमें अभी दूसरा वर्ग हुआ ही नहीं है। व्यापार या तो नेपाली सौदागरोंके हाथमें है या खुद सामन्त करते हैं।

दलाई लामा या मंत्रिमंडल ज़रूरत होनेपर एक बड़ी सभा—छोग्—से भी सहायता लेता है, जिसमें सामन्त और प्रभावशाली महन्थ सम्मिलित होते हैं। वहाँ क़ानूनकी कोई पुस्तक नहीं है। साधारण बुद्धि और समय-समयपर निकले दलाई लामा या उच्च अधिकारियोंके हुक्मोंको ही क़ानून समझिये।

जोङ्-पोन् और ज़िलाधिकारियोंको बहुत बड़ा अधिकार है। वह न्याय और प्रबंध दोनों विभागोंके प्रधान होते हैं। बिना भेंटके कोई अर्ज़ी, कोई मुक़दमा नहीं पेश किया जा सकता, यह तो खुली बात है; यदि मुक़दमेमें जीतना अभीष्ट हो, तो और गुप्त भेंटकी ज़रूरत पड़ती है। कितने ही जोङ-पोन् ऐसे भी होते हैं, जो अपना काम अपने नौकरके

ऊपर छोड़कर घर बैठे रहते हैं। ल्हासाके सबसे धनी और सबसे प्रतिष्ठित सामन्त-परिवारके एक पुत्र एक जगहके जोङ्-पोन् थे। मैंने सुना कि वह जोङ् मेरे रास्तेपर पड़नेवाला है। मैंने उनसे पूछा, तो उन्होंने कहा—मैं तो जानता नहीं कि वह जोङ् कहाँ है। वहाँ तो मेरा ने-वा (नौकर) काम देख रहा है।

संक्षेपमें, जिस तरफ़ भी देखिये, तिब्बतका शासन वहाँके सामन्त-वर्गके स्वार्थके लिये हो रहा है। जाँगर चलानेवाले सिर्फ़ उनके लिये मर-मरकर मेहनत करनेके लिये हैं। बाहरी पूँजीवादी राष्ट्र नही चाहते कि तिब्बत बीसवीं सदीमें आवे; हाँ, अपने व्यापारके लिये जितना सुभीता उन्हें चाहिये, उसका उन्होंने इन्तज़ाम कर रखा है।

(ख) *नेपाल*—नेपालका शासन सामन्तवादी हुकूमतका दूसरा उदाहरण है। जहाँ तिब्बतके शासनमें धर्म और मठकी बाहरी छाप है, वहाँ नेपालका सामन्तवर्ग शुद्ध सामन्तके तौरपर शासन करता है। १८वीं सदीके अन्तमें, जब कि ईस्ट-इंडिया कम्पनी धीरे-धीरे सारे भारतको निगल रही थी; *गोर्खा* गाँवके एक छोटे राजा पृथिवीनारायणने पहाड़ी छोटे-छोटे राजाओंको पराजितकर अपने राज्यका विस्तार किया। राजवंशके गोर्खा गाँवसे आनेके कारण नेपाल-राज्यको गोर्खा-राज्य भी कहा जाता है। पृथिवीनारायणका वंश आधी सदी तक शासन करता रहा। इसके बाद एक दूसरा परिवर्त्तन हुआ। जंगबहादुर नामक एक मनस्वी सामन्तवंशी तरुणने राजमहलमें मंत्रियों और दूसरे उच्चाधिकारियोंका एक बड़ा हत्याकांड रचकर शासनकी बागडोर अपने हाथमें ली। उसने राज्य-सिंहासनको नहीं छुआ, उसपर पृथिवी-नारायणके वंशजको ही रहने दिया; किन्तु खुद प्रधन-मंत्री या तीन सर्कार बनकर शासनका सारा अधिकार अपने हाथमें ले लिया और महाराजाधिराज या पाँच सर्कारको सिर्फ़ मन्दिरकी मूर्ति बना दिया। जंगबहादुरने अपने भाइयोंकी तलवारके बलपर राजशक्ति हस्तगत

की थी ; इसलिये अधिकारमें उनको भी सम्मिलित करना ज़रूरी था। इसके लिये उसने एक अनोखी युक्ति ढूँढ़ निकाली—प्रधान-मंत्रीके मरनेपर उसके भाइयों या अगली पीढ़ीका उम्रमें सबसे बड़ा व्यक्ति प्रधान-मंत्री बनेगा। तबसे वहाँ यही व्यवस्था जारी है। पंचायत, कौंसिल, पार्लमेंटका कोई नाम नहीं है। भगवान्‌ने पृथिवीनारायणके ठकुरी-वंशको पाँच-सर्कारी और जंगबहादुरके राणावंशको तीन-सर्कारीके लिये भेजा है ; इसलिये वह शासन कर रहे हैं। राणा-खान्दान अन्य हिन्दू राजाओंकी भाँति दर्जनों रानियाँ रखनेका बड़ा शौक़ीन रहा है, इसलिये परिवारका बढ़ना जरूरी ठहरा ! परिवार बढ़नेसे उम्मीदवारोंकी संख्या अधिक हो जाती है, जिससे प्रतीक्षा करनेवालोंको निराशा होने लगती है, और फिर षड्यंत्र ज़रूरी हो जाते हैं। राणा-खान्दानमें जल्दी तीन-सर्कारी पानेके लिये इस तरहके षड्यंत्र कई हुए हैं। सबने पिछला दस वर्ष पहिले हुआ, जिसका भंडाफोड़ वक़्से पहिले ही हो गया, और पचासों प्रधान-पदके उत्तराधिकारी नज़रबंद, निर्वासित और उत्तराधिकारसे वंचित कर दिये गये।

१९२५ ई० तक नेपालमें दास-प्रथा जारी थी, यह पहिले बतला चुके हैं। जिस प्रधान-मंत्री चन्द्रशमशेरने ग़ुलामी दूर की, उसीने क़ानूनकी पोथी भी बनाई ; मगर यह सिर्फ़ भारतीय सर्कारकी नक़लमात्र थी। नेपालका क़ानून वहाँके शासकोंकी न्याय बुद्धिपर निर्भर है, जो कि एक साशकसे दूसरे शासकमें बदलती रहती है। नेपालमें एक छोटा-सा व्यापारीवर्ग है, जिसमें काटमांडव-उपत्यकाकी नेवार जातिके लोग ही ज़्यादा हैं। दूसरे प्रजाजनोंकी भाँति इनकी भी राज-कार्यमें कोई पूछ नहीं। निरंकुश शासनमें बड़ी पूँजी लगाकर कल-कारख़ाना खोलना सम्भव नहीं है ; इसीलिये सस्ती बिजली तथा कितने ही कच्चे सामानके होनेपर भी वहाँ उद्योग-धंधा बढ़ नहीं सका। ऊपरसे माल ढोनेके लिये रोप-लाइन (तार-गाड़ी), और मोटरका प्रचार करके बाहरी तैयार

मालके ले जानेका रास्ता खोल दिया गया, जिसके कारण पिछले बीस वर्षोंमें नेपालके घरेलू शिल्प-व्यवसाय चौपट हो गये, और कितने ही नगर और कस्बे अब अपने भाग्यको कोस रहे हैं। हाँ, इससे चुंगी (ज़कात) और विलास-सामग्री मँगानेमें शासकवर्गको फ़ायदा ज़रूर हुआ।

नेपालका शासन दुनियाके हद् दर्ज़के स्वेच्छाचारी शासनका अवशेष है, जिसने कि देशकी सारी उपजको एक सामन्तवंशके सुख-विलासके लिये सुरक्षित कर दिया है। वहाँ जनताका मुँह बिल्कुल बंद कर दिया गया है, न उसे अपने राजनीतिक विचारोंको प्रगट करनेके लिये सभा करनेका अधिकार है, न अखबार निकालने या पुस्तक छापनेका।

नेपाल क्यों नदीकी 'छाड़न'की भाँति प्रवाह-रहित हो सामन्तवादी युगमें सड़ रहा है? इसीलिये कि बृटिश साम्राज्यकी छत्रछायाने उसे बाहरी हमलेसे सुरक्षित रखा है, और आत्म-रक्षाके लिये जनताके धन-जनसे सहयोग पानेके लिये उसको शासनमें सम्मिलित करनेकी ज़रूरत नहीं। बृटिश साम्राज्य भी नहीं चाहता कि सामन्तशाही नेपाल-की जगहपर बेल्जियम, हालैंड या चेकोस्लावाकिया-जैसा कोई आधुनिक पूँजीवादी राज्य क़ायम हो। आज भी नेपालकी सेनामें न एक भी सैनिक विमान है, न एक भी टैंक, न रेडियो तथा दूसरे आधुनिक युद्धास्त्र। नेपाल बृटेनका तैयार माल सबसे अधिक खरीदता है, अर्थात् बृटिश पूँजीपतियोंकी इजारादारीको मानता है। वह अपने यहाँसे कच्चा माल ही नहीं देता; बल्कि लड़ाईके लिये भारी तादादमें "तोपके लिये चारा" देता है, और ऐसा चारा जिसे दुनिया-जहानकी कोई खबर नहीं, जो 'राइट-लेफ़्ट'के इशारेपर कठपुतलीकी तरह नाच सकता है। फिर बृटिश साम्राज्य क्यों चाहेगा कि नेपाल बीसवीं सदीमें आवे और उसकी नींदको हराम करे। भारतकी देशी रियासतोंके सामन्तशाही शासनका हम ज़िक्र कर चुके हैं।

२. पूँजीवादी शासन

(क) इंगलैंड—(i) क्रॉम्वेलने सामन्तशाही निरंकुशता दूर की। १८३२ ई०के *सुधार-क़ानूनने* पूँजीपतिवर्गको अधिकारारूढ़ किया, यह हम बतला चुके हैं। इंगलैंडका आजकलका शासन एक पार्लमेंट या पंचायत करती है, जो कहने मात्रके लिये राजाके अधीन है। राजाकी अधीनतासे पार्लमेंट उसी वक़्तसे मुक्त हो गई, जब कि थैली-वालोंके सर्दार क्रॉम्वेलकी आज्ञासे ३० जनवरी १६४६को चार्ल्स प्रथमके सिरको धड़से अलग किया गया। इसका ताजा उदाहरण १० दिसम्बर, १६३६को मिला, जब कि थैलीवालोंके नये अगुआ बाल्डविन्की आज्ञासे आठवें एडवर्डको अपने मनके ब्याहपर ज़ोर देनेके लिये गद्दा छोड़नी पड़ी।

इंगलैंडका शासन पार्लमेंट करती है। शासन वह स्थायी कर्म-चारियों और मंत्रिमंडल द्वारा कराती है; मगर क़ानून सीधे खुद बनाती है। पार्लमेंटके दो भवन हैं—लार्ड भवन और साधारण भवन।

(ii) *पार्लमेंट—लार्ड-भवन** के वह सभी व्यक्ति स्थायी सदस्य हैं, जिन्होंने खुद या बाप दादों द्वारा बैरन, वाइकौंट, अर्ल, मार्क्विस या ड्यूककी पीढ़ी-दर-पीढ़ी जानेवाली पदवी पाई है। आयर्लैंएड और स्काटलैंएडके लार्डोंके लिये इस नियमके कुछ अपवाद भी हैं। लार्डों-के अतिरिक्त इंगलैएडके सर्कारी चर्चके कितने ही ('लाट') पादरी भी इसके सदस्य हैं। लार्डोंमें एक बड़ी तादाद इंगलैएडके पुराने सामन्त-खान्दानोंकी है। अर्ल बाल्डविन्-जैसे कितने ही पूँजीपति भी इसमें शामिल हैं। इस प्रकार पुराने सामन्त-परिवारों और नये पूँजीपति-खानदानोंके व्यक्ति ही अधिकतर लार्ड-भवनके सदस्य हैं। पहिले लार्ड-भवन और साधारण-भवन दोनोंके अधिकार समान थे; किन्तु

---

*House of Lords.

पूँजीपतियोंके अधिकारारूढ़ होनेपर कितनी हो बार लार्ड-भवनने अड़ंगा-नीति अख्तियार की। उदार-दलके पूँजीपतियोंको यह बात पसंद नहीं आई और उन्होंने १९११में एक क़ानून पास कर दिया कि जो क़ानून तीन बार साधारण-भवनमें पास कर दिया जाय, उसे लार्ड-भवनसे भी पास समझा जाय, और जिस मसौदेको साधारण भवनका *वक्ता* (अध्यक्ष) अर्थसे संबंध रखनेवाला बता दे, उसके एक बार भी पास हो जानेपर उसे क़ानून समझा जाय। लार्ड-भवन-के सदस्योंकी संख्याका बढ़ाना राजाके हाथमें है; किन्तु कम करने-का तरीक़ा अभी तक नहीं निकला है। आजकल लार्डोंकी संख्या इतनी अधिक है कि यदि सभी उपस्थित हों, तो लार्ड-सभाके भवनमें उनके बैठनेकी जगह न मिले; किन्तु उपस्थिति बहुत कम होती है। बहुतसे लार्ड तो वहाँ जाते भी नहीं।

साधारण-भवन *में ६४० सदस्य होते हैं। एक बारका चुना *भवन* पाँच साल तक रह सकता है, यदि किसी कारणवश अधिकारारूढ़ पार्टीकी इच्छाके अनुसार राजा उसे तोड़कर नये चुनावकी घोषणा न करे। पहिले पुरुष वोटका अधिकार रखते थे। १९२८ ई०से २१से ३० वर्षकी औरतोंको भी वोटका अधिकार हो गया है। *साधारण-भवन*के बहुमत दलका मुखिया ही प्रधान-मंत्री हो सकता है। *साधारण-भवन* अकेले भी किसी मसौदेको तीन बार पासकर उसे क़ानून बना सकता है, इससे साफ़ ज़ाहिर है कि बृटेनके शासनका आधार *साधारण-भवन* है; तो भी साधारण-भवनके पास किये ऐसे क़ानून-की स्वीकृतिको राजा तीन साल रोक सकता है।

साधारण-भवनका निर्वाचन जनसत्ताक बतलाया जाता है; किन्तु सबको वोट देनेके अधिकार दे देनेसे ही वह जनसत्ताक नहीं हो सकता,

---

*House of Commons.

जब कि देशका धन चन्द आदमियोंके हाथमें है, प्रेस पूँजीपतियोंका है, निर्वाचनमें ख़र्चके लिये रुपये उनके पास हैं। इसके विरुद्ध साधारण आदमीका अपने वोटरोंके पास तक पहुँचना भी मुश्किल है। आर्थिक समानताके अधिकारके बिना वोटकी समानताका अधिकार सिर्फ़ प्रोपैगंडाका मूल्य भले ही रखे ; किन्तु इससे जनसत्ताकता नहीं आती। यही वजह है, जो कि साधारण जनताको वोटका अधिकार मिल जानेपर भी पार्लामेंट थैलीवालोंके ही हाथमें रही। दो बार मज़दूर-दलकी अल्पमत सर्कारें आईं ज़रूर, किन्तु वह इस अवस्थामें नहीं थीं कि पूँजीवादके मूलपर प्रहार करतीं। यदि वह वैसा करना चाहती तो लार्ड और साधारण-भवनके पूँजीपति तथा राजा उसे आसानीसे स्वीकार करते, इसमें सन्देह है।

(ख) *युक्तराष्ट्र (अमेरिका)*—युक्तराष्ट्रकी सम्पत्तिका ८३% सिर्फ़ १% आदमियोंके हाथमें है, और ९९% जनता १७% धनपर गुज़ारा करती है। बड़े-बड़े बैंकरों और पूँजीपतियोंका अमेरिकामें बहुत ज़ोर है। १९३०-३७की मंदीमें जो सत्रह लाख किसानोंकी भूमि नीलाम हुई, उसमें अधिकांश इन्हींके हाथमें गई। अमेरिका थैली-राज्यका ज़बर्दस्त उदाहरण है। इंगलैण्ड और दूसरे पुराने देशोंकी भाँति वहाँ पुराने सामन्तवंशिक परिवार नहीं हैं, तो भी डालर खुद ऐसी शक्ति रखता है, कि एक पीढ़ीमें ही उच्च वर्गको पैदा कर दे। वहाँ गुलाम बनाकर अफ्रीकासे भेजे गये नीग्रो (हब्शी)की सन्तान तो अब भी बहुतसे नागरिक अधिकारोंसे वंचित है।

युक्तराष्ट्र ४८ रियासतोंका संघ† है। इनके अतिरिक्त अलास्का, हवाई भी संघमें शामिल हैं यद्यपि वह रियासतों-जैसा अधिकार नहीं

---

†क्षेत्रफल ३०,२६,७८९ वर्ग मील जो हवाई आदिके मिलानेसे ३७,३८,३९५ वर्ग-मील होता है और जन-संख्या १३ करोड़।

रखते और वहाँकी पार्लामेंट या कांग्रेसके लिये अपने मेंबर नहीं चुन सकते। युक्तराष्ट्रके राष्ट्रीय विधानको सांघिक विधान कहते हैं, जिसका अर्थ है, संघ-सर्कारके उतने ही अधिकार हैं, जितने कि रियासतोंने उसे दे दिये हैं। तो भी १७७६ ई०से, जब कि युक्तराष्ट्रने स्वतंत्रताकी घोषणा की, अब तक बहुत कम परिवर्त्तन हुए हैं। अमेरिकाका राष्ट्रीय विधान १७८७ ई०में बना और १७८९में लागू हुआ। पिछले डेढ़ सौ सालोंमें सिर्फ़ २१ (जिनमें १० बननेके बाद ही स्वीकृत हुए थे) संशोधन बतलाते हैं, कि सामाजिक प्रगतिको रोक रखनेकी वहाँ कितनी कोशिश की गई है; अमेरिकाके पूँजीपतियोंका इसीमें हित था; इसीलिये जहाँ उत्पादनक्षेत्रमें उन्होंने नयेसे नये आविष्कारोंको बिना रोक-टोकके अपनाया, वहाँ अपनी सामाजिक राजनीतिको अचल रखा।

युक्तराष्ट्रका शासन-यंत्र प्रेसिडेंट, कांग्रेस और सुप्रीम-कोर्टपर निर्भर है।

(i) *प्रेसिडेंट*—युक्तराष्ट्रका प्रेसिडेंट साक्षी मात्र नहीं है। शासन-सूत्रके संचालनमें उसका भारी हाथ है। वहाँकी दो राजनीतिक पार्टियाँ—*रिपब्लिकन* और *डेमोक्रेटिक*—प्रेसिडेंटके निर्वाचनके लिये अपने-अपने उम्मीदवार खड़ा करती है। दोनों पार्टियाँ एक ही पूँजी-वादकी पोषक ही नहीं हैं; बल्कि उनके साधारण राजनीतिक प्रोग्रामोंमें भी कोई अन्तर नहीं। इसीलिये, बहुत-सी बातोंमें दोनों पार्टियोंके कितने ही सदस्य स्वतंत्र सम्मति भी देते हैं। प्रेसिडेंटका चुनाव चार वर्षोंके लिये होता है, और वाशिंगटनके तीसरी बार निर्वाचनके लिये खड़े होनेसे इन्कार करनेके बाद फ्रैंकलिन रूजवेल्ट ही पहिले प्रेसिडेंट हैं, जिनका कि तीसरी बार चुनाव हुआ। प्रेसिडेंटका चुनाव नागरिकोंके सीधे वोटसे न होकर एक निर्वाचन-'कालेज'के द्वारा होता है, जिसमें उतनी ही संख्या निर्वाचक व्यक्तियोंकी होती है, जितने मेंबरोंको प्रत्येक

रियासत कांग्रेसके दोनों भवनोंमें भेजती है। युक्तराष्ट्रके ऊपरी भवन—सीनेट—के ९६ सदस्योंमेंसे प्रत्येक रियासत समान संख्या—दो—को चुनती है; किन्तु प्रतिनिधि-भवन*में संख्या घटती-बढ़ती रहती है। १९३८में वह ४३५ थी प्रेसिडेंटके निर्वाचन-कालेजमें गोया जनता द्वारा निर्वाचित ९६+४३५=५३१के करीब निर्वाचक होते हैं। प्रेसिडेंटके निर्वाचनमें जो करोड़ों वोटों की गिनतीकी जाती है, वह इन्हीं निर्वाचकोंको मिले वोटोंकी होती है।

प्रेसिडेंटको विधान द्वारा कांग्रेस और सुप्रीम-कोर्टपर नियंत्रण करनेका अधिकार नहीं प्राप्त है। वह उन्हें तोड़ नहीं सकता, और न उनके सामने कोई क़ानूनी मसौदा पेश कर सकता है। हाँ, कांग्रेसके पास किये क़ानूनको चाहे तो दस दिनके भीतर रद्द कर सकता है। लेकिन, मंत्रिमंडल बनानेमें वह पूरी आज़ादी रखता है। वह खुद अमेरिकाका प्रधान-मंत्री और प्रधान-सेनापति है। सैनिक न होनेसे दूसरा पद प्रेसिडेंटके लिये भले ही सम्मानसूचक हो; किन्तु पहिलेके बारेमें तो रूज़वेल्टका अधिकार चर्चिलसे कहीं ज्यादा है, इसीसे युक्तराष्ट्रके स्टेट-सेक्रेटरी प्रेसिडेंटके चाकर कहे जाते हैं। मंत्रिमंडलमें ही नहीं, राजकीय नौकरोंमेंसे भी वह जिसको चाहे रखे, जिसको चाहे निकाले; और रखने-निकालनेका वहाँ इतना ज़ोर रहा है कि हर नये प्रेसिडेंटके बाद नागरिक नौकरोंकी पल्टनकी पल्टन बेकार हो जाती थी, और उसकी जगह नये कलेक्टर, कमिश्नर, डाइरेक्टर, इन्स्पेक्टर-जेनरल आते रहे। राजपूतानाकी कुछ बड़ी रियासतोंमें दीवान भी ऐसा ही करते हैं।

प्रेसिडेंट अपने पदकी वजहसे युक्तराष्ट्रकी सेनाओंका प्रधान सेनापति ही नहीं है, बल्कि वह नई संधियाँ भी कर सकता है; बशर्ते कि सीनेटका $\frac{2}{3}$ बहुमत उसे स्वीकृत करे। प्रेसिडेंट सुप्रीम-कोर्टके जजोंको

*House of Representative.

नियुक्त करता है; किन्तु उन्हें निकालनेका उसे अधिकार नहीं—रूज़वेल्ट द्वितीयके कितने ही नये क़ानूनी सुधारोंको पुराने जजोंने रद्द कर दिया।

प्रेसिडेंटके चुनावके समय ही एक वाइस्-प्रेसिडेंट (उप-राष्ट्रपति) भी चुना जाता है। वही सीनेटका प्रधान और प्रेसिडेंटके मर जानेपर प्रेसिडेंट होता है। रूज़वेल्ट प्रथम (थ्योडोर) ही एक ऐसा वाइस्-प्रेसिडेंठ हुआ, जो कि मेकिन्लीकी हत्याके बाद प्रेसिडेंट बना।

(ii) *कांग्रेस*—अमेरिकन पार्लमेंट—के दो भवन हैं। ऊपरलेको सीनेट और निचलेको *प्रतिनिधि-भवन* कहते हैं। दोनों भवनोंके सदस्योंका चुनाव वोटों द्वारा होता है, जिसका अधिकार अमेरिकाके हरएक वयस्क नागरिकको है—नीग्रो लोगोंमें बहुतोंको किसी न किसी तरीकेसे उससे वंचित कर दिया जाता है।

(a) *प्रतिनिधि भवन*के सदस्योंकी संख्या ८ नवंबर १९३८ ई०-के चुनावमें ४३५ थी; किन्तु यह संख्या हर रियासतकी अलग-अलग जन-गणनाके अनुसार उसकी बढ़ती-घटती संख्याके मुताबिक होती है। *प्रतिनिधियों*का चुनाव दो वर्षके लिये होता है। प्रतिनिधि-भवनमें कुछ ऐसे प्रदेशोंके भी प्रतिनिधि हैं, जो बोल तो सकते हैं; किन्तु वोट नहीं दे सकते। १९३८ ई०में ४३५ *प्रतिनिधियों*में २६१ डेमोक्रेटिक पार्टी के तथा १६९ रिपब्लिकन पार्टीके थे। दूसरी पार्टियोंमें किसान-मज़दूर पार्टीका १ प्रतिनिधि (सीनेटमें २), अमेरिकन मज़दूर-पार्टीका १ प्रतिनिधि था। प्रतिनिधित्वमें देहातका प्रभाव ज्यादा है। प्रतिनिधि-भवनका अपना एक निर्वाचित *वक्ता* (सभापति) होता है। प्रतिनिधि-भवनमें भाषणकी उतनी निरंकुशता नहीं है, जितनी कि सीनेटमें।

(ii) *सीनेट*—में ९६ सदस्य, (प्रत्येक रियासतके दो-दो) होते हैं, जिनका चुनाव छ वर्षके लिये होता है; किन्तु हर दो वर्ष बाद एक तहाई नये सदस्य निर्वाचित होते रहते हैं। सीनेटमें सभी रियासतोंके

प्रतिनिधि बराबर संख्या (दो ,में होनेसे हर सीनेटर समान जनसंख्या-का प्रतिनिधि नहीं है : उदाहरणार्थ १ प्रतिनिधि भेजने लायक जन-संख्या रखनेवाली रियासत डेलावेर भी उतने ही सीनेटर भेजनेका अधिकार रखती है, जितना कि ४५ प्रतिनिधि भेजनेवाली न्यूयार्ककी रियासत। सीनेटकी सदस्यताके लिये उत्सुकता ज्यादा देखी जाती है ; क्योंकि उसके सदस्योंकी आयु ही तिगुनी नहीं होती, बल्कि उनके अधिकार भी ज्यादा हैं। अमेरिकाके प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ प्रतिनिधि नहीं सीनेटर होते हैं ; और इसके लिये वंश-परंपरा चलानेकी भी कोशिश देखी जाती है। सीनेटरको भाषण करनेकी कोई रोक-टोक नहीं है। उसका तब तक और किसी भी विषयपर बोलनेका अधिकार है, जब तक कि वह खुद न बन्द कर दे। इसके साथ सन्धिकी स्वीकृतिके लिये उसकी ⅔ सम्मति, तथा सुप्रीम कोर्टके जजोंमें उसकी रायकी अनि-वार्यताने सीनेटके अधिकारको बढ़ा दिया है। इंगलैंडमें जहाँ निचले भवन—साधारण-भवन—को सबसे ज्यादा अधिकार है, वहाँ युक्तराष्ट्रमें ऊपरका भवन—सीनेट—सबसे अधिक प्रभाव रखता है।

(iii) *सुप्रीम-कोर्ट*—सुप्रीम-कोर्टमें नौ जज होते हैं, जिन्हें सीनेट-की सम्मतिके अनुसार प्रेसिडेंट नियुक्त करता है ; लेकिन एक बार जज हो जानेपर उन्हें हटाया नहीं जा सकता। कांग्रेसके पास किये हुए किसी भी क़ानूनको सुप्रीम-कोर्ट यह कहकर रद्द कर सकता है, कि वह (१७८७में बने) राष्ट्रीय विधानके विरुद्ध है। रूजवेल्ट द्वितीयको अपने राष्ट्र-निर्माणके कितने ही साधारण सुधारोंमें सुप्रीम कोर्टसे कितनी दिक्क़त उठानी पड़ी, यह अभी कल की बात है।

युक्तराष्ट्रके शासन-यंत्रको देखनेसे मालूम होता है, कि उसका सबसे ज्यादा ज़ोर परिस्थितिके अनुसार समाजके हर तरहके परिवर्त्तन-को रोकनेपर है, वह उसे खीचकर अठारहवीं सदीमें रखना चाहता है। इसमें उसे अब तक सफलता भी रही ; क्योंकि उसके पास उपजाऊ

गैर-आबाद ज़मीन बहुत ज्यादा थी, और भीतर तथा बाहरसे आकर बढ़ती जनसंख्याके लिये कल-कारखानोंके बढ़ानेकी भी बहुत गुंजाइश थी। किन्तु, अब गैर-आबाद ज़मीन खतम हो चुकी है ; साथ ही पिछली (१९३०–३२) मन्दीमें किसानोंकी चौथाई संख्या अपना घर-द्वार बेंच चुकी है। बाहरके बाज़ारोंके लिये तीव्र प्रतिद्वन्दिता है, जिससे बेकारोंकी संख्या एक करोड़से ऊपर तक पहुँचती रही है। ऐसी अवस्थामें १७८७का विधान युक्तराष्ट्रको और अधिक दिनों तक आगे बढ़नेसे रोक सकेगा, इसकी सम्भावना नहीं है।

द्वितीय साम्राज्यवादी युद्धके आरम्भमें युक्तराष्ट्रकी नीति तटस्थ रहकर अधिकसे अधिक युद्ध-सामग्री बेंचने तथा दुनियाके बाज़ारों-पर हाथ फेरनेकी थी। लेकिन, जर्मनीकी सफलताओंको देखकर उसे अपना भविष्य भी खतरेमें दिखाई देने लगा। जर्मनीके विजयी होनेपर पूँजीवादी युक्तराष्ट्र अपनी १३ करोड़की जनसंख्याके साथ अकेला यूरोपीय फ़ासिस्त "युक्तराष्ट्र"*के ३४ करोड़से ऊपरके

---

	*क्षेत्रफल (वर्गमील)	जनसंख्या
अल्बानिया	१०,६००	१० लाख
बेल्जियम्	११,७७५	८३ ,,
बुल्गेरिया	३९,०००	६० ,,
डेन्मार्क	१६,५००	३८ ,,
यूनान	१,३०,०००	६३ ,,
इताली	१,१९,७००	४४० ,,
आस्ट्रिया		
लक्सेम्बर्ग	९९९	३ ,,
जर्मनी	२,१०,०००	७८० ,,
हॉलैंड	१२,५००	८७ ,,

जनबलसे मुक़ाबिला करके बाज़ार और कच्चे मालपर आजकी तरह फिर अधिकार जमा सकेगा, यह तो संभव है ही नहीं ; साथ ही हिटलर अमेरिकाको स्वतन्त्र रहने देगा, इसमें भी सन्देह है। यही वजह है जो युक्तराष्ट्र हिटलरके विरुद्ध बिना घोषित युद्धमें शामिल हो गया है। बेकारों और पीड़ितोंकी अवस्थाको सुधारनेके प्रयत्न जो कि वस्तुतः क्रान्तिको मुल्तवी करनेका प्रयत्न था—जिन बड़े पूँजीपतियोंने बराबर विरोध किया, वह अब भी युक्तराष्ट्रको जर्मनीके विरुद्ध जानेसे रोक रहे हैं। किन्तु, अमेरिका, जर्मनीके विरुद्ध जितनी दूर तक बढ़ चुका है, उससे हिटलरकी विजयसे उसका अस्तित्व खतरेमें होगा।

३. फ़ासिस्त और नात्सी शासन

(क) फासिस्त इताली

(i) *फ़ासिस्तवादका प्रादुर्भाव*—प्रथम साम्राज्यवादी युद्धके बाद पूँजीवादकी हालत जब और अन्तर हो गई, तो वह सारे पर्दे फाड़कर

	क्षेत्रफल (वर्गमील)	जनसंख्या
नार्वे	१,२५,०००	३० लाख
पोर्तुगाल	३५,४००	७५ ,,
रूमानिया	१,१३,०००	१६५ ,,
स्पेन	१,६५,०००	२४० ,,
स्विट्ज़रलैंड	१५,६४४	४१० ,,
		(जर्मनभाषी ३० लाख)
तुर्की	३,००,०००	१६५ ,,
हंगरी	४०,०००	१०० ,,
जेकोस्लावाकिया	५२,०००	१५० ,,
पोलैंड	१,५०,०००	३४० ,,
इंगलैंड	६४,२७७	४७५ ,,
आयलैंड (आयर)	२६,६००	३० ,,

नग्न हो गया। उसने राष्ट्रीयताके नामपर, विश्व-बंधुत्वपर प्रहार करते युद्धकी महिमा गानी शुरू की। पृथ्वीके फिरसे बँटवारेके लिये, अगले महायुद्धके लिये भीषण तैयारी शुरू की। पूँजीवादके इस नये रूपका सबसे पहिले प्रादुर्भाव इतालीमें हुआ।

(ii) *फ़ासिस्त-दर्शन*—१९१९ ई०में मुसोलिनीने फ़ासिस्त-पार्टी-की बुनियाद रखी। लेकिन, फ़ासिस्तवाद मुसोलिनीका आविष्कार नहीं है, इसका आचार्य विल्फ़ेदो परेतो (१८४८–१९२३) था, जिसने नीत्शेके दर्शन और मचिवेल्लीकी चाणक्य-नीतिके आधारपर अपने राजनीतिक विचार तैयार किये। परेतोका बाप मानवता और मेज़िनी-के विचारोंका हामी था, और इसके लिये उसे इताली छोड़कर भागना पड़ा था। परेतो अपने बापके विचारोंका कट्टर विरोधी था, उसके लिये मानवताके विचारोंका वध सबसे ज़रूरी बात थी। परेतो जब अपने बापके साथ देशमें लौटा, तो उसकी आयु १० वर्ष की थी। वयस्क होनेपर उसने राजनीतिमें भाग लेना शुरू किया ; किन्तु, उसके मुक्त-व्यापार तथा दूसरे उदार विचार सरकारी हल्कोंमें पसन्द नहीं किये गये ; इसलिये अपना रुख बदलकर वह शक्तिका पुजारी बन गया। मानवाद, उदारवाद और समाजवादका उसने ज़बर्दस्त विरोध करना शुरू किया। परेतोके इन्हीं निषेधात्मक विचारोंको मुसोलिनीकी फ़ासिस्त-पार्टीने अपने प्रोग्रामका मुख्य अंग बनाया। परेतो इंजीनियर और गणितज्ञ था। वह स्विट्ज़र्लैण्डके लौज़न विश्वविद्यालयका प्रोफ़ेसर था। उस वक्त वेनितो मुसोलिनी उसके विद्यार्थियोंमें था।

१९२२ ई०में जब मुसोलिनीने गवर्नमेंटपर क़ब्ज़ा किया, तो परेतोको उसने एक ऊँचा पद दिया ; किन्तु १९२३ ई०में वह मर गया और फ़ासिस्त इतालीकी विशेष सेवा न कर सका। "समाजका सबसे अच्छा रूप क्या हो सकता है ?" परेतोका उत्तर था "समाजका वह रूप, जो मेरे मनोभावोंके सबसे अधिक अनुकूल

है।" परेतोके सामाजिक विचारोंका आधार जन्मजात *नायक*†का सिद्धान्त था। उसका कहना था, प्रत्येक समाजमें ऐसे व्यक्ति पाये जाते हैं, जो हर तरहकी प्रतिभा, हिम्मत, योग्यता और चातुरीमें विशेषता रखते हैं। जन्मजात *नायक* और सब तरहकी योग्यता रखते हैं; किन्तु एक चीज़में वह अयोग्य होते हैं—वह अपने-जैसी सन्तान नहीं पैदा कर सकते। अफ़लातूँको भी हम ऐसा ही विचार प्रकट करते देख चुके हैं। अफ़लातूँकी भाँति परेतोने भी *नायकों*के वर्गको हर पीढ़ीमें भिन्न वर्गके नये व्यक्तियों द्वारा भरनेका प्रस्ताव किया था। परेतोके अनुसार समाजका संचालन नायक-वर्गके हाथमें होना चाहिये। अधिकांश जनता जन्मजात *नायक* नहीं होती; इसलिये उसे सोचने, बोलने, करनेकी स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिये—उसका काम है नायकका अनुसरण करना। नायक उनसे अधिक उनकी भलाईको सोच और कर सकता है। क्रान्तिके बारेमें परेतोका मत था—"जब निम्न-वर्गमें उच्च योग्यताके व्यक्ति ज्यादा जमा हो जाते हैं, और उसी तरह उच्च-वर्गमें निम्न योग्यताके आदमी, तो उच्च-वर्ग शक्तिके इस्तेमालमें हिचकता है, जिससे कि *क्रान्ति* आ मौजूद होती है।" परेतोके कथनानुसार क्रान्तिको रोकनेका यही तरीक़ा है, कि समय-समय-पर निम्न वर्गके योग्य व्यक्तियोंको उच्च-वर्गमें शामिल कर लिया जाय। यदि ऐसा नहीं किया गया, तो निम्न-वर्गके व्यक्ति सफल क्रान्ति कर बैठेंगे। विश्व-बन्धुत्व, समानता आदि ऐसे दुर्गुण हैं, जो कि शासक-वर्गको निर्बल बना देते हैं, जिससे निम्न-वर्ग उसे आसानीसे पदच्युत कर सकता है। धोखा, विश्वासघात, झूठमें जो बहादुर होता है, ऐसे शासक वर्गको आसानीसे पदच्युत नहीं किया जा सकता। शासकोंको अपनी शक्तिको मजबूत रखनेके लिए, रियायत, मुरौवत और पक्षपातकी

---

†Elite

ज़रूरत होती है। धनियों-पूँजीपतियोंके स्वार्थके प्रति जितना ही इन बातोंका खयाल रखा जायगा, उतना ही वह शासक-वर्गकी सहायता करेंगे। हाँ, थैली और शासनके संबंधको रोशनीमें नहीं आने देना चाहिये। परेतोकी नज़रमें जनसत्ताकी कोई क़ीमत नहीं। उसके लिये जनता भेड़ोंकी जमात है। वह कितने ही दूसरे प्रतिगामी 'पंडितों'की भाँति ६६% जनताको ४% नायकोंके पीछे आँख मूँदकर चलनेकी सलाह देता है। प्रोफ़ेसर एल्सवर्थ फ़ारिसके कथनानुसार "परेतो सदाचारके नामको भी फूटी आँखोंसे नहीं देख सकता—सत्य, औचित्य, न्याय, जनसत्ता उसके लिये घृणाकी चीज़ें हैं।"

(iii) *फ़ासिस्त राजनीति*—फ़ासिस्तवाद मुख्यतया परेतोके उपरोक्त सिद्धान्तोंपर अवलम्बित है। फ़ासिस्तवादका प्रथम सिद्धान्त है राष्ट्रीयता—अपना राष्ट्र सबसे अच्छा, और सारी दुनियापर शासन करनेके लिये है, दुनियाके दूसरे सारे ही राष्ट्र उसकी सेवा करने और आज्ञा माननेके लिये हैं। दूसरा है सैनिकवाद—युद्ध मानव-समाजकी समृद्धि और विकासके लिये ज़रूरी है, जो शक्तिको इस्तेमाल नहीं कर सकते, वह शासन नहीं कर सकते। तीसरा सिद्धान्त है—निरंकुश शासन, जिसकी बागडोर अकेले नेता (मुसोलिनी)के हाथमें होनी चाहिये। इतालीकी फ़ासिस्त महाकौंसिल भी एक *नायक* (मुसोलिनी)को सलाह भर देनेका अधिकार रखती है। भाषण, लेखन, सम्मिलन, रेडियो आदिकी स्वतंत्रता बड़े-छोटे नायकोंको ही दी जा सकती थी, दूसरे उसके अधिकारी नहीं। चौथा है—पूँजीवादका अधिनायकत्व।

(iv) *फ़ासिस्त अर्थनीति*—फ़ासिस्तवादने पूँजीपति और श्रमिकके झगड़ोंके मिटानेका अपना नया तरीक़ा अख्तियार किया है। उसने पूँजीपतिकी पूँजीको सर्कारी संरक्षणमें ले लिया है। पूँजीपतिको दीवालिया बननेका कोई डर नहीं; उसे नफ़ा कुछ कम भले ही हो सकता है, किन्तु नफ़ाके बंद होनेका डर नहीं। फ़ाज़िल पैसेको वह

नये कारखानोंमें लगा भी सकता है, अपने कारबारका संचालन भी कर सकता है, राज्य उसके ही फ़ायदे के लिये उसके ही वर्ग-द्वारा चलाया जाता है; इसलिये उसीकी तरफ़से उसपर यदि कुछ नियंत्रण होता है, तो बुरा माननेकी बात नहीं। मज़दूरको अपनी अवस्था सुधारने, वेतन बढ़ानेके लिये हड़ताल करनेका अधिकार नहीं। हड़ताल करना राजके ख़िलाफ़ बग़ावत है।

(४) *फ़ासिस्त सफलताके कारण*—फ़ासिस्त क्यों १९२२ ई०-में शासनपर अधिकार ज़मानेमें सफल हुए? लड़ाईके पहिले हीसे इतालीमें समाजवादी आन्दोलन चल रहा था। लड़ाईके दौरानमें उसकी ताक़त और बढ़ी; किन्तु उसके भीतर सुधारवादियोंकी भरमार थी। उधर कैथोलिक पादरी और धनीवर्ग ख़तरेको देखकर चुप नहीं रह सकता था। उसने धर्मके नामपर किसानोंमें प्रचार करते हुए अपना ज़बर्दस्त संगठन शुरू किया। मुसोलिनी पहिले समाजवादी था; किन्तु अब उसने देखा कि उसकी वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा दूसरी ओर जानेसे ही ज़्यादा पूरी हो सकती है। पहिले तो इताली युद्धमें शामिल नहीं हुआ; किन्तु जब मित्र-शक्तियोंका पलड़ा भारी होते देखा, तो वह उधर शामिल हो गया। मुसोलिनी अब खुलकर समाजवादियोंके ख़िलाफ़ हो शासक-शोषकवर्गकी नीतिका प्रचार करने लगा। युद्धके समाप्त होने तक समाजवादका इतालीमें बहुत अधिक ज़ोर हो गया था। यदि सुधारवादियोंकी फूटकी नीति और दक्षिणी इताली-के किसानोंका पोपके फंदेमें फँसना—न होता, तो रूसकी भाँति इतालीमें भी साम्यवादी क्रान्ति हो गई होती। लड़ाईके बाद जो आर्थिक कठिनाइयाँ, जो बेचैनी इतालियन जनतामें फैली, उसे संगठित करके क्रान्तिकी ओर ले जानेमें देरपर देर होने लगी; उधर मुसोलिनी-की फ़ासिस्त पार्टीने धनियों और महन्थोंकी हर तरहकी सहायतासे परेड और प्रदर्शनकर निम्न मध्यवित्तके तरुणोंको भी अपनी ओर

खींचना शुरू किया। यह अवस्था देर तक नहीं रह सकती थी। सुधारवादी समाजवादियोंकी शिथिलता, अकर्मण्यताके बर्त्तावने दिखला दिया, कि वह शासन नहीं कर सकते। १६२१ से फ़ासिस्तोंने समाजवादियोंके साथ झगड़े-फ़साद शुरू कर दिये। फ़ासिस्तोंके पक्षमें शासक, सेनाधिकारी और थैलीवाले थे। उनका नारा था "समाजवादकी क्षय" और "प्राचीन रोमकी ओर लौट चलो"; इस तरह समाजवाद-विरोधी सभी भावोंको संगठित कर वह ज्यादा मज़बूत और साधन-सम्पन्न थे; इसलिये समाजवादियोंके साथ मार-पीटमें उन्हें ज्यादा सुभीता था। १६२१ ई०में पार्लामेंटमें ३५ डिपुटी फ़ासिस्त थे। किन्तु, फ़ासिस्तोंका वोटपर नहीं, पशु-बलपर विश्वास था, जिसके लिये उन्होंने इतने वर्षोंसे तैयारी की थी। मुसोलिनीने अपने काली वर्दीवाले चालीस हज़ार फ़ासिस्तोंके साथ २८ अक्तूबर, १६२२को जब रोमपर धावा बोला, तो राजाने मार्शल-लॉ घोषित करनेसे इन्कार कर दिया। सारा शोषकवर्ग इसी दिनकी प्रतीक्षामें था; इसलिये वह मुसोलिनीके खिलाफ़ फ़ौज या सेना क्यों भेजता? इस खुली बग़ावतका पारितोषिक मुसोलिनीको यह मिला, कि राजाने उसे बुलाकर प्रधान-मंत्री बनाया। पार्लामेंटके ३५ मेंबरोंकी मददसे मुसोलिनी शासन नहीं कर सकता था। लेकिन, सेनाके अफ़सर उसके हाथमें थे, पोपका वरद-हस्त उसके सरपर था, वर्ग-शासनका सबसे मज़बूत अंग—सेना उसके हाथमें थी। पार्लामेंटको अपने हाथमें लेनेके लिये उसने चुनावके नियमको बदल दिया, और नियम बनाया, कि जिस पार्टीको कमसे कम $\frac{1}{4}$ वोट मिले, पार्लामेंटकी $\frac{3}{4}$ मेंबरी उसकी होनी चाहिये। इस नियमके अनुसार अप्रेल १६२४को जो चुनाव हुआ, उसमें फ़ासिस्तोंका ज़बर्दस्त बहुमत हो गया। १० जून १६२४ ई०को जब समाजवादी नेता मतेयोतीकी फ़ासिस्तोंने हत्या की, तो फ़ासिस्तवादके विरोधी विरोध प्रकट करते हुए पार्लामेंटसे निकल आये। किन्तु अन्धे असहयोग और हिजड़ी

अहिंसाके लिये दुनियामें स्थान नहीं है ; इसलिये वह मुसोलिनीका कुछ बिगाड़ न सके। १९२५ ई०में मुसोलिनीने एकाधिपत्यका अधिकार स्थापित किया, और १९२६ ई०में उसने दूसरे दलोंको तोड़ दिया-- उनके नेता बाहर भाग गये या खूनके प्यासे फ़ासिस्तोंके शिकार हुए।

(vi) *फ़ासिस्त शासन यत्र*—(१) **नायक सर्वेसर्वा**—मुसोलिनीने अधिनायक बननेके बाद भी राजाको क़ायम रखा। आख़िर वह भी उन्हीं स्वार्थोंमें है, जिनकी रक्षाके लिये फ़ासिस्तवादका आविर्भाव हुआ। ऊपरी तौरसे राजाके अधिकारको कम नहीं किया गया है, किन्तु दूचे* (नायक) साधारण प्रधान-मंत्री नहीं है, वह राज्यका *नायक* है। इतालियन पार्लमेंटके दोनों भवनोंमें कोई क़ानूनी मसौदा *नायक*की आज्ञाके बिना पेश नहीं किया जा सकता। नायक (मुसोलिनी) प्रधान-मंत्रीके अतिरिक्त वह चाहे जितने मंत्रियोंके पदोंको अपने हाथमें रख सकता है। मुसोलिनीने ऐसा किया भी। १९३४ ई०में गलेअज़्ज़ो चियानो मुसोलिनीका दामाद बना, तबसे उसका सितारा भी चमक उठा, और १९३६में वह विदेश-मंत्री बनाया गया। इससे पहिले *अधिकांश मंत्रिपद मुसोलिनीने अपने हाथमें रखे थे,* और अब भी मंत्रिमंडल, सरकार फ़ासिस्तपार्टी, सबका सर्वेसर्वा मुसोलिनी है।

(ii) *पार्लमेंट* दो भवनोंकी है, उपरले भवन—(०) *सीनेत*—के सदस्य हैं, सभी बालिग़ राजवंशिक कुमार तथा जीवन भरके लिये राजा द्वारा मनोनीत कुछ विशेष व्यक्ति। सीनेतका कोई महत्त्व नहीं है।

(ः) *देपुती-भवन*†के ४०० सदस्य हैं। नीचेके संगठनों द्वारा फ़ासिस्त महाकौंसिलके पास उम्मीदवारोंके नाम भेजे जाते हैं, जिनमें

---

* Duce. †Chamber of Deputies

महाकौंसिल अपने इच्छानुसार परिवर्धन और परिवर्त्तन कर सकती है, और फिर चार सौ उम्मीदवारोंकी एक सूची वोट करनेके लिये जनताके सामने पेश करती है। लोग इनके पक्ष या विपक्षमें वोट दे सकते हैं।

(ख) नात्सी जर्मनी

(i) *नात्सी दर्शन*—हिटलरके अधिकारारूढ़ होनेकी बात हम कह चुके हैं। हिटलरका राष्ट्रीय समाजवाद या नात्सीवाद फ़ासिस्तवादकी नक़ल है। हिटलरने मुसोलिनीके फ़ासिस्तवादसे बहुत सहायता ली और एक तरह नात्सीवादको इतालियन फ़ासिस्तवादका जर्मन-संस्करण समझना चाहिये। हाँ, उसमें हिटलरके दार्शनिक गुरु रोज़ेनबेर्ग (ज० १८६४ ई०)का खूनका सिद्धान्त शामिल है, जिसकी वजहसे यहूदी-विरोध तथा कुछ-कुछ ईसाइयत-विरोध भी नात्सीवादका अंग बन चुका है। नात्सीवादके पुरोहित रोज़ेनबेर्गका कहना है कि शासक और शासित प्रकृतिकी तरफ़से बनाये गये हैं। प्रकृति निश्चित करती है कि कौन व्यक्ति उस जातिका नेता होगा, और कौन जाति संसारकी दूसरी जातियोंका नेतृत्व और शासन करेगी। परेतोकी भाँति रोज़ेनबेर्ग भी कहता है कि अ-नायक वर्गको नायकोंकी आज्ञा बजा लानेके लिये तैयार रहना चाहिये। रोज़ेनबेर्गने खूनके सिद्धान्त पर ज़ोर देते हुए कहा कि जर्मन ही वह जाति है जिसमें पुरानी नायक-जाति—*आर्य जाति*—का शुद्ध रक्त बह रहा है। दुनियाकी सभी जातियोंपर शासन करनेका अधिकार सिर्फ़ इसी जर्मन जातिको है। दुनियाकी सारी गड़बड़ीका कारण है प्रकृतिकी तरफ़से नियुक्त शासक-जातिको हटाकर नीच-जातियोंका शासन करना। समाजवाद, उदारवाद, जनसत्ता आदि सभी नीच-जातियोंके शासक बननेके परिणाम हैं। नात्सीवादके अनुसार अंग्रेज़; फ्रेंच, रूसी, पोल, इतालियन, अमेरिकन, हिन्दी सभी नीच और संकर जातियाँ हैं। उन्हें प्रकृतिकी

ओरसे शासनकी योग्यता नहीं मिली है। ईसाइयतसे नात्सियोंकी टक्कर इसलिये है, कि उसका संस्थापक ईसामसीह अत्यन्त निकृष्ट यहूदी जातिसे था।

(ii) *शासन-यंत्रमें नेता सर्वेसर्वा-राइखस्टाग्* जर्मनीकी पार्लमेंट अब भी मौजूद है; किन्तु अब उसका काम विधान बनाना नहीं, फूरेर (नेता) हिटलरके भाषणको सुनना है। जब-तब निर्वाचन भी होता है; किन्तु नात्सी-पार्टीकी बनाई सूचीपर अधिकसे अधिक वोट दिलवाकर दुनियामें यह प्रोपेगंडा करनेके लिये है, कि वह अत्यंत लोकप्रिय है। अधिकारारूढ़ होनेके तीन ही महीने बाद अप्रेल १९३३ ई०-में नात्सियोंने क़ानून बना दिया, कि कोई भी मसौदा बिना राइखस्टाग्-में भेजे सिर्फ़ प्रेसिडेंटके हस्ताक्षर कर देनेसे क़ानून बन जायगा। १२ अगस्त १९३४को हिंडनबर्गके मरनेके बाद हिटलर चान्सलर (प्रधान मंत्री)के अतिरिक्त प्रेसिडेंट भी हो गया; इसलिये १९३६के विधानके अनुसार हिटलरके हस्ताक्षरसे ही कोई मसौदा क़ानून बन जाता है। लेकिन, उसकी ज़रूरत ही क्या है? हिटलरने नेतावादी शासन स्थापित किया है। सारी जर्मन जातिका एक *नेता* (फूरेर) हिटलर है। उसके मुँहसे निकला हरएक शब्द क़ानून है। वह अपने नीचे हर काम और विभागके लिये नेता मुक़र्रर करता है। नार्वे, चेक, स्लावक, हालैण्ड, बेल्जियम्, नार्वे, आदि सभी हिटलरके अधीन देशोंमें हिटलरने नेता नियुक्त किये हैं। इस तरह नात्सीवादमें शासन-शक्ति नीचेसे नहीं, ऊपरसे आती है।

(iii) *नात्सी-अर्थनीति*—पूँजीवाद बीसवीं सदीके शुरूमें साम्राज्यवाद—इजारादारी पूँजीवाद—में परिणत हो गया, इसे हम पहिले बतला आये हैं। पिछले महायुद्धके बाद यही इजारादारी पूँजीवाद सैनिक अधिनायकत्वके साथ आज फ़ासिस्तवाद या नात्सीवादके रूप-में हमारे सामने है। नात्सीवादको शासनारूढ़ करनेमें जिन क्रुप्

थाइसेन आदिने अपनी थैलियाँ खोली थीं, वह स्वयं भारी उद्योगके इजारेदार पूँजीपति थे, और नात्सी-शासनसे सबसे ज्यादा फ़ायदा भी उन्हींको हुआ, यह इस बातका सबूत है कि नात्सी शासन उनके स्वार्थका ज़बर्दस्त पोषक है।

(a) *बाज़ार दर नियन्त्रण*—आइये पहिले नात्सी अर्थनीति पर ग़ौर करें। तीन तरहके नियंत्रण वह तीन पैर हैं, जिनपर जर्मनीमें नात्सी शासन खड़ा है। (१) पहिला नियंत्रण है क़ीमतों या बाज़ार-दर-पर नियंत्रण। क़ीमतपर नियंत्रण करनेके लिये लागत-खर्चपर भी नियंत्रण करना ज़रूरी है, जिसका अर्थ है मज़दूरोंके वेतनपर नियंत्रण—कम-से-कम मजदूरी देना।

(b) *आयात-निर्यात नियन्त्रण*—दूसरा नियंत्रण है आयात और निर्यातके परिमाणके ऊपर जर्मन पूँजीपति ज्यादा-से-ज्यादा माल अपने देशसे बाहर भेजना (निर्यात) चाहेंगे, और वह तथा वहाँके व्यापारी ज्यादा-से-ज्यादा कच्चा-पक्का माल मँगाना चाहेंगे ; क्योंकि इससे उन्हें ज्यादा लाभ होगा। लेकिन निर्यातसे आयातका बढ़ना देशकी आर्थिक अवस्थापर भारी असर डालता है, सिक्केका भाव गिरा देता है, जिससे आयातकी चीज़ों, कच्चे मालको भी ज्यादा दामपर ख़रीदना पड़ता है, और सिक्केकी अस्थिरतासे देशके आर्थिक जीवनमें जो गड़बड़ी होती है, वह तो होती ही है। उदाहरणके लिये पिछले सालोंमें नेपाल-के सिक्के (मुहर)के भावके गिरने और वहाँके शिल्पकी तबाहीको ले लीजिये। नेपालमें बाहरी माल जानेके लिये कुछ प्राकृतिक दिक्क़तें थीं। रक्सौलके अन्तिम रेल-स्टेशनसे नेपाल घाटी बहुत दूर तथा पहाड़ों और जंगलोंका कठिन रास्ता था। नेपाल सर्कारको बाहरी माल-से 'जकात'—आयात-कर—की आमदनी थी। शासक-सामन्तवर्गको शौक़ीनीकी चीज़ें सस्ती मिल सकती थीं, जाना-आना जल्दी और आरामसे हो सकता था ; यह कारण था जिसके लिये शासकोंने

भीमफेरीसे काठमांडो तक माल ढोनेके लिये तार-मार्ग* बनाया, रक्सौलसे अमलेखगंज तक रेल तैयार की, और अमलेखगंजसे भीमफेरी तक मोटरकी सड़क निकाली। नेपालके लिये भारतीय बंदरोंमें उतरी चीज़ोंपर भारत-सर्कार कर नहीं लेती। यह और यातायातके आधुनिक जरिये ही कारण हैं, जो कि विदेशी चीज़ें नेपालमें भारतसे भी अक्सर सस्ती बिकती हैं—सर्कारी आयात-कर भी कम है। चीज़ें सस्ती और ज्यादा परिमाणमें तो आने लगीं; किन्तु नेपालको वह मुफ्त तो नहीं मिल सकती थीं। यदि नेपाल उतने हीकी चीज़ें मँगाता जितनेका माल वह बाहर भेज सकता था; तो आधुनिक यातायात के साधन अधिक समय बेकार पड़े रहते और उनपर खर्च उतना ही पड़नेपर वह घाटेका सौदा बन जाते; साथ ही शासकोंकी वैयक्तिक माँगोंको रोकना पड़ता। इस प्रकार आयात बढ़ा, जब कि निर्यातकी यह हालत हो गई कि तार-गाड़ी (रोप-वे)पर चलनेवाले मालके जालेको काठमांडोसे नीचे भेजते वक्त खाली जानेपर तार खराब होनेका डर था; इसलिए भारी करनेके लिये उसपर पत्थर रखे जाते थे। यह पत्थर रोप-वेको भले समभार कर सकते थे; किन्तु आयात-निर्यातके योगोंको वह वैसा नहीं कर सकते थे। जब पचास लाख रुपयेके सामानके बदले नेपाल पचीस लाखका ही माल बाहर भेज सका, तो पचीस लाखके लिये या तो कर्ज़ ले या सोना-चाँदी भेजे। यह और इस तरहकी और भी सिक्के-संबंधी दिक्कतें उठ खड़ी हुईं, जिससे नेपाली 'मुहर'की रुपयेकी भुनाईकी पुश्तोंसे जो एक दर चली आ रही थी, वह टूटी और रुपयेकी दर 'ढाई मुहर' नहीं, ज्यादा हो गई। बाहरी मालके कारण काठमांडव-उपत्यकाके कितने ही गृह-शिल्प नष्ट हो गये—कस्बों, शहरोंमें तबाही आ गई, इसका ज़िक्र हम कर चुके हैं।

---

*Ropeway.

ऐसी ही दिक्क़तोंसे बचनेके लिये नात्सी-सर्कारको आयात-निर्यात-के परिमाणपर पूरा नियंत्रण करना पड़ा।

(c) *पूँजी-नियंत्रण*—तीसरा नियंत्रण है व्यवसायमें पूँजी लगानेपर। आमतौरसे पूँजीपतिको सालाना जो लाभ होता है, उसमें वह कुछको अपने राजसी जीवनमें खर्च करता है, कुछको उसी या दूसरे व्यवसायमें तुरन्त लगा देता, और कुछ भागको बैंकमें बेकार इस खयालसे छोड़ रखता है, कि पूँजी लगाने या सट्टेबाजीका अच्छा सुभीता जहाँ होगा, इसे उसमें लगायेंगे। नात्सी-सर्कारने पूँजीपतियोंको मजबूर किया, कि अपनी आमदनीका खास हिस्सा व्यवसायमें लगाना ही होगा।—हथियारोंके विशाल कारखानोंके मालिक तथा राजनीतिक-क्षेत्रमें प्रभाव रखनेवाले दूसरे व्यक्ति राजसी जीवन बिताते हैं, और उनकी इस विलासितापर नियंत्रण नहीं है, किन्तु अधिकांश पूँजीपति खासकर छोटे-छोटे कल-कारखानोंवाले वैसा नहीं कर सकते। उन्हें नात्सी-फ़ौजी सर्कारकी योजना—जिसमें सबसे बड़ा भाग हथियार-उत्पादनका है—के अनुसार पूँजी लगानी ही पड़ेगी। इसीका परिणाम देखते हैं, १६३२में जहाँ ४.२ अरब मार्क* पूँजी कारखानोंमें लगा करती थी, १६३७में वह १६ अरब मार्क हो गई, जिसमें सबसे ज्यादा वृद्धि हथियार-कारखानों में हुई, जहाँ १७ अरब मार्कके स्थान पर ६ अरब मार्क लगा था। गोया साढ़े चार अरब मार्क पूँजीको कारखानेमें लगानेके लिये नात्सी-सर्कारने जर्मन पूँजीपतियोंको मजबूर किया, जिसका परिणाम हुआ, १६३२के ७० लाख बेकार आदमी कामपर लगा दिये गये।

(iv) *नात्सी सैनिक-व्यय*—नात्सियोंने पूँजी लगानेके लिये मजबूर करके कारखानों और काम करनेवालोंकी संख्याको बढ़ाया,

---

*युद्धसे पहिले प्रायः बारह आनेका मार्क होता था।

मज़दूरोंकी मजदूरीको घटाकर २० मार्क हफ्ताके क़रीब करके उनकी जीविकाके तलको बहुत नीचे गिरा दिया, और बाहरी मुल्कोंसे चीज़ें निर्यातके अनुसार मँगानी शुरू कीं। इन तीनों बातोंसे जो फ़ायदा हुआ, उसको किस तरहसे इस्तेमाल किया गया, इसके लिये नात्सी-जर्मनीके सालाना बजटोंको देखिये—

व्यय (अरब मार्कोंमें)

	योग	सैनिक व्यय
१९३२-३३	९·७	१·०
१९३३-३४ (हिटलरी)	९·७	३·०
१९३४-३५	१२·२	५·५
१९३५-३६	१६·७	१०·०
१९३६-३७	१८·८	१२·६
१९३७-३८	२२·०	१५·०
१९३८-३९	३१·५	२४·०

आय (अरब मार्कोंमें)

	कर	बेकार-बीमा	दीर्घकालिक कर्ज	अल्प० कर्ज	दान	कुल-योग
१९३३-३४	६·९	०·१	०·८	१·६	०·३	९·७
१९३४-३५	८·२	०·१	०·८	२·८	०·३	१२·२
१९३५-३६	९·७	०·२	१·७	४·७	०·४	१६·७
१९३६-३७	११·५	०·५	२·६	३·७	०·५	१८·८
१९३७-३८	१४·०	१·०	३·३	३·२	०·५	२२·०
१९३८-३९	१७·७	१·५	७·६	४·२	०·५	३१·५

युद्ध आरम्भके पहले सालमें जर्मनी अपनी साढ़े एकतीस अरब-की आमदनीमें २४ अरब युद्धपर खर्च कर रहा था। हिटलर-

के शासनारूढ़ होते ही (१६३३) जर्मनीका सैनिक बजट १ करोड़से ३ करोड़ हो गया, और ६ साल बाद पहलेसे चौबीस गुना तथा नात्सी-शासनके पहले सालसे आठ गुना बढ़ गया। यही नहीं, बल्कि वह सारे राज-बजटका ½ था ; जो बतलाता है कि नात्सी-सर्कार किस उद्देश्यसे क़ायम हुई थी ; और सारे नियंत्रणसे हुए लाभको कहाँ इस्तेमाल किया गया।

१६३६ वाले साढ़े तीन अरबके बजटका अधिक अंग कारख़ानोंपर खर्च किया गया ; किन्तु किन कारख़ानोंपर ? ज्यादातर हथियार बनानेवाले कारख़ानोंपर । यदि इतनी पूँजी जीवनकी उपयोगी सामग्री पैदा करनेवाले कारख़ानोंमें लगाई गई होती, तो जर्मनीकी बेकारी ही दूर नहीं होती, बल्कि मज़दूरोंके वेतनको कम करनेकी जगह वह बढ़ाया जा सकता था ; और मज़दूरोंके वेतनमें वृद्धि होनेपर वह कारखानेकी बनी जीवनोपयोगी चीज़ोंको अधिक मात्रामें खरीद सकते थे। किन्तु, मज़दूरीको कम करके नात्सियोंने जनताके ख़रीदनेकी शक्तिपर प्रहार किया। वह इसीलिये कि जर्मन हथियार-कारख़ानोंके मालिकोंको अधिक अतिरिक्त मूल्य (लाभ) मिल सके, और वह उसे और भी ज्यादा हथियार-कारख़ानोंमें लगा सकें यदि मज़दूरोंका वेतन बढ़ाया जाता, तो पूँजीपतियोंके पाकेट ख़ाली होते--उनका भाड़ा, सूद, मुनाफ़ा कम होता। किन्तु, नात्सी यह कैसे कर सकते थे ? १६३२के अन्तमें यही भाड़ा-सूद-मुनाफ़ाका घटना ही तो था, जिसके हटानेके लिये जर्मन पूँजीपतियोंने हिटलरको अपना शासक बनाया।

सवाल हो सकता है, क्या जर्मन पूँजीपति जैसे राजकी इच्छासे नियंत्रित व्यवसायमें पूँजी लगा स्वार्थ त्यागका परिचय दे रहे हैं, उसी तरह वह मज़दूरोंकी वेतन-वृद्धिके लिये स्वार्थ-त्याग नहीं कर सकते ? आखिर इससे वह मज़दूरोंकी खरीदनेकी ताक़तको बढ़ाकर अपनी चीज़ोंकी बिक्रीको भी तो बढ़ा सकते हैं ? लेकिन हम जानते हैं,

कोई बनिया अपने रुपयोंसे खरीदार बढ़ाकर चीजोंको बेंचना पसंद नहीं करेगा। हरएक व्यापारी चाहता है, कि खरीदार उसकी चीज़को अपने पैसेसे खरीदे।

(४) *नात्सीवाद समाजवाद नहीं है*—एक ओर पूँजीपर इतना नियंत्रण है, दूसरी ओर क़ीमत निश्चितकर पूँजीपतियोंकी प्रतियोगिता-को नात्सी-शासनने हटा दिया है। इसे देखकर कितने ही लोग भ्रम करने लगते हैं, कि नात्सीवाद पूँजीवाद नहीं, बल्कि एक तरहका समाजवाद है। लेकिन, प्रतियोगिता पूँजीवादके लिये ज़रूरी चीज़ नहीं है। आखिर इजारादारी पूँजीवाद तो इसी प्रतियोगिताको दूर करनेके लिये पैदा हुआ। क़ीमत-नियंत्रणके बारेमें हम यही कह सकते हैं कि वह पुराने ढंगके पूँजीवादमें एक सुधार है, जो कि खुद पूँजीपतियों-के फ़ायदेकी चीज़ है। इस प्रकार वह उनके स्वार्थकी गारंटी करता है, पूँजीवाद—नफ़ेके लिये व्यवसाय—वहीं है, सिर्फ़ प्रतियोगिता-की जगह इजारादारी क़ायम कर दी गई है। आत्म-रक्षाके लिये पूँजीवाद कहाँ तक जा सकता है, उसका यह एक उदाहरण है। नात्सीवाद श्रम और श्रममें प्रतियोगिता नहीं होने देते—एक पूँजीपति दूसरेकी अपेक्षा मज़दूरीको बढ़ा नहीं सकता। एक कारखानेकी दूसरे कारखानेसे प्रतियोगिताको उसने सब कारखानोंको एक बड़े ट्रस्टके रूपमें बाँधकर रद्द कर दी! ट्रस्टके ज़रिये कच्चे-पक्के माल-की क़ीमत निश्चित कर दी जाती है। हमारे यहाँ चीनीके कारखानों-में इस नीतिको अपनाकर चीनी और ऊखकी दर निश्चित करनेकी कोशिश की गई है। स्वतन्त्र प्रतियोगिता पूँजीवाद नहीं है, और न आर्थिक जीवनपर सरकारी नियन्त्रण समाजवाद है। पूँजीवादका असली रूप है, एक छोटे-से वर्गके हाथमें उत्पादनके साधनों—मशीनों, कच्चे-पक्के माल आदि—का होना, जिसमें कि दूसरे बहुसंख्यक व्यक्ति अपने जाँगरको उनके हाथ बेंचनेके लिये मजबूर हों। मजदूरी-

के वेतन और व्यक्तिगत पूँजीपतियोंके कारबारकी प्रतियोगिताको बंद करनेके लिये बहुत दूर तक जाया जा सकता है; किन्तु जब तक उत्पादनके साधन कुछ व्यक्तियोंकी मिल्कियत हैं, तब तक वह पूँजीवाद ही रहेगा। फ़ासिस्त जर्मनीमें यही बात देखी जाती है; इसलिये वहाँ समाजवादका सन्देह भी नहीं होना चाहिये। समाजवाद वहाँ होता है, जहाँ उत्पादनके साधन चन्द व्यक्तियोंके हाथमें नहीं रहते; बल्कि वह सारी जनताकी सामूहिक मिल्कियत होते हैं। सोवियत्-संघमें हम यही बात देखते हैं। १९३९में १.६ करोड़ जर्मन मज़दूरोंको पहिलेसे कम मज़दूरीपर पूँजीपतियोंके कारख़ानोंमें काम करते, क्रुप, थाइसन और उनके भाई-बंदोंकी तोंदोंको और बढ़ते, गोयरिंग, गोयवेल्, हिटलरके करोड़ों मार्कोंको देश-विदेशके बैंकोंमें जमा होते देखते हैं, तो मालूम हो जाता है कि नात्सीवादमें समाजवादका नाम सिर्फ़ जाँगर चलानेवालोंको धोखा देनेके लिये हो सकता है। इस तरह यह भी मालूम होगा कि जर्मन पूँजीपतियोंपर जो नियन्त्रण है, वह वस्तुतः उन्हींके स्वार्थके लिये है।

(vi) युद्धवाद—१९३८-३९में साढ़े इक्कीस अरबकी आयमें २४ अरब मार्क युद्धपर ख़र्च करना ही बतलाता है कि ज़बानी ही नहीं, व्यवहारसे भी नात्सीवाद युद्धके लिये है; फिर विश्व-समाजके लिये वह शान्ति, समृद्धि स्वतंत्रताका वाहक होगा, इसकी तो आशा ही नहीं की जा सकती। और, ३ सितंबर, १९३९के बादसे नात्सी-जर्मनी जो कुछ कर रहा है, उससे अब सन्देहकी गुंजाइश नहीं—हिटलरका विश्व-हितसे कोई संबंध नहीं। आजकल यूरोपमें सैनिकोंका ही नहीं, साधारण नागरिक जनताका क़त्ले-आम हो रहा है—हम इस बातमें फिर बर्बर और जाँगल-युगमें पहुँच गये हैं। चन्द महीनोंके अन्दर तीन लाख सर्वियन स्त्री-बच्चों तकका क़त्ल हमें क्या बतला रहा है? रूसी युद्ध-क्षेत्रमें युद्ध-बंदियोंका नाक-हाथ काटना क्या बतला रहा है? हिटलर

सिर्फ़ जर्मन जातिको स्वतंत्र करनेकी बात कर रहा था, यद्यपि जर्मनों-को सारी मनुष्य-जातिका भगवान्की ओरसे भेजे गये शासक होनेका दावा उस वक़्त भी वैसा ही था। आज नात्सीवाद सिर्फ़ जर्मन-जातिकी स्वतंत्रतासे सन्तुष्ट नहीं है। आज सिर्फ़ यूरोपके ग़ुलाम बनानेसे उसका पेट नहीं भर रहा है। आज वह सारे संसारको विजय करने चला है, और नात्सी-बंदूकोंके बलपर उसे अपना ग़ुलाम बनाये रखना चाहता है। विजयके बाद उसके शासित ग़ुलाम, शासकोंके लिये फ़ैक्टरियों और खेतोंमें काम करेंगे, और पुराने यूनानियों और रोमनोंकी भाँति स्वामी जर्मनोंका काम होगा बन्दूक लेकर इन ग़ुलामोंको विद्रोहसे रोकना।

मनुष्यता पिछले पाँच लाख वर्षोंमें कहाँसे कहाँ गई? उसका रास्ता सीधा नहीं था। जातियोंका उत्थान-पतन हमने देखा है; आगे बढ़ना और पीछे हटना भी हुआ है; लेकिन, मानव-जातिका हटना-बढ़ना पेंडुलमकी भाँति एक ही स्थानपर नहीं होता रहा है। ज्ञान और तजर्बे मनुष्यको हमेशा आगेकी ओर धक्का देते रहे हैं। यह ज्ञान और तजर्बे कोई भाग्य या भवितव्य होकर ऐसा नहीं करते रहे हैं; बल्कि मनुष्य स्वेच्छा-पूर्वक भूलें कर-करके उन्हें अपनाता रहा है। अब भी मनुष्य उसी तरह ज्ञान और अनुभवका पक्षपाती है; इसलिये उसका पीछेकी ओर हटना देर तक और दूर तक नहीं हो सकता।

७. धर्म और सदाचार

सामन्तवादने धर्म और सदाचारको अपनी सहायताके लिये जिस प्रकार दृढ़ किया था, उससे पूँजीवादने आरम्भमें कुछ छेड़खानी ज़रूर की; मगर जब धर्मने उदीयमान सूर्यको नमस्कारकी नीति स्वीकार की, तो पूँजीवाद और धर्म दूध-चीनी बन गये।

(१) *धर्म*—सामन्तवादी युगमें धार्मिक कला—वस्तु, चित्र या मूर्तिका बहुत उत्थान हुआ। आज भी उस युगके विशाल मंदिर,

गिर्जे, भव्य पर्वत-गुहायें (एल्लोरा, अजन्ता-जैसी) मौजूद हैं। सदियों तक दास, कम्मी कलाके इन नमूनोंको किसी राजा-रानी या सर्दारके नामपर बनाते रहे, और धर्म-पुरोहित उनके द्वारा सामन्त-समाजके यश, 'सतयुग'की महिमाको फैलाते रहे। आज यदि इन उच्च कलाके नमूनोंके बनानेवाले असली हाथोंका पता लगावें, तो उसका पता नहीं मिलेगा ; उनके पेटके लिये भोजन और तन ढाँकनेके लिये जो चीथड़े दिये गये, वही उनके लिये काफ़ी समझे गये थे।

पूँजीवादी युगके आरम्भमें पूँजीपति ख़ुद अपनेको सामन्तों द्वारा सताये या दबाये हुए समझते थे। वह जब कमकर जनताको अपनी तरफ़ मिला समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृताका नारा-बुलंद कर रहे थे, तो उन्होंने देखा कि धर्म और धर्म-पुरोहित—जो कि उस वक़्तके शासक-सामन्तवर्गके उच्छिष्टभोजी थे—उनका साथ देनेके लिये तैयार नहीं हैं। इसका प्रभाव हम उस वक़्तके पाश्चात्य दर्शनपर पाते हैं। लेकिन जितना ही सामन्तवादका ज़ोर कम होता गया, उतना ही धर्म-पुरोहितोंका ख्याल उदीयमान शासकवर्गके पक्षमें होने लगा। जबसे वर्गयुक्त-समाज आरम्भ हुआ, तभीसे नये शासकवर्गके आगमनके साथ धर्ममें परिवर्त्तन करना पड़ा—वह परिवर्त्तन चाहे सुधार-के द्वारा हुआ हो या नये स्वीकार द्वारा। यही वजह है, कि सभ्यताओं-के अनुशीलनमें उनकी क़ब्रोंके साथ धर्मोंकी क़ब्रें भी पाई जाती हैं। दुनियाके और भागोंमें नये-नये धर्मों—ईसाई, इस्लाम —को पुराने धर्मों-की जगह लेते देखते हैं ; किन्तु भारतमें हम नये सुधार, नई व्याख्या द्वारा पुराने धर्मको गुणमें नहीं, तो रूपमें ज़रूर परिवर्तित होते देखते हैं। धर्मोंमें सफलता उन्होंने पाई, जिन्होंने कि सामाजिक समस्याओं-के हल करनेमें सहायता पहुँचाई। ईसाई धर्म क्यों क्षुद्र-एशियासे यूरोपमें फैलनेमें सफल हुआ ? इसलिये कि उसने यूरोपमें पीड़ित, अपमानित तथा बहु-संख्यक दास एवं कम्मी जनताका पक्ष लिया ;

विलासी निकम्मे धनियोंके अत्याचारको चुपचाप सहनेकी जगह उसका मुक़ाबिला करते हुए क़ुर्बान होनेका पाठ पढ़ाया। रोम और यूनानमें सफलता प्राप्त करनेके बाद उसने यूरोपकी दूसरी जातियोंके कबीले-वाले संगठनकी जगह जातीय-संगठनमें सहायता पहुँचाई। आरम्भमें जिन यूरोपीय सर्दारोंने ईसाई धर्मको स्वीकार किया, उनकी अवस्थापर विचार करनेपर मालूम होगा, कि उसके पीछे सिर्फ धर्म और परलोक-का आकर्षण नहीं, बल्कि शक्ति और राज्य-विस्तारकी आकांक्षा भी वहाँ काम कर रही थी। इस्लामके प्रसारसे भी निकम्मे अयोग्य शासक-वर्गको हटा साधारण जनतासे नेताओंको निकलकर, आगे बढ़ने-का मौक़ा पाते देखते हैं। बिना आर्थिक लाभके निश्चय ही इन धर्मों-को वह सफलता न होती, जो कि इतिहासमें दीख पड़ती है।

पूँजीवादी कालमें जब हम और आगे बढ़ते हैं, और पूँजीपति-वर्ग-को अपने शासनकी नींव दृढ़ कर पाये देखते हैं, तो साथ ही हम यह भी देखते हैं कि सामन्तवर्गकी भाँति पूँजीपति भी धर्मका भारी पक्षपात रखता है। जो सुधारक धार्मिक-सम्प्रदाय किसी समय क्रान्तिकारी समझे गये थे, और राज्यके कोपके भाजन हुए थे, वही अब हर तरहके परिवर्त्तनके विरोधी देखे जाते हैं। ख़ुद पूँजीवाद जब सामन्तवादके पेटसे निकला था, तो एक क्रान्तिकारी विचारधारा लेकर आया था —वह धारा विचारोंके टक्कर तक ही सीमित नहीं रही; बल्कि क्रामवेल-के समय उसे लोहेसे लोहा टकराते देखते हैं। उन्नीसवीं सदीके उत्तरार्द्धमें पूँजीवाद शासनके लिये जद्दोजहद करनेवाला गुट्ट नहीं, बल्कि अधिकारारूढ़ वर्ग था। इसलिये इस वक्त यूरोपमें हमें एक ज़बर्दस्त धार्मिक पुनर्जागरण दिखाई पड़ता है। लाखों करोड़ों रुपये लगाकर धर्म-प्रचारक भेजे जाते हैं और पृथ्वीके कोने-कोनेमें मिशनरियोंका जाल बिछ जाता है। कितने ही स्त्री-पुरुष इसके लिये उसी तरह जीवन अर्पण करते हैं, जिस तरह कभी सामन्तवादी युगकी धर्मकी बाढ़में।

बीसवीं सदीमें जितना ही आगे बढ़ते गये, हमने देखा, कि जहाँ साधारण जनता अधिकसे अधिक धर्मसे उदास होती गई, वहाँ शासक धनिकवर्ग इस अ-धार्मिकतासे ज्यादा भयभीत होता गया। कोई समय था जब कि धनिकवर्ग भोग-विलासके पीछे धर्मकी पर्वाह नहीं करता था, और यद्यपि भीतरसे अब भी वही बात बहुत ज्यादा देखी जाती है; मगर बाहरसे अब बात उल्टी है—जितने ही परिमाणमें साधारण जनतासे गिर्जे सूने होते जा रहे हैं, उतने ही परिमाणमें धनिकवर्गकी नीयत उन्हें आबाद करनेकी दीख पड़ती है।

भारतमें पूँजीवादके समुद्रमें काफ़ी 'सामन्तवादी द्वीप' हैं, यह हम कह चुके हैं; और इसीलिये यहाँ सामन्तवादी और पूँजीवादी दोनों प्रकारकी धार्मिक मनोवृत्ति देखी जाती है। सामन्तवादी खयाल यूरोपके मध्यकालीन धार्मिक युद्धोंको जारी रखना चाहते हैं, जिसका परिणाम हम आये दिनके हिन्दू-मुस्लिम दंगोंको देखते हैं। एशियाई समाजकी प्रगतिपर अभी हम कहनेवाले हैं, वहाँ बतलायेंगे कि क्यों एशियाके बहुतसे हिस्सेमें समाजकी प्रगति रुकी रही।

(२) *सदाचार*—पूँजीवादका सदाचार वर्ग-हितकी रक्षा है। उसने 'सदाचार'के उन सभी नियमोंको क़ायम रखा है, जो कि सामन्तवादकी भाँति उसके भी हितके विरुद्ध नहीं जाते। चोरी, हत्या, झूठ, व्यभिचारकी गिनती पूँजीवाद भी दुराचारोंमें करता है, मगर साथ ही उसने जो अपनी व्याख्या की, वह सामन्तवादी शोषकोंकी व्याख्यासे बहुत अन्तर नहीं रखती; हाँ, इन दुराचारोंके दंड उसने नर्म ज़रूर कर दिये हैं। सामन्तवादी युगमें व्यभिचारिणीको जानसे मारनेका पतिको अधिकार था—चाहे यह अधिकार समाजकी ओरसे मिला था या उसके सामन्त शासकवर्गकी ओरसे। लेकिन पूँजीवादको अपनेको ज्यादा संस्कृत, ज्यादा नर्म-दिल साबित करना था; इसलिये उसने इसे विवाहितके लिये प्रतिज्ञा-भंगके दोष-समान मान लिया;

और इस दोषके लिये उसने तिलाक़का दंड मंजूर किया। पूँजीवादी शासन वस्तुतः व्यभिचारको दंडनीय अपराध मानता ही नहीं ; हाँ बलात्कार हो तो उसके लिये फ़ौजदारीके दूसरे अपराधोंकी भाँति दंडनीय समझता है। पुरुषके लिये इस विषयमें और सुभीता है, क्योंकि तिलाकका प्रभाव जहाँ स्त्रीको आर्थिक तौरपर आश्रयहीन बनाना है, वहाँ उसके पास अपनी सम्पत्ति है, ज्यादा हुआ तो अदालत निरपराध पत्नीको कुछ भरण-पोषणके लिये दिलवा सकती है। खुली और प्रकट वेश्या-वृत्तिसे पूँजीवादका कोई विरोध नहीं।

झूठ बोलनेमें पकड़ा जाना बुरा समझा जाता है, नहीं तो पूँजीवाद दुहरी नीति, दुहरे जीवन, झूठके लिये बहुत उपजाऊ क्षेत्र है। शायद मानव-जातिने अपने सारे इतिहासमें इतना झूठ नहीं बोला होगा, जितना कि पूँजीवादके एक सदीके शासनमें। इसके क़ानून-कचहरियाँ झूठकी टकसालें हैं, इसके वाणिज्य-व्यवसाय, धोखेबाज़ी, जालसाज़ीके महास्रोत हैं।

और हत्या? इसके लिये इतना ही कहना काफ़ी है, कि पिछले और वर्त्तमान साम्राज्यवादी युद्धोंमें जितना नर-संहार हुआ है, उसका उदाहरण इतिहासमें नहीं मिल सकता।

८. स्त्रीका स्थान

(१) *अपमान*—एक अमेरिकन लेखिकाने स्त्रियोंको पूँजीवादी समाजमें कैसी हीन स्थिति है, इसे दिखलानेके लिये उन नामोंकी एक संक्षिप्त-सी सूची दी है, जिनसे पुरुष समय-समयपर स्त्रीको याद करते हैं। अँग्रेज़ीमें वह नाम हैं—

---

* 'In Womans' Defence" (By Mary Inman, Los Angles, California, 1940) P 25.

Baggage (असासा)
Ball and Chain (गेंद और जंज़ीर)
Bat, old (बुढ़िया चमगादड़)
Battle-axe (फरसा)
Better half (बेहतर आधा तनज़न्)
Bass (मालिक, तनज़न्)
Cat (बिल्ली)
Chicken (चूज़ा)
Cow (गाय)
Crone (सड़ा मांस)
Cutie (चालाक, ऐय्यार)
Dame, a (एक औरत)
Dizzie, a (चकरानेवाली)
Dumb-bell (डम्बल)
Dumb-Dora (मूर्ख डोरा)
Dumb-kluck (मूर्ख मुर्गी)
Filly (चोटी-फ़ीता)
Flapper (दिखलावावाली)
Flirt (प्रेमकी मतवाली)
Frail (अबला)
Frump (दकियानूसी बुढ़िया)
Fury (कोप)
Gabbler (बकवादिनी)
Gad-about (आवारा)
Gold-digger (सोना खोदने वाली)
Gossip (गौगा)
Grass-widow (घास-विधवा)
Hag (चुड़ैल)
Harpy (राक्षसी)
Hay-bag (पुआलका थैला)
Heifer (कलोर, बिनब्याई गाय)
Hell-Cat (नारकीय बिल्ली)
Hen (मुर्गी)
Hussy (व्यर्थ की, हल्की)
Jane (जेन)
Mare (घोड़ी)
Meddler (अनुचित दखल देनेवाली)
Moll (नरम)
Nagger (चिढ़ानेवाली)
Old Maid (बुढ़िया)
Pain (पीड़ा)
Pony (टट्टू)
Rib (पसली)
She-devil (शैतानिन्)
Shrew (शब्दानुकरण)
Skirt (घँघरी)
Slattern (फज़ूल खर्च)
Slut ,, ,,

Snip (शिकरा)
Sod-widow (पुरानी खिड़की)
Sorceress (डाइन)
Sow (सूअरी)
Squaw (ज़नानी)
Storm and Strife (आँधी-संघर्ष)
Tattler (बातूनी बोलतू मशीन)
Tomato (टोमाटो)
Toots (सिंगा की आवाज़, धोंतू)
Twist and Twirl (बटना-फिरकाना)
Vamp (Vampir, blood sucker) (शोषिका)
Vixen (गीदड़ी)
Weaker Sex (अबला)
Wench (विनोद-प्रिय तरुणी)
Witch (कुतिया)

पूँजीवादके शिरोमणि देशमें—जहाँपर स्त्रियोंकी स्वतन्त्रताका बड़ा शोर है—जब यह हालत है, तो आधे-पूँजीवादी आधे सामन्तवादी पिछड़े हुए भारतके लिये क्या कहना है! यहाँके नामोंकी तो गिनती नहीं है, और अभी भी पुरुषोंकी ज़बानपर तुलसीके वचन नाच रहे हैं—

"ढोल गँवार शूद्र पशु नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी॥"
"नारि-स्वभाव सत्य कवि कहहीं।
औगुन आठ सदा उर रहहीं॥"
"नारि नरक की खानि।"

(२) *आर्थिक-परतन्त्रता*—उक्त लेखिका—मेरी इनमैन—ने अमेरिकाकी स्त्रियोंके बारेमें लिखा है *—

"१९३०की जनगणनाके अनुसार अमेरिकाके ४,८८,२०,००० पुरुषोंमें ३,८०,७०,००० कोई कमानेवाला काम करते थे।... २,७३,२०,०००के पास कोई सीधा काम न था।.... एक करोड़ औरतें कामपर थीं....।

*वहीं पृष्ठ ३६

"युक्तराष्ट्रकी दो करोड़ तीस लाख विवाहिता औरतें कोई कमाई नहीं करतीं, न उनके पास आमदनीका कोई अपना ज़रिया है। वह सिर्फ़ उसी आमदनीपर निर्भर करती हैं, जो कि उनके पति हाथ उठाकर दे देते हैं।

अमेरिकाकी औरतोंका छठवाँ भाग तो कुछ कमा भी लेता है, किन्तु हमारे यहाँ ऊपरी और मध्यमवर्गमें कमानेवाली स्त्रियाँ बहुत ही कम मिलेंगी। निचले किसान-कमकर वर्गमें वह काम ज़रूर करती हैं, किन्तु उस कामकी स्वतंत्र गिनती नहीं की जाती है। दायभाग या विरासत मुसल्मानोंके ऊँचे तबकेमें थोड़ा है, किन्तु रसमके तौर-पर; क्योंकि पर्देके भीतर मर रही बीबियाँ अपनी सम्पत्तिका क्या इस्तेमाल या इन्तिज़ाम कर सकती हैं? हिन्दुओंमें दायभागका उन्हें कोई अधिकार नहीं।

अपने परिवारके मर्दोंके ऊपर औरतोंका इतना निर्भर रहना ही उनकी परतंत्रताका कारण है। जिसके हाथमें सम्पत्ति है, जिसके हाथ-से देनेपर औरत खाना, कपड़ा या शृङ्गारकी चीज़ पाती है, उसके ख़िलाफ़ अपने अधिकारका युद्ध स्त्री कैसे लड़ सकती है?

हम बतला चुके हैं, कैसे एक समय था, जब समाजमें स्त्रीकी प्रधानता थी, और कैसे उत्पादन-श्रममें प्रधान भाग लेकर पुरुषने स्त्रीकी प्रधानताको हटा अपनी प्रधानता स्थापित की। लेविस मोर्गनने अपनी पुस्तक 'प्राचीन समाज'* (१८७७ ई०)में स्त्री-सत्ताके वैज्ञानिक प्रमाण पेश किये थे। किन्तु अतीतका अधिकार वर्तमान या भविष्यके अधिकारकी गारंटी नहीं है। पितृसत्ता-युगसे स्त्रीके अधिकारों-पर प्रहार ज़रूर होने लगा था, किन्तु अभी स्त्री उतनी अबला नहीं थी। यह सामन्तवादी युग ही था, जब कि स्त्रीकी परतंत्रताका सर्कारि

---

*Ancient Society.

पट्टा लिखा गया। सामन्तवादको हटाकर जब पूँजीवादने शासनकी बागडोर अपने हाथमें ली, तो नये शासक-वर्गने भी स्त्रियोंकी उस स्थितिको क़ायम रखना चाहा। उसने यदि कुछ किया तो यही, कि मध्यकालीन ईसाई पादरियोंकी भाँति उन्हें बिना आत्माका जीवित यंत्र नहीं माना। आज यदि कितने ही मुल्कोंमें स्त्रियोंको वोट देनेका अधिकार मिला है, जीवनके कुछ और रास्ते उनके लिये खुले हैं, तो यह उनकी अपनी जद्दोज़हदका फल है। लेकिन, इतनी जद्दोज़हदसे प्राप्त किये स्त्रियोंके अधिकारको भी किस तरह पूँजीवादका अधिनायकत्व—फ़ासिस्तवाद—पलक मारते-मारते छीन लेता है, जर्मनी इसका अच्छा उदाहरण है। वहाँके नात्सियोंने वेकार मर्दोंको काम देनेके लिये लाखों औरतोंसे काम छीना। उन्होंने औरतोंकी ख़ाली जगहपर उतने ही, और कहीं-कहीं उससे भी कम वेतनपर काम करनेके लिये मर्दोंको मजबूर किया। उस वक़्त कहा जाता था कि स्त्री घरकी रानी है, उसका काम घरके भीतर चौका-चूल्हा और बच्चे पालना है। लेकिन, जब वर्त्तमान युद्धमें तोपोंके चारेके लिये मर्दोंकी माँग बढ़ी, तो औरतोंको फिर कारखानों, दफ्तरोंमें भेजा गया—और मज़दूरी और भी कम करके। पिछले साल उससे तीन सैकड़ा अधिक औरतें इन कामोंपर थीं, जितनी कि बाहर काम करनेका अधिकार रखते वक़्त कभी पहले थीं।

(३) *परतन्त्रताके कारण*—(क) **प्रतिकूल वर्गभेद**—स्त्रीकी परतन्त्रता सारे पुरुषवर्गकी दी हुई नहीं है, इसका मुख्य ज़िम्मेवार कामचोर वर्गका शासन और वैयक्तिक सम्पत्ति है। शासक-वर्गने कैसे धीरे-धीरे गिराते हुए स्त्रियोंको वर्त्तमान अवस्थामें पहुँचाया, इसे दुहरानेकी ज़रूरत नहीं। सोवियत्-संघ—जहाँसे कामचोर वर्गका शासन उठ गया है—की स्त्रियाँ दुनियाकी सबसे स्वतन्त्र स्त्रियाँ हैं। वहाँ स्त्रियाँ उत्पादक-श्रममें बराबरका भाग लेती हैं। अपने किसी खर्चके लिये

उन्हें मर्दोंके सामने हाथ नहीं पसारना पड़ता। सारी स्वतन्त्रताओंकी जननी आर्थिक स्वतन्त्रता वहाँ उनको प्राप्त है।

स्त्रियोंकी परतन्त्रता, उनका निम्न वर्गमें परिणत होना सिर्फ़ ऐतिहासिक घटना ही नहीं है। उन्हें इस हालतमें रखनेके लिये आज भी बहुत ध्यानपूर्वक उनकी ऐसी शिक्षा-दीक्षाका बड़ी सूक्ष्मता-के साथ प्रबन्ध है, जिससे कि वह ऊपर उठनेमें असमर्थ हैं। स्त्रीत्व-निर्माणका एक बाक़ायदा इन्तिज़ाम है। बच्चा पैदा होते ही एक मिनट-के भीतर-भीतर सबसे पहिली बात जो जाननेकी कोशिश की जाती है, वह है उसके लड़का या लड़की होने की। और लड़की मालूम होते ही परिवारमें कुहराम-सा मच जाता है। हिन्दुओंमें तो लड़की होनेमें जन्म-उत्सवका गाना—सोहर—नहीं गाया जाता। मेरे एक दोस्तके भाईको फिर दुबारा लड़की पैदा हुई, तो उनकी चाचीने तार भेजा—"चिन्ता नहीं ; दूसरी बार क़िस्मत पलटा खायगी।"

(ख) **प्रतिकूल-शिक्षा**—जन्मके बाद जहाँ मालूम हुआ कि लड़की है, फिर क्या ? वहाँ दो दुनियायें और उनके दो तरहके क़ायदे-क़ानून पहिलेसे ही तैयार रखे हुए हैं—एक मर्द बच्चेके लिये, एक औरत बच्चीके लिये। कितनी सावधानी, कितनी फ़ुर्ती है, पैदा होनेके बाद एक मिनट भी बेकार नहीं जाने दिया जाता, और बच्चीको स्त्री बनाने, बच्चेको पुरुष बनानेका काम शुरू हो जाता है।

छोटेपनसे ही लड़केको आत्मविश्वासी और स्वतन्त्र रहनेकी शिक्षा दी जाती है, लड़कीको पराधीनता और सजग रहनेकी तालीम मिलती है। लड़केको बतलाया जाता है कि तुम अपने इरादेको पूरा कर सकते हो। बच्चीको कहा जाता है कि अपने इरादेको पूरा करनेके लिये तुम्हें एक दूसरे व्यक्ति (मर्द)की आवश्यकता है, उसके द्वारा ही तुम अपने मनसूबेमें सफल हो सकती हो। लड़केके लिये ऐसे खिलौने मिलते हैं, जिससे वह अपनी बुद्धिको विकसित कर सके। वह

काठघोड़ोंसे खेलता है, उसे घर और क़िले बनानेके लिये काठके टुकड़े मिलते हैं। लेकिन, लड़कीको मिलती है गुड़िया ब्याह रचानेके लिये; तवा-कड़ाही, चक्की-चूल्हा, जिससे कि वह अपने भविष्यके स्थान-को समझे और अभीसे उसके लिये तैयारी करे। लड़का होश सँभालते ही सबसे पहिले समझता है कि वह मर्द है। छोटे-से बच्चेको भी यदि गुड़िया दीजिये, तो वह फेंक देगा—"मैं क्या बिटिया हूँ" कहेगा। खेलों-में साफ़ बँटवारा है। खानेमें लड़कीसे लड़केका ज़्यादा ख्याल किया जाता है। माँ-बाप लड़कीकी पर्वरिश करते वक़्त बराबर ख्याल रखते हैं कि वह पराई थाती है।

लड़का कुछ और सयाना होते ही साहसके खेल—कबड्डी, हापड़ (देहाती हाकी), कूद-फाँद—खेलता है। उसी वक़्तसे वह अपनी बहनोंपर हुकूमत जताना सीखता है, जिसे पीछे वह अपनी स्त्रीपर इस्तेमाल करता है। लड़कीको क़दम-क़दमपर आज्ञापालन और तावे-दारी सीखनी पड़ती है। किसी साहसके खेलमें उसे भाग नहीं लेने दिया जाता। वह बाज़ारके लिये तैयार किया गया कुम्हारका बर्त्तन है, यदि ज़रा भी कहीं चीरा लग गया तो उससे कौन शादी करेगा, फिर वह कैसे अपनी ज़िन्दगी काट सकेगी।

और पढ़ना-लिखना तो स्त्रीके लिये भारतमें अब भी वर्जित समझा जाता है। दूसरे देशोंमें भी जहाँ स्त्री-शिक्षा अधिक है, स्त्रीके लिये वहाँ भी साधारण शिक्षा पर्याप्त समझी जाती है। और फ़ासिस्त देशोंमें तो स्त्रियोंके पढ़नेके विषय भी अलग हैं। जापानमें उनकी शिक्षाका अधिक समय चाय परोसना, सीना-पिरोना, घर-फूल सजाना आदिमें लगता है। भारतमें तो आज भी लड़कियोंके ऐसे विद्यालय नहीं, महाविद्यालय हैं, जिनमें स्त्रीको स्त्री—पत्नी, माँ—बनानेकी शिक्षापर सबसे अधिक ज़ोर दिया जाता है।

स्त्रीकी शिक्षाको फ़जूलकी चीज़ समझी जाती है, और यदि अशिक्षित कन्याको शिक्षित और धनाढ्य पति न मिलनेका भय न होता, तो जो थोड़ी-बहुत शिक्षा आज भारतकी स्त्रियोंमें देखी जाती है, वह भी न रहती।

आख़िर आज स्त्रियाँ जिस स्थितिमें हैं, उसका कारण उनके दिमाग़-की बनावट, उनका लिंग नहीं है। सारे दिमाग़ स्त्रीके ख़ूनसे ही बनकर निकलते हैं। क्युरी माँ-बेटियोंने विज्ञानके नोबेल पुरस्कारोंको लेकर दिखला दिया, कि दिमाग़ सिर्फ़ मर्दकी बपौती नहीं है। असल कारण तो है स्त्रीकी आर्थिक मज़बूरी, और बचपनसे ही दी गई स्त्रैण-शिक्षा। स्त्रीके दिलपर बचपनसे ही नक़्श कराया जाता है, कि पुरुष-की स्त्री बनना—यौन-संबंध—ही उसके लिये एकमात्र जीविकाका रास्ता है।

(ग) **प्रतिकूल सदाचार-नियम**—यौन-संबंधपर ज़ोर और आर्थिक मज़बूरियोंने ही पुरुष-शासनके क़ायम होते ही स्त्रियोंको शरीर बेंचनेके लिये मजबूर किया, यह हम बतला चुके हैं। बीसवीं सदी स्वतंत्रताकी सदी घोषित की जाती है, किन्तु आज यह शरीर बेंचना पूँजीवादी सभ्यता-का एक ज़बर्दस्त अंग है। वेश्यावृत्ति स्त्रीकी आर्थिक मजबूरियोंका ही परिणाम है, यह सोवियतके तजर्बे से मालूम हो गया है। हज़ारों वर्षोंसे लाखों सन्त-महात्मा व्यभिचार और वेश्यावृत्तिके ख़िलाफ़ गले फाड़-फाड़कर लेक्चर देते ही रह गये, किन्तु वेश्याओंकी संख्या घटने-की जगह बढ़ती ही गई। पूँजीवादी क़ानून-निर्माता क़ानून-द्वारा उसके रोकनेके लिये कोशिश करते ही रह गये, लेकिन वेश्यावृत्ति नये-नये रूप लेकर आज भी फूल-फल रही है।

(घ) **वेश्यावृत्ति क्यों ?**—अमेरिका जैसे पूँजीवादके शिरोमणि देशमें वेश्यावृत्तिके व्यापारको पूँजीपतियोंने अपने हाथमें लिया है। सामाजिक स्वास्थ्य-ब्यूरो—जिसका चेयरमैन रॉकफेलर था—

ने अमेरिकामें वेश्यावृत्तिकी जाँच कराई थी। जाँच करनेवालोंने ऐसे १५६१ स्थानोंकी जाँच करके १६१५में अपनी रिपोर्ट छापी थी। रिपोर्टके पहिले भागमें 'न्यूयार्क नगरमें व्यापारिक वेश्यावृत्ति'पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि वेडफोर्ड-हिलकी राजकीय सुधारशाला-की ६२१ लड़कियोंमें चंदको छोड़ सारी ही आर्थिक कारणोंसे वेश्या-वृत्तिमें फँसी थीं, मगर कमीटीने इसे छिपानेकी पूरी कोशिश की। आखिर पूँजीपतियोंके पैसेसे खड़ीकी गई कमेटी पूँजीवादके खिलाफ़ प्रचार करनेके लिये तो नियुक्त नहीं की गई थी। रिपोर्टमें ६२१ लड़कियोंमें सिर्फ़ २६को 'आर्थिक कारण'के मदमें रखा गया, और 'व्यक्तिगत कारण'में २६१को दर्ज किया गया, इससे यह दिखलानेकी कोशिश की गई कि वह स्वभावतः बिगड़े चाल-चलनकी लड़कियाँ थीं यद्यपि जब हम 'व्यक्तिगत कारण'के भीतर घुसते हैं, तो उसमें पाते हैं—'बीमारी', 'पैसेका अभाव', 'पैसा सुलभ', 'पैसेकी ज़रूरत' और कितने ही और सिर्फ़ आर्थिक कारण।

रिपोर्टके पहिले भागमें 'शेयर-बाज़ार'का वर्णन किया गया है, जहाँ कि बाक़ायदा वेश्या-व्यापारके शेयर ख़रीदे और बेंचे जाते हैं। रिपोर्टमें उन स्थानोंका भी ज़िक्र है, जहाँ कारोबार होता है, फ़ीस तय की जाती है, और रंगरूटनियाँ भर्ती होती हैं। व्यवसायियोंमें आपसकी कितनी प्रतियोगिता है, और उसके लिये न्याय-विभागको किस तरह फँसाया जाता है, इसकी तरफ़ भी उसमें काफ़ी इशारा है।

डाक्टर बेन राइटमैनने अपनी पुस्तक 'द्वितीय पुरातनतम व्यवसाय' (१६२६)में अमेरिकामें पूँजीवादी ढंगपर चलाये जाते वेश्या-व्यवसायका वर्णन किया है, और बतलाया है कि इसके पूँजीपति भी दूसरे पूँजीपतियोंकी भाँति अपनी कमकरनियोंपर ज़ोर देते हैं कि वह ठीक वक्तपर 'काम'में लगें और 'काम'को अच्छे ढंगसे करें। वेतन और ज्यादा नफ़ा होनेपर बोनसका तरीक़ा भी उन्होंने स्वीकार

किया है। वेश्या-व्यापार पूँजीपतिके लिये बड़े नफ़ेकी चीज़ है। उसके नफ़ेके बारेमें कुमारी इनमैनका कहना है कि वह फ़ौलाद, तेल, कोयला, मोटर-निर्माणसे भी ज्यादा है। उसका प्रबंध दूसरे बड़े औद्योगिक व्यवसाय जैसा होता है। दूसरे उद्योगोंकी तरह इसे सिर्फ़ पूँजीपति-के फ़ायदेके लिये चलाया जाता है और पूँजीवादके दूसरे व्यवसायों-की भाँति इसमें परिवर्तन, इजारादारी, शाखाओंका जाल आदि देखा जाता है। पच्चीस वर्ष पहिले यह व्यवसाय और उसका संचालन अमेरिकामें बहुत कुछ खुला-सा था; मगर इस बीचमें वेश्यावृत्तिपर जो बीसियों किताबें निकलीं और हो-हल्ला मचा, उससे व्यवसायी ज्यादा होशियार हो गये हैं, और वह होटल, रेस्तोराँ, क्लब, नाचघर, संगीत घर आदिके पर्देमें छिपकर होता है। इतना होते भी आज वह ज्यादा विस्तृत और संगठित रूपमें पाया जाता है।

इंगलैंड, अमेरिका, सीलोन-जैसे देशोंमें, जहाँ क़ानून खुली वेश्या-वृत्तिकी इजाज़त नहीं देता, वहाँ भी ये व्यवसाय धड़ल्लेके साथ चलते हैं, यह अमेरिकाके उदाहरणसे मालूम हो गया। जापानके पूँजीपति भी इस व्यवसायमें अमेरिकासे पीछे नहीं हैं। सामन्तवादी युगसे चली आती गैशा (गानेवाली)-प्रथाको अब पूँजीपतियोंने सँभाला है, और वह उससे खासा फ़ायदा उठाते हैं।

पूँजीवादी शोषणके लिये यंत्र बनी वेश्याओंकी बड़ी दयनीय दशा है। जिस वक़्त वह पेशेमें प्रवेश करती हैं, उस वक़्त भी वह पैसे-की मुहताज रहती हैं, और जब वह उसे छोड़नेपर मजबूर होती हैं, तो पैसेकी मुहताज ही नहीं, भयानक बीमारियोंकी शिकार बनकर आयु और स्वास्थ्य दोनोंको खोकर निकलती हैं।

रंगरूट भर्तीके तरीक़े आसान हैं। ज्यादातर नर्स, अध्यापिका, गृह-सेविका आदिके कामके लिये अख़बारोंमें विज्ञापन देकर उन्हें बुलाया जाता है। पसन्द हो जानेपर लड़कीका मन लेनेके लिये

तरह-तरहके प्रश्न किये जाते हैं—"उम्र क्या है ?" "घरपर रहती हो ?" "कितने और किस तरहके नज़दीकी संबंधियोंके साथ रहती हो ?" "संबंधियोंकी उम्र आर्थिक अवस्था...क्या है ?" दूसरा तरीका है कुछ धोखेकी टट्टी-सी एजेंसियों द्वारा भरती करना। यह एजेंसियाँ काम दिलानेवाली कही जाती हैं। वह हर उम्मीदवारकी शकल-सूरत और उम्रको देखकर उसकी आर्थिक तथा दूसरी कठिनाइयोंकी फिहरिस्त बनाकर रखती हैं। उन्हें यह जाननेमें दिक्क़त नहीं होती कि कौन लड़की उनके मतलबकी होगी, और उसीको चुनकर 'व्यवसाय'में भेज देती हैं।

वेश्यावृत्तिकी जड़ भूख है, इसमें सन्देहकी गुंजाइश नहीं। इसी भूखसे बचनेके लिये पुराने समाजमें स्त्रीको अपना शरीर बेंचना पड़ता था, और उसीके लिये पूँजीवादी समाज आज उसकी खरीद-फ़रोख्त कर रहा है। जब तक पूँजीवाद है, यह क्रय-विक्रय बंद नहीं हो सकता।

वेश्यावृत्तिको मानव-समाजके साथ उत्पन्न पुरातनतम पेशा कहा जाता है, और बतलाया जाता है कि इसका आरम्भ मेहमानोंकी ख़ातिरदारीसे शुरू हुआ था। इसके कहनेका अभिप्राय यही हो सकता है, कि प्राचीनतम पेशा होनेसे यह भगवान्‌की तरफ़से उतारा है। अतिथियोंकी सेवाके लिये आरम्भ होनेसे इसके पीछे कोई नीच भाव काम नहीं कर रहा था, लेकिन यह बात ग़लत है। हम जानते हैं कि वर्ग-रहित प्रारम्भिक साम्यवादी समाजमें वेश्यावृत्ति न थी। जन-समाज भी इससे परिचित न था। वेश्यावृत्ति शुरू तब होती है, जब कि एक वर्गके हितके लिये शासन प्रारम्भ होता है। इसलिये, यह कहना बिल्कुल ग़लत है कि यह मानव-समाजके साथ उत्पन्न हुआ। और ख़ातिरदारी—पैसेके लिये शरीर बेंचनेका नाम ख़ातिरदारी !!

अष्टम अध्याय

भारतीय समाज

ऊपर समाजकी प्रगतिका वर्णन करते हुए हमने भारतके भी सामाजिक परिवर्त्तनका ज़िक्र किया, साथ ही यह भी बतलाया कि भारतमें सामाजिक प्रगति धीमी रही। इस धीमी चालकी वजहका कुछ वर्णन हो चुका है, तो भी यहाँ इस सारी सामाजिक प्रगतिके बारेमें और कुछ कह देना ज़रूरी है; खासकर इसलिये ऐसा करनेकी ज़रूरत है, क्योंकि इसी पिछड़ेपनके दोषको गुण बनाकर कितने ही पूँजीवादके गुप्त या प्रकट सेवक यह साबित करना चाहते हैं, कि भारतके सामाजिक परिवर्त्तनके सिद्धान्त ही दूसरे हैं—'तीन लोकसे मथुरा न्यारी है।"

१. सामाजिक गति-शून्यता

आर्य, यवन, शक, गुर्जर, जट्ट, आभीर, हूण, अरब, तुर्क आदि कितनी ही जातियाँ समय-समयपर भारतमें आईं, और उन्होंने पहले अपना अलग शासक या उपनिवेशवासी समाज क़ायम किया जिसने राष्ट्रीयताकी जगह लेनी चाही; किन्तु जब शासन हाथसे जाता रहा, तो एक अलग जाति बनकर साधारण निवासियोंका भाग बन गये।

बाहरी और भीतरी लड़ाइयाँ होती रहीं, क्रान्तियाँ हुईं, जय-पराजय और अकाल पड़ते रहे। एकके बाद एक आफ़तें, न जाने कितनी बार भारतपर पड़ती रहीं; किन्तु उन्होंने भारतीय समाजके भीतरी ढाँचेको १६वीं सदीके शुरू तक नहीं बदल पाया। भारतका प्राचीन मानव-

समाज चाहे जितना भी बदलता मालूम होता हो ; किन्तु उसके मौलिक ढाँचेमें अन्तर नहीं हुआ, इसे हम उस समयके समाजके भीतर घुसकर आसानीसे जान सकते हैं। हज़ारों वर्ष पहलेका आविष्कार किया हुआ वही चर्खा-कर्घा जब तक रहने पाया, चलता रहा, और उसके चलानेके लिये काफ़ी चतुर हाथोंकी कभी कमी न हुई। अज्ञात काल-से भारतके कपड़े तथा दूसरे तैयार मालको फ़िनिशियन्, यूनानी, रोमन, अरब लोगोंके द्वारा यूरोप खरीदता और अपने बहुमूल्य-रत्न और धातुओंको बदलेमें भेजता रहा। इन बहुमूल्य वस्तुओंके आभूषणका शौक़ भारतीयोंके अज्ञात कालसे चला आता है। वैदिक कालके आर्य सुवर्ण-कुंडल और सुवर्ण-कंकणके बहुत प्रेमी थे। उनके पुरोहित यज्ञ-मंडपमें अपनी लाल पगड़ी और सोनेके कुंडलों-के लिये मशहूर थे। मद्रासमें पतली लँगोटी लगाये, कानमें सोनेका कुंडल झुलाते कुली और किसान अब भी काम करते देखे जाते हैं—यद्यपि पूँजीवादके भयंकर शोषणके कारण अब ऐसे व्यक्तियोंकी संख्या कम हो गई है।

(१) *ग्राम-प्रजातंत्र*—१६वीं सदीके शुरूमें भारतीय समाजका क्या रूप था, इसे मार्क्सने बृटिश पार्लामेंटके सामने पेश की गई एक सर्कारी रिपोर्टसे इस प्रकार उद्धृत किया है—

(क) ग्राम-प्रजातंत्र का स्वरूप—"गाँव भौगोलिक तौरपर देखने-पर कुछ सौ या हज़ार एकड़ आबाद या परती ज़मीनका टुकड़ा है। राजनीतिक तौरसे देखनेपर वह कस्बा या संगठित नगर-सा मालूम होता है। उसके निम्न प्रकारके बाक़ायदा नौकर और अफ़सर होते हैं—*पटेल* या गाँवका मुखिया, गाँवके कामोंका साधारण तत्त्वावधान इसके ऊपर रहता है। वह गाँववालोंके झगड़ोंका फ़ैसला करता है। पुलिसकी देख-भाल करता है, और गाँवके भीतर कर वसूल करने-का काम करता है। यह काम ऐसा है कि जिसे अपने वैयक्तिक प्रभाव

व्यक्ति तथा परिस्थितिसे सूक्ष्म परिचयके कारण वह बहुत अच्छी तरह-से करनेकी क्षमता रखता है। *पटवारी* (कर्णम्) खेतों तथा उससे संबंध रखनेवाली हर बातका लेखा रखता है। *चौकदार** गाँवके जुर्मों, अपराधोंका सुराग लगाता है, और रक्षा करते हुए एक गाँवसे दूसरे गाँवको जानेवाले यात्रियोंको पहुँचाता है। *प्रहरी*†का काम ज़्यादातर गाँवके भीतरसे संबंध रखता है, और उसके कामोंमें फ़सल-की रखवाली और उसके तोलनेमें सहायता देना है। *सीमापाल*‡ गाँवकी सीमाकी रक्षा करता है, और विवाद होनेपर उसके बारेमें गवाही देता है। *जलपाल* तालाब और नहरोंकी देख-भाल करता है, और खेतीके लिये पानीको बाँटता है। *ब्राह्मण* गाँवके लिये पूजा करता है। *अध्यापक* गाँवमें बच्चोंको बालूके ऊपर लिखना-पढ़ना सिखाता है। *ज्योतिषी* साइत बतानेवाला, आदि। आम तौरसे ये नौकर और कर्मचारी हर गाँवके संगठनमें मिलते हैं; लेकिन देशके किसी किसी भागमें इनकी संख्या कम होती है, और ऊपर बतलाये कर्त्तव्यों और अधिकारोंमेंसे एकसे अधिक एक ही आदमीके ऊपर होते हैं, और कहीं-कहीं उपरोक्त व्यक्तियोंकी संख्या और अधिक होती है। इस तरहकी सीधी-सादी सर्कारके अधीन देशके निवासी अज्ञात काल-से रहते चले आये हैं। गाँवकी सीमा शायद ही कभी बदली गई हो। यद्यपि कभी-कभी गाँवोंको चोट पहुँची है; युद्ध, अकाल या महा-मारीने उन्हें बर्बाद किया है, किन्तु वही नाम, वही सीमा, वही स्वार्थ और बल्कि वही परिवार युगोंसे चलते आ रहे हैं। राज्योंके टूटने या बँटनेकी (गाँव-) निवासियोंको कोई पर्वाह नहीं। जब तक गाँव अखंड हैं, तब तक उन्हें इसकी चिन्ता नहीं कि वह किस शासकके हाथमें हस्तान्तरित किया गया अथवा कौन उसका राजा बना—उसकी आन्तरिक अर्थनीति अछूती बनी रहती है। *पटेल* अब भी गाँववालोंका मुखिया

*Tallier. †Totie. ‡Boundaryman.

है, और वह अब भी गाँवका छोटा मुंसिफ, मजिस्ट्रेट और कलेक्टर—लगान जमा करनेवाला है।"

आजसे अट्ठासी वर्ष पूर्व, गदरसे चार साल पहिले मार्क्सने "भारतमें बृटिश शासन" नामक लेखको *न्यूयार्क-ट्रिब्यून* (२५ जून, १८५३)-में उपरोक्त पंक्तियोंको उद्धृत करते हुए लिखा था—"यह छोटा अचल सामाजिक संगठन अब बहुत अंशोंमें नष्ट हो चुका है या नष्ट हो रहा है; किन्तु इसका कारण बृटिश कर-उगाहनेवाले और बृटिश सिपाही उतने नहीं हैं, जितने कि बृटिश भाप-इंजन और बृटिश मुक्त-व्यापार।"

(ख) ग्राम-प्रजातंत्रके कारण **अकर्मण्यता**—उसी सन्के १४ जूनके अपने एक पत्रमें मार्क्सने भारतके ग्राम-संगठनके बारेमें अपने मित्र एन्गेल्सको लिखा था—

"एशियाके इस भागमें जो इस तरहकी गति-शून्यता—बाहरी राजनीतिक सतहपर जो लक्ष्य-रहित कुछ गति-सी भले ही दिखलाई पड़ती है—एक दूसरेपर अवलम्बित दो परिस्थितियोंके कारण है; (१) सार्वजनिक काम (तालाब, नहर आदिका बनाना) केन्द्रीय-सर्कारके जिम्मे था; (२) इसके अतिरिक्त सारा साम्राज्य, कुछ थोड़े-से शहरोंको छोड़कर ऐसे गाँवोंसे बना है, जिनका अपना एक बिल्कुल अलग संगठन है, और उनकी अपनी एक खुद छोटी-सी दुनिया है:

"ये काव्यमय प्रजातन्त्र, तो पड़ोसी गाँवोंसे सिर्फ़ *अपने गाँवकी सीमाओंकी* ही रक्षा तत्परतासे करना जानते थे, अब भी उत्तरी भारतके कितने ही भागोंमें—जो कि हालमें अंग्रेजोंके हाथोंमें आये हैं—काफ़ी सुरक्षित रूपमें पाये जाते हैं। मैं नहीं समझता कि एशियाई निरंकुशताकी गति-शून्यताके मज़बूत कारण ढूँढ़नेके लिये किसी और चीज़की ज़रूरत है। .. (अंगरेज़ों द्वारा) उन अचल पुराने रूपोंका तोड़ा जाना (भारतके) यूरोपीकरणके लिये आवश्यक बात थी। उगाहनेवाला अकेला इसमें सफलता नहीं प्राप्त कर

सकता था। गाँवोंके अपने स्वावलम्बी स्वरूपको दूर करनेके लिये उनके पुराने उद्योग-धन्धेका बर्बाद होना ज़रूरी था।

भारतीय मानव-समाजकी सहस्राब्दियोंसे चली आती इस तरहकी निश्चलता, प्रवाह-शून्यता—जो पिछली सदी तक पाई जाती थी—है वह कारण, जिससे भारतीय मानव ग्रामभक्तिसे उठकर देशभक्ति तक नहीं पहुँच सका, और न बाहरी दुश्मनोंका मुक़ाबिला सामूहिक तौरसे कर सका। इस ग्राम-पंचायतने शिल्पियोंको सहस्राब्दियों पूर्वके बँसूलों, रुखानियोंसे, किसानोंको हँसुओं, फालोंसे चिपटा रहने दिया। शासकवर्ग जानता था कि यह ग्राम-संगठन भारतीयका मर्म-स्थान है, वहाँपरकी चोटको वह सहन नहीं कर सकता, मुक़ाबिला किये बिना नहीं रह सकता; इसीलिये उसने उसे नहीं छेड़ा, जैसा-का-तैसा रहने दिया; जिसपर भारतीय ग्रामीण बोल उठा—

"कोउ नृप होइ हमैं का हानी।" (तुलसीदास)

यदि वह भारतीय ग्राम्य-प्रजातन्त्र पहिले ही टूटकर विस्तृत संगठनमें बद्ध हुआ होता, तो निश्चित ही साधारण जनता शासकोंकी निरंकुशताका मुक़ाबिला करनेमें ज्यादा क्षमता रखती; फिर जिस स्वेच्छाचारिताको हम भारतके पिछले दो हज़ार वर्षोंके इतिहासमें देखते हैं, क्या वह रह सकती?

२. सामाजिक परिवर्त्तनका आरम्भ

(१) आक्रमणोंकी क्रीड़ा-भूमि—सहस्राब्दियोंसे भारतीय समाज मुक्त-प्रवाह नहीं, प्रवाह-शून्य नदीका *छाड़न* हो गया है। आज भी धार्मिक हिन्दू गंगाके छाड़नमें भी नहाना बुरा समझता है, वह उसके लिये मुर्देके साथ स्नान, पुण्य छीननेवाला स्नान है। वैसे भी ऐसे पानीके पाससे गुज़रनेपर नाक़में सड़ाँदकी बू आने लगती है। भारतीय मानव-समाज १९वीं सदी तक ऐसा ही छाड़न था। उसे अपने

पुराणपनपर अभिमान रहा। उसने बहते पानीके महत्त्वको समाजमें लानेकी ओर ध्यान तक नहीं दिया।

मार्क्सके शब्दोंमें "सारे गृहयुद्ध, विदेशी आक्रमण, क्रान्तियाँ, विजय, अकाल—चाहे जितने ही तेज़, नाशकारी रहे हों; मगर वह (भारतमें) सतहसे भीतर नहीं घुस सके।"

जिस परिवर्त्तनसे दुनिया बहुत पहिले गुज़र चुकी थी, भारतको उसे अपनानेके लिये मजबूर करना अंग्रेज़ोंका काम था। अंग्रेज़ उन विजेताओंकी भाँति भारतमें नहीं आये थे, जो भारतमें आकर भारतीय बन—भारतके हो गये; वह यूनानियों, शकों, तुर्कों, मुग़लों-की भाँति हिन्दू नहीं बन गये। अंग्रेज़ोंमें पहिलेके विजेताओंसे अनेक विशेषताएँ थीं। दूसरे विजेता विजेता ज़रूर थे; किन्तु साथ ही वह सभ्यतामें उस तलपर नहीं पहुँचे हुए थे, जिसपर हिन्दू पहुँच चुके थे; इसलिये इतिहासके सनातन नियमके अनुसार राजनीतिक विजेता विजित जातिकी श्रेष्ठ सभ्यता द्वारा पराजित हो गये। अंग्रेज़ हिन्दू सभ्यतासे कहीं ऊँची सभ्यताके थे; इसलिये विजित जाति उन्हें हज़म नहीं कर सकती थी। पीढ़ियों तक वह यही कोशिश कर सकती थी, कि विजेताकी सभ्यतासे दूर-दूर रहें; लेकिन यह मूढ़ हठ कितने दिनों तक चल सकता था। आज हम देख रहे हैं, भारतका वह पुराणपन कितना हटता जा रहा है, और किस तरह उसकी जगह नये समाजका निर्माण हो रहा है।

(२) *अंग्रेज़ विजेताओंकी विशेषता*—एक और बात थी, अंग्रेज़ भारतमें अंग्रेज़ राजवंश क़ायम करने नहीं आये थे। जिसने विजय करके भारतके शासनको पहिले-पहल अपने हाथमें लिया, वह कोई राजा या उसका सेनापति नहीं था, वह था ऐसे सौदागरोंका गिरोह, जो अपनी पूँजीपर अधिकसे अधिक सालाना मुनाफ़ा कमाना चाहते थे। यह बिल्कुल ही नई तरहकी विजय थी, जिसमें विजेता राजवंश

स्थापित नहीं करना चाहता था। ईस्ट इंडिया कम्पनी चाहती थी, और भारतपर शासन इसलिये कर रही थी, कि वह अपने भागीदारोंको अधिकसे अधिक नफ़ा बाँटे; उससे और अधिक यदि कोई उसका मतलब था, तो यही कि भारतसे अधिकसे अधिक अंग्रेज़ोंका भरण पोषण हो। यह काम मुग़लों और शकोंकी कर उगाहनेकी नीतिसे नहीं हो सकता था। मुग़लों-शकोंके अपने ख़र्चके लिये लिया रुपया भी फिर भारत हीमें जीवनोपयोगी चीज़ोंके ख़रीदनेमें बँट जाता था, इसलिये वह एक तरहसे देशके भीतर विनिमयके रूपमें चक्कर काटता रहता था। अंग्रेज़ोंको यह धन सात समुन्दर पार ख़र्च करनेके लिये चाहिये था, जिससे एक बारकी गई सम्पत्ति फिर लौटकर यहाँ आनेवाली न थी। इसके लिये ज़रूरी था कि अंग्रेज़ स्वदेशी-हो-गये विजेताओंसे ज़्यादा धन शोषण करें। इसका भारतके लिये क्या परिणाम हुआ, यह हम बतला चुके हैं।

संक्षेपमें अंग्रेज़ोंको अपने सारे शासक-वर्ग—पूँजीपति वर्ग—के स्वार्थके लिये भारतको दोहन करना था—पहिले व्यापारसे, फिर व्यापार और शासनसे, फिर व्यापार, शासन और पूँजीवादीय शोषण—कच्चे-पक्के मालके क्रय-विक्रय—से। इस भारी शोषणमें ग्रामीण प्रजातन्त्र बचाया नहीं जा सकता था। चाहे उसका कवित्वमय रूप तत्कालीन और आधुनिक कितने ही भावुक व्यक्तियोंको बहुत आकर्षक मालूम होता रहा हो, और कौन-सा अतीत है, जो आकर्षक नहीं होता?

(२) *अंग्रेज़ी-शासनका परिणाम* (क) **सामाजिक क्रान्ति**—हाँ, तो हज़ारों वर्षोंके इस भारतीय छाड़नके लिये अंग्रेज़ोंने सबसे बड़ा काम किया, वह था उसका बाँध तोड़ना। उन्होंने भारतीय चर्खे-को तोड़ डाला, पुराने कर्घेको बिदा कराया; अपने यहाँ और यूरोपसे भी पुराने चर्खों-कर्घोंके कपड़ोंको निकाल बाहर किया; फिर गंगाको उलटी

बहाया - और मार्क्सके शब्दोंमें "कपासकी मातृभूमिमें कपास (के कपड़ों)की बाढ़ ला दी। १८१८से १८३६ ई०में ग्रेट बृटेनसे भेजा कपड़ा ५२०० गुना बढ़ गया। १८३७ ई०में भारतमें आया अंग्रेजी मलमल मुश्किलसे दस लाख गज़ था, जब कि १८४७ ई०में वह ६ करोड़ ४० लाख गज़से ऊपर था। लेकिन, इसके साथ ही ढाकाकी आबादी डेढ़ लाखसे बीस हज़ार रह गई। अपने शिल्पोंके लिये जगद्-विख्यात भारतीय नगर ही नहीं बर्बाद हुए; बल्कि बृटिश भाप और विज्ञानने सारे हिन्दुस्तानमें, कृषि और शिल्प-उद्योगके मेलको जड़-मूलसे उखाड़ फेंका।...भारतके परिवार-समुदायका आधार था घरू उद्योग—हाथकी कताई, हाथकी बुनाई, खेतीमें हाथकी जुताई—जिनसे वह स्वावलम्बी बना हुआ था। अंग्रेज़ोंका भीतर दखल देना क्या फल लाया?—कातनेवालेको लंकाशायरमें ला रखा, और जुलाहे-को बंगालमें या दोनों ही—हिन्दुस्तानी कतकरों और जुलाहों—का सफ़ाया कर दिया। इन छोटे-छोटे अर्ध-बर्बर, अर्ध-सभ्य-समुदायोंको, उनकी आर्थिक नींवको उड़ाकर, ध्वस्त कर दिया, और इस प्रकार सबसे बड़ी, और सच पूछिये तो एशियामें कभी भी न सुनी गई, एकमात्र सामाजिक क्रान्तिको पैदा किया।"

(ख) **ध्वंसात्मक काम ज़रूरी**—"आज, मनुष्यका हृदय खिन्न ज़रूर होगा, जब कि वह इन अगनित पितृसत्ताक शान्तिपूर्ण सामाजिक संगठनोंको इस प्रकार तितर-बितर हो अपनी बनानेवाली इकाइयोंमें बिखरते देखता है, उन्हें कष्टोंके समुद्रमें फेंके जाते, और उनके अवयवोंके साथ ही अपनी सभ्यताके पुराने रूपको खोते तथा पुश्तों-से चले आते अपनी जीविकाके ज़रियोंको हाथसे जाते देखता है। हमें भूलना नहीं चाहिये कि यह काव्यमय ग्राम्य-संगठन, चाहे देखनेमें कितने ही मासूम दिखलाई पड़ें; लेकिन यही सदासे पूर्वी स्वेच्छाचार-की ठोस बुनियाद रहे हैं। इन्होंने मानव-मस्तिष्कको छोटे-से-छोटे

दायरेमें बंद रक्खा, और उसे मिथ्या-विश्वासका चुपचाप मान लेने-वाला हथियार बनाना, उसे पुराने नियमोंका ग़ुलाम बनाया, और उसे सभी महान् ऐतिहासिक (इतिहासकी प्रगतिसे उत्पन्न) शक्तियोंसे वंचित रक्खा। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये. कि एक तुच्छ छोटी-सी ज़मीनकी टुकड़ीमें केन्द्रित बार्बरिक ममता या मेरापन साम्राज्योंके ध्वंस, अकथनीय नृशंसताके नग्न नृत्य, बड़े-बड़े शहरोंकी जनताकी हत्याका कारण हुआ है।···हमें नहीं भूलना चाहिये कि इस अपमान-जनक, मुर्दा कीड़े-मकोड़ोंके जीवन, निर्जीवसे अस्तित्वने, दूसरी ओर इसके विरुद्ध, जंगली, निरुद्देश्य, सत्यानाशकी असीम शक्तियोंको उत्तेजना दी, और ख़ुद मनुष्य-हत्याको हिन्दुस्तानमें धार्मिक कृत्य बना दिया। हमें नहीं भूलना चाहिये कि (भारतकी) यह छोटी-छोटी जमातें जाति-भेद और दासताके रोगमें फँसी हुई थीं; उन्होंने मानव-को ऊपर उठा परिस्थितियोंपर विजयी बननेकी जगह बाहरी परिस्थि-तियोंका ग़ुलाम बनाया; उन्होंने स्वयं विकसित होनेवाली सामाजिक स्थितिको अ-परिवर्त्तनशील प्रकृतिके हाथकी कठपुतली बना दिया, इस प्रकार प्रकृतिकी पाशविक प्रजाको स्थापित किया, और प्रकृतिके राजा मानवका इतना अधःपतन कराया कि वह बानर हनूमान् और कपिला गायकी पूजामें घुटने टेकने लगा।

"यह सच है कि इंगलैंड जो हिन्दुस्तानमें एक सामाजिक क्रान्ति ला रहा है, उसके पीछे एक बहुत ही नीच उद्देश्य छिपा हुआ है; किन्तु, सवाल यह नहीं है। सवाल यह है—क्या एशियाकी सामाजिक स्थितिमें क्रान्ति लाये बिना मानव-जाति अपने ध्येयको पूरा कर सकती है? अगर नहीं, तो इंगलैंडने चाहे जो भी अपराध किया हो; किन्तु उक्त क्रान्तिको लानेमें उसने इतिहासके अनजाने हथियारका काम किया।

"फिर, एक पुरातन जगत्के टूट-टूटकर गिरनेका दर्दनाक नज़ारा

चाहे जितनी भी कटुता हमारे व्यक्तिगत भावोंमें पैदा करे ; किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे देखनेपर हमें गोयथेके शब्द याद आते हैं*—

"इसका हमें सोच करना क्या. लिप्साका स्वभाव ही ऐसा,
बढ़ती चले अयास,

और नहीं क्यों तैमूरी तलवार बनाती कोटि जनोंको
क्रूर कालका ग्रास ?"

(ग) **भारतीय समाजकी निर्बलतायें**—८२ वर्ष हो गये, जब कि (२५ जून, १८५३ ई०) मार्क्सकी यह पंक्तियाँ पहिले पहल प्रकाशित हुई। इनको पढ़नेसे मालूम होता है कि इतनी दूर बैठकर ज्ञानके साधनोंके उतने अभावके होते भी उसकी पैनी दृष्टि भारतीय समाजकी सतहसे भीतर कितनी घुस सकी थी। उसने क्रूरताके साथ हमारे उस लुटते सोनेके गढ़के लिये दो आँसू बहाना काफ़ी नहीं समझा ; बल्कि बतलाया कि हमारी उस दयनीय दशाका कारण क्या है। उसने यह भी बतलाया कि उस पुरानी सामाजिक व्यवस्थाको नष्ट होनेसे बचानेकी ज़रूरत नहीं है, जैसा कि नब्बे वर्ष बाद आज गांधी और गांधीवादी दिलसे या दिखावेके लिये कह रहे हैं ; बल्कि उससे जो सबसे बड़ा फ़ायदा, एक प्रवाहशील उन्मुक्त समाज-के निर्माणका अवसर मिला है, उससे हमें लाभ उठाना चाहिये।

पहिले लेखसे डेढ़ महीने बाद, ८ अगस्त १८५३को "न्यूयार्क ट्रिब्यून"में मार्क्सने 'भारतमें वृटिश-शासनके होनेवाले परिणाम"

---

*"Sollte diese Qual uns qualen
Do sie unsere lust vermehrt,
Hat nicht myriaden Seelen
Timurs Herrschaft aufgezehrt ?"

नामसे दूसरा लेख छपवाया। उसमें उसने भारतीय समाजके भविष्य-पर प्रकाश डाला, यहाँ उससे कुछ उद्धरण दिये जाते हैं—

"क्या बात थी, जो कि हिन्दुस्तानमें अंग्रेज़ोंका प्रभुत्व स्थापित हुआ? मुग़ल सूबेदारोंने मुग़ल शासन-केन्द्रको तोड़ा। सूबेदारोंकी ताक़तको मराठोंने तोड़ा। मराठोंकी ताक़तको अफ़ग़ानोंने तोड़ा। और, जब कि यह सभी सबके खिलाफ़ लड़ रहे थे, अंग्रेज़ दौड़ पड़े, और वह सबको दबानेमें सफल हुए। (हिन्दुस्तान) वह देश है, जो हिन्दू-मुसलमानोंमें ही बँटा नहीं है; बल्कि वह कबीलों-कबीलों, जातों-जातोंमें बँटा हुआ है। उसके समाजका ढाँचा एक तरहके ऐसे सम-तुलनपर आधारित था, जो कि उसके सभी व्यक्तियोंके बीच साधारण बिखराव और मनमुखीपनका परिणाम था। इस तरहका देश, इस तरहका समाज, क्या पराजित होनेके लिये ही नहीं बना था? चाहे हिन्दुस्तानके अतीतके इतिहासको हम न भी जानते; किन्तु, क्या यह एक ज़बर्दस्त अविवादास्पद बात नहीं है कि इस क्षण भी भारत अंग्रेज़ोंकी ग़ुलामीमें जकड़ा हुआ है; हिन्दुस्तानके खर्चपर रखी एक हिन्दुस्तानी सेना द्वारा। फिर, भारत पराजित होनेसे बच नहीं सकता था, और उसका सारा अतीत इतिहास, अगर वह कोई चीज़ है, तो वह लगातार पराजयोंका इतिहास है, जिनसे कि वह गुज़रा है। भारतीय इतिहास कम-से-कम ज्ञात इतिहास, कोई इतिहास नहीं है। जिसे हम उसका इतिहास कहते हैं, वह उन्हीं लगातार आनेवाले आक्रमणकारियोंका इतिहास है, जिन्होंने निष्क्रिय अपरिवर्तनशील समाजकी निश्चेष्टताके आधारपर अपने साम्राज्य क़ायम किये...।

(घ) **अंग्रेज़ी शासनके दो काम**—"भारतमें अंग्रेज़ोंको दो काम पूरा करने हैं—एक ध्वंसात्मक, दूसरा पुनरुज्जीवक—पुराने एशियाई समाज-का ध्वंस, और एशियामें पाश्चात्य समाजका भौतिक शिलान्यास।

"(अंग्रेज़ोंने) देशी (ग्राम्य) समाजको तोड़कर, देशी

उद्योग-धंधेको जड़-मूलसे उखाड़कर, देशी समाजमें जो कुछ महान् और उच्च था उसे जमीनके बराबर करके, अपने ध्वंसात्मक कामको पूरा किया। ध्वंसोंके ढेरमें पुनरुज्जीवनका काम (आज) मुश्किलसे दिखलाई पड़ता है, तो भी वह आरम्भ हो गया है।

"भारतकी राजनीतिक एकता, जो कि (आज) महान् मुग़लोंके शासनसे भी ज़्यादा संगठित और विस्तृत है, पुनरुज्जीवनके लिये सबसे पहली आवश्यक चीज़ है। अंग्रेज़ी तलवारके द्वारा ज़बर्दस्ती लादी गई यह एकता अब बिजलीके तेलीग्राफ द्वारा और मज़बूत तथा चिरस्थायी बनाई जायगी। परेड सिखानेवाले अंग्रेज़ सर्जेन्ट द्वारा संगठित और शिक्षित देशी सेना भारतकी स्वतः मुक्तिके लिये तथा पहिले हो आनेवाले विदेशी आक्रमणकारीके शिकार बननेसे बचनेके लिये आवश्यक साधन है। स्वतंत्र प्रेस—जिससे एशियाई समाज पहले-पहल परिचित हुआ है, और जिसका प्रबंध मुख्यतः *हिन्दुओं* और यूरोपियनोंकी सम्मिलित सन्तानोंके हाथमें है—पुनर्निर्माणके वास्ते एक नया और बहुत ही शक्तिशाली हथियार है।...भारतीयोंमेंसे—चाहे हिचकिचाते तथा संख्यामें कम होते ही सही—कलकत्तामें अंग्रेज़ोंकी देख-रेखमें शिक्षा पाकर एक ताज़ा वर्ग उत्पन्न हो रहा है, जो कि शासनकी संचालनकी कलामें निपुण और यूरोपीय विज्ञानसे अभिज्ञ है। भापने भारतका यूरोपसे यातायात नियमित और द्रुत कर दिया है, उसके प्रधान बन्दरगाहोंको (इंगलैंडके) दक्खिन-पूर्वके बन्दरगाहोंके साथ जोड़ दिया है, और उसकी उस अलग-थलगपनकी स्थितिको हटा दिया है, जो कि उसकी प्रवाह-शून्यताका कारण थी। वह समय दूर नहीं है, जब कि रेलवे, वाष्पपोतकी सम्मिलित सहायतासे इंगलैंड और भारतके बीचकी समयमें नापी जानेवाली दूरी घटकर आठ दिन रह जाय, और जब कि गाथाओंमें सुना जानेवाला यह देश, इस प्रकार यथार्थतः पाश्चात्य जगत्का एक भाग बन जायगा।

(ङ) **स्वार्थसे मजबूर**—"ग्रेट-ब्रिटेनके शासकवर्गका अब तक भारतकी प्रगतिमें सिर्फ़ आकस्मिक-चलता-फिरता एक ख़ास तौरका स्वार्थ था। सर्दारवर्ग भारतको जीतना चाहता था, थैलाशाही उसे लूटना चाहती थी, और मिलशाही सबकी गलाकट्टी कर रही थी! लेकिन अब अवस्था बदल गई। अब मिलशाही पूँजीवाद)को पता लग गया है, कि भारतको उत्पादक देशमें परिणत करना उसके लिये एक आवश्यक बात है, और इसके लिये यह ज़रूरी हो गया है कि भारतके पास सींचने और भीतरी यातायातके साधन प्रस्तुत किये जायँ। अब मिलशाही सारे भारतमें रेलोंका एक जाल बिछाना चाहती है। और वह ऐसा करेगी।...

"मैं जानता हूँ कि अंग्रेज़ मिलशाही भारतमें रेलें सिर्फ़ इसलिए बिछाना चाहती है कि कम खर्चमें कपास और दूसरे कच्चे मालको अपने कारख़ानोंके लिए प्राप्त कर सके। लेकिन, जब एक बार ऐसे देश-में मशीनरी तुमने चला दी, जहाँपर कि लोहा और कोयला है, तो उनके निर्माण (उद्योग)से तुम उसे रोक नहीं सकते।....इसलिए रेलें भारतमें आधुनिक उद्योग-धंधेका अगुआ बनेंगी। ..और (भारतीयोंकी मानसिक योग्यताके बारेमें) केम्बेलको माननेके लिए बाध्य होना पड़ा कि भारतीयोंकी बड़ी संख्या एक बड़ी *औद्योगिक शक्ति* रखती है; वह पूँजी जमा करनेकी क्षमता, दिमागमें गणित-जैसी स्पष्टता, आँकड़ों और पक्के विज्ञानके योग्य विचित्र प्रतिभा रखती है।...उनकी प्रतिभा बहुत तेज़ है।.. रेलोंके कारण स्थापित होनेवाले आधुनिक ढंगके उद्योग-धंधे उस ख़ान्दानी श्रम-विभागको उठा देंगे, जिसके ऊपर भारतीय जात-पाँत आश्रित है, और जो कि भारतीय प्रगति और भारतीय (राज-) शक्तिमें निश्चय ही ज़बर्दस्त बाधा है।

"अंग्रेजी बूर्ज्वा (पूँजीवादी), जो कुछ भी करनेके लिये मज़बूर होंगे, वह न जनताको मुक्त करेगा, और नहीं ही उसकी सामाजिक

अवस्थाको आर्थिक तौरसे सुधारेगा।....क्या पूँजीवाद (बूर्ज्वासी)ने कभी भी ऐसी कोई प्रगति होने दी, जिसमें व्यक्तियों और जनताको ख़ून और कूड़े-कर्कटमेंसे, कष्ट और अधःपातमेंसे न घसीटा गया हो?

(४) *भविष्य उज्ज्वल*—"अंग्रेज़ बूर्ज्वा इनके बीचमें जो समाजके नवीन तत्त्वोंको बो रहे हैं, उसके फलका भारतीय तब तक उपभोग नहीं कर सकेंगे, जब तक ख़ुद ग्रेट-बृटेनमें आजके शासकवर्गको हटाकर कारख़ानोंके कमकर (प्रोलेतारी) न आ जायँ, अथवा *हिन्दू* ख़द ही इतने मजबूत हो जायँ, कि अंग्रेज़ी जूएको उतार फेंकें। चाहे कुछ भी हो, कम या वेशी सुदूर समयमें यह ज़रूर देखनेमें आयेगा, जब कि उस महान् और मनोहर देशका पुनरुज्जीवन होगा....जिसके कोमल प्रकृतिवाले निवासियोंको .. अधीनता स्वीकृतिमें भी एक तरहका शान्त स्वाभिमान है, जिन्होंने अकर्मण्यताके रहते भी अपनी बहादुरीसे अंग्रेज़ अफ़सरोंको चकित कर दिया, जिनका देश हमारी जबानों, हमारे धर्मोका स्रोत रहा; और जो अपने जाटोंमें प्राचीन जर्मनों और अपने ब्राह्मणोंमें प्राचीन यूनानियोंके प्रतिनिधि हैं।

(५) *परिवर्त्तनके लिये कटिबद्ध होना ज़रूरी*—

(क) **पीछे लौटना असंभव**—मार्क्सका उपरोक्त कथन हमारी जातिके गंभीर ऐतिहासिक विश्लेषणका परिणाम है। मेक्सिकोके *पनखिलाड़ी*का हम वर्णन कर चुके हैं*, वह छिपकलीकी जातिवाला सलमन्दर होते भी, हज़ारों वर्षों तक पानीके अन्दर मछली और सलमन्दरके बीचकी ही अवस्थामें पड़ा रहा; और आधुनिक विज्ञानने जब उसे वह आइडिन दिया, जिसके बिना कि उसका विकास रुका हुआ था, तो वह फिर सलमन्दर बनकर पैरोंसे ज़मीनपर दौड़ने लगा। हमारा भारतीय समाज भी मेक्सिकोके उसी 'पनखिलाड़ी'की भाँति

---

*देखो "विश्वकी रूप-रेखा"

विकासमें रुक गया था ; क्योंकि हम लोग ग्राम्य-प्रजातंत्र—जनयुगके अवशेष—को पकड़कर चिपटे हुए थे। हमारे लिये सत्य जीवित, प्रगतिशील प्रवाह नहीं ; बल्कि अचल, एकरस सनातन स्थिरता—मृत्यु —थी। हमारे देशमें भी जो अभी आदिम मानवका जीवन बिता रहे हैं, उनके जीवनपर तो हम नहीं रश्क करते, उनके संगठन, उनके रीति-रिवाजको अनुकरणीय नहीं समझते ; किन्तु जन-युगके ग्राम्य संगठन हमारे लिये बहुत प्रिय वस्तु थी। स्वावलम्बी गाँवके 'प्रजातंत्र'से हमें बड़ा प्रेम था। उसे हम 'सतयुग'की प्रिय देन कहकर पलकसे ओझल नहीं करना चाहते थे। लेकिन, उसी सतयुगकी देन कोल-भील लोगोंका भी तो जीवन—कैसा अकृत्रिम, कैसा सरल, कैसा सच्चा और स्वच्छन्द जीवन है ; किन्तु क्या वह हमारे लिये निन्दा छोड़ रश्ककी चीज़ बना ? ग्राम-'प्रजातंत्र' हमारे लिये कितना महँगा सौदा साबित हुआ, यह ऊपरके उद्धरणमें बतलाया गया है। मानव-जीवनमें, गहराई और विस्तार दोनोंमें संगठनकी कितनी ज़रूरत है, यह हम बतला चुके हैं। जो समाज जितना ही इन दोनों बातोंमें आगे रहा, संसारमें उसका जीवन उतना ही सफल रहा।

अब हमारा वह ग्राम-'प्रजातंत्र' नहीं रहा ; क्योंकि उसका आधार था आर्थिक स्वावलम्बन—बढ़ई लकड़ीका काम करता है, लुहार लोहे-का, चमार चमड़ेका, धोबी धोनेका, तेली तेलका, भड़भूँजा भुनने-का, जुलाहा कपड़े बुननेका ···। आज वह आर्थिक भित्ति ग़ायब है। खानेके बाद सबसे ज्यादा खर्च कपड़ा, चमड़ेका है, और उनका उत्पादन अब गाँवमें नहीं होता। तो भी हमारी वह पुरानी मनोवृत्ति बिल्कुल दूर नहीं हुई है। अब भी हम एक विशाल देशकी एक विशाल जातिके तौरपर अपनेको उतना नहीं सोचते, जितना एक क्षुद्र इकाईके व्यक्ति-के तौरपर। हम अपने समाजको करोड़ों सेलोंका आपा छोड़ एक बन गया शरीर नहीं मानते ; बल्कि अलग-अलग जीवन बितानेवाला अमोघा

हमारे लिये आदर्श बना हुआ है। इस व्यक्तिवाद—इस ग्रामीण दृष्टि—के रहते हम अपने विशाल समाजको कैसे चुस्त और मज़बूत कर सकते थे। पिछली शताब्दीमें बाहरी आर्थिक प्रहारों द्वारा जब हमारे गाँवका भी समाज टूटने लगा, तो हमने उसकी नींवपर बृहत्तर समाजका निर्माण करनेके बदले और रेज़े-रेज़ेमें बिखरना पसन्द किया, तथा बिना नथेलके ऊँटकी तरह समाजके मंगलकी कुछ भी परवाह न कर जिधर मन आया, उधर चलना चाहा—हाँ, यह किया निम्न दर्जेके स्वार्थसे प्रेरित हो ही कर, नहीं तो जीवन-स्रोतको सुखानेवाली पुरानी रूढ़ियोंको तोड़नेकी हमारेमें हिम्मत कहाँ थी ?

(ख) **तीव्र सामाजिक पाचनकी ज़रूरत**—यह वह पुरानी मनोवृत्ति ही थी, जिसने हमें क्षण-क्षण बदलते संसारके अनुसार अपनेको बदलने, नई उठी समस्याओंको हल करने, नहीं दिया। हम सारी समस्याओंको कलपर टालते रहे। यदि हमने गाँवसे ऊपर उठकर सारे देश, अपनेसे ऊपर उठकर अगली पीढ़ियोंकी ओर ध्यान दिया हुआ होता, तो प्रमेहवाले ज़हरबाद (कार्बंकल)की भाँति सारे समाजके जीवन-मरणकी समस्याओंको अपनी निष्क्रियता द्वारा प्राणघातक रूप नहीं लेने दिया होता। हमारा राष्ट्र या समाज सजीव न था, इसका सबूत तो हमारी सामाजिक निष्क्रियता है। जीवित स्वस्थ शरीरमें हम क्या देखते हैं, बाहरसे आई किसी चीज़के भीतर आते ही—बल्कि उसके भीतर आनेकी खबर पाते ही—मुँहमें राल आती है, पाचन-ग्रन्थियाँ अपने-अपनेको सँभाल लेती हैं। यह सब क्यों ? आगन्तुकको आगन्तुकके तौरपर वह स्वीकार नहीं करना चाहतीं, उन्हें अपने जीवनके भीतर एक अलग जीवन बितानेका अधिकार देना नहीं चाहतीं। सजीव पदार्थका नियम है, अपना बनाओ या निकाल दो। किन्तु, भारतमें हम क्या देखते हैं ? आगन्तुक आगन्तुक ही रहता है, या यों कहिये उसे भी अपनी अकर्मण्यताके एक निर्जीव

जीवनको बितानेका अधिकार दे दिया जाता है। इन हजारों जातियों-उप-जातियोंका एक स्वतंत्र जीवन इन्हीं आगन्तुकोंके न अपनाने—अपना अंग न बनाने—का परिणाम है। अपनेमें हज़म करनेके लिये ज्यादा चेष्टाकी ज़रूरत होती है; इसलिये कहा गया—तुम भी हमारी तरह एक कोनेमें बस जाओ, तुम भी हमारी तरह अपना निर्जीव जीवन जिओ। हज़म करनेके लिये जितनी चेष्टा आवश्यक थी, निकालनेके लिये उससे भी अधिक चेष्टाकी ज़रूरत होती है; फिर इस ग्राम, 'प्रजातंत्र'के पास उसके लिये शक्ति कहाँ थी?

दुनियामें और देशोंको भी पराजयका कटु अनुभव उठाना पड़ा. वहाँ भी नवागन्तुक बड़ी-बड़ी संख्यामें आये। पृथिवीका कोई देश शुद्ध एक जातिका नहीं है। हिटलरको जर्मनीमें अपने शुद्ध आर्य-रक्त-का बहुत अभिमान है। वह समझता है हमें छोड़ दुनियाकी सारी जातियाँ वर्णसंकर हैं। किन्तु, यह सिर्फ़ प्रोपेगंडा, जातीयताके नाम-पर शासकवर्गके लाभार्थ भोली जनताको तोपका चारा बननेके लिये रण-मदिरा पिलानेका आयोजन है। कौन नहीं जानता कि पूर्वी प्रुसिया कुछ ही सदियों पहले सारा स्लाव था? मानवमें तभी शुद्ध रक्त रह सकता था, जब कि वह मानव नहीं, स्थावर वृक्ष होता। विजयी या पराजित, चिर-निवासी या नवागन्तुक जैसे भी मानव आपसमें मिले, सजीव जातियोंने समस्याओंको बिना कलपर टाले, उन्हें अपने समाज-प्रवाहका अभिन्न अंग बनाया। यहाँकी भाँति सहस्राब्दियोंसे जट्टको जाट ही, गुज्जरको गूजर ही, आभीरको अहीर ही, अरब (सैयद) को अरब ही, मुग़लको मुग़ल ही रहने नहीं दिया। आज मज़हबके झगड़े. संस्कृतिके झगड़े, भाषाके झगड़े जो नरम होनेकी जगह और उग्र रूप धारण करते दीख पड़ते हैं, उनकी जड़में वही समाजके बारेमें हमारी पुरानी मनोवृत्ति काम कर रही है। इसका मतलब यह नहीं कि यहाँ परिवर्त्तन हुए नहीं हैं। परिवर्त्तन हुए हैं, किन्तु "मानवको

परिस्थितियोंपर विजयी बननेकी जगह बाहरी परिस्थितियोंका ग़ुलाम" बनाकर। जो मानव-समाज सिर्फ़ प्राकृतिक परिवर्त्तनके भरोसे बैठा रहता है, वह मानव-समाज कहलानेका अधिकारी नहीं।

(ग) **सतयुगके नारेसे शोषकोंको फ़ायदा**—हमारी निर्जीवताका कारण सतयुग, जन-युगसे चिपटे रहनेकी प्रवृत्ति रही है, इसमें सन्देह नहीं। आश्चर्य तो यह है कि आज भी हमारे यहाँके कितने ही राष्ट्रीय कर्णधार उन्हीं ऐतिहासिक भूलोंको दुहरानेपर तुले हुए हैं! गांधीवाद आखिर है क्या, वही जन-युगकी ओर लौटनेका नारा। पीछे लौटा नहीं जा सकता, यह निश्चय है; किन्तु इससे हमारे यहाँका पूँजीवादी समाज खूब फ़ायदा उठा रहा है। सामन्तवाद (रियासतों)ने इस नारेसे उतना फ़ायदा नहीं उठाया, यद्यपि वह उसके लिये भी उतना ही लाभ-दायक है। इससे यही साबित होता है कि पूँजीवाद ज्यादा क्षिप्रचेता है।

(घ) **भारतीय पूँजीवादका प्रसार**—अंग्रेज़ी पूँजीवादने भारतीय पुराणपन्थी समाजपर प्रहार किया; किन्तु वह अपना काम पूरा नहीं कर सका। उसने अधिकांश ध्वंसका काम किया। ग्राम-'प्रजातन्त्र'को टुकड़े-टुकड़े करके उसे व्यक्तियोंके रूपमें हवामें फेंक दिया। वह सूखे पत्तेकी भाँति निरुद्देश्य हवामें उड़ते रहे। अपने व्यवसायको चलाने-के लिये उसने रेलें बनाईं, लाखों उड़ते पत्ते एक संगठनमें आकर काम करना सीखने लगे। करोड़ोंके अकाल-कवलित होनेपर जब कच्चे-माल-के उत्पादक और तैयार मालके ग्राहक कम होने लगे, और उस भारी आमदनीपर भी खतरा दिखलाई देने लगा, जो कि बिना किसी बदले-के दानकी तरह अंग्रेज़ शासकोंके पेंशन आदिके रूपमें प्रति साल भारतसे इंगलैंड जाती है, और जो उन्नीसवीं सदीके मध्यमें इतनी थी कि मार्क्सने उसे ६ करोड़ आदमियोंकी* साल भरकी आमदनी-

*मार्क्सका डानियेल्सनके नाम लंदन १९ फ़रवरी, १८८१को लिखा पत्र—

से ज्यादा बतलाया था। पीछे शासन-व्यय कितनी तेज़ीसे बढ़ा, यह अन्यत्र बतला चुके हैं—जिससे मालूम होगा कि यह दोहन अब उससे कहीं ज्यादा हो गया है! अस्तु, अपने लिये काम करनेवालोंकी इतनी भारी तादादमें अकालकी भेंट चढ़ते देख, शासक चुपचाप कैसे रह सकते थे; इसलिये खेती और किसानोंकी रक्षाके लिये उन्हें नहरोंके बनानेकी ओर ध्यान देना पड़ा। इसमें भी भारतीय दिमाग़को काम करने और सीखनेका मौक़ा मिला। किन्तु, उन्नीसवीं सदीमें बिखरे शीराजे (कणों)के एकत्रित करनेका जो प्रयत्न हुआ था, वह नगण्य-सा था। काठ मार गये बिखरे समाजको फिर सचेत करने और उसका मुँह आगेकी ओर करनेका वास्तविक काम तो बीसवीं सदीमें और उसमें भी प्रथम साम्राज्यवादी युद्धके बादसे होने लगा, जब कि अंग्रेज़ पूँजीपतियोंके कन्धेसे कन्धा मिलाकर भारतीय पूँजीपति नये क्षेत्रमें उतरे।—नये-नये कारख़ाने बढ़े, मज़दूरोंने अपने कष्टोंको दूर करनेके लिये व्यक्तिगत नहीं सामूहिक हड़तालें शुरू कीं। पिछले दस वर्षोंमें तो भारतका सबसे पिछड़ा, सबसे असंगठित और सबसे अधिक संख्यावाला किसान-वर्ग भी हर्कत करने लगा है। जिन प्रदेशोंमें चीनीकी मिलें क़ायम हो गई हैं, और जहाँ पूँजीवादी व्यवस्थाके कारण होनेवाली तेज़ी-मन्दीका असर लाखों एकड़ तैयार ऊखके सूखने और जलाये जानेके रूपमें उन्हें प्रत्यक्ष दिखलाई देता है, वहाँके किसानोंमें हलचल ज्यादा दिखाई पड़ती है।

संक्षेपमें पुराने बोसीदा आर्थिक ढाँचेके टूटनेसे जो किंकर्तव्य-

---

(The Correspondence of Marx and Engels. P. P. 385-86)
"Speaking only ot the value of the commodities the Indians have gratuitously and annually to send over to England—it amounts to more than the total some of income of the sixty millions of agricultural and industrial labourers of India."

विमूढ़ता पिछली सदीमें आ मौजूद हुई थी, वह अब दूर हो रही है ; अब युगोंका अचल समाज हिलने लगा है। यद्यपि पथभ्रष्ट करनेवाले झूठे पैग़म्बरोंकी कमी नहीं है, किन्तु अब हमारा समाज फिर लौटकर पीछे नहीं जायगा, यह तो इसीसे साबित है कि बिड़लों, बजाज़ों, साराभाइयों जैसे खद्दरवादी मिल-मालिकोंके गांधी-भक्तिका राग अलापते-रहते भी खद्दर तो बहुत आगे नहीं जा सका ; हाँ, देशी कपड़ेकी मिलें जो खादी-युगसे पहिले भारतके ⅕ कपड़ेको तैयार करती थीं, वह अब ⅘ तैयार करती हैं। युक्तप्रान्त, बिहारके कुछ ज़िलोंमें 'हाथ'की चीनी हाल तक बनती थी, किन्तु पिछले दस सालोंमें चीनीकी मिलोंने उन्हें मारकर दफ़ना भी डाला। चावल, तेल, आटेकी मिलें घट नहीं दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ रही हैं, और उनके स्वार्थके लिये जिनके लिये कि आशीर्वाद भेजनेको गांधीजी सदा तैयार रहते हैं। गांधीवादसे पूँजीवादके वैयक्तिक नफ़ेके लिये, कल-कारख़ानेके विस्तारके लिये कोई ख़तरा नहीं है, यह बात यदि भारतीय पूँजीपतियोंको मालूम न होती, तो जहाज़, हवाई-जहाज़, कपड़े, चीनी, सीमेंट, काग़ज़, लोहाके राजा गांधीजीकी आरती न उतारते, और उनके कामोंके लिये अपनी थैलियोंका मुँह खुला न रखते। गांधीवाद पूँजीवादकी दुतरफ़ी ढाल है। वह डरा-धमकाकर विदेशी शासकों—विदेशी पूँजीपतियों—से उनके लिये कामका मैदान हासिल करता है ; वह समझा-बुझाकर मज़दूरोंको मिल मालिकोंका पोष्य-पुत्र, किसानोंको ज़मींदारोंका चिर-कृतज्ञ बनाना चाहता है। पहिले काममें उसे आशातीत सफलता मिली है, यद्यपि उसका सारा श्रेय यदि वह ख़ुद लेना चाहे, तो उसकी ग़लती होगी। साम्राज्यवादके विदेशमें पूँजी लगानेकी नीति तथा पिछले महायुद्धके बादकी अवस्थाने सारी दुनियाके पिछड़े देशोंमें उद्योगीकरण—नये कल-कारख़ाने क़ायम करने—की बाढ़-सी ला दी। किन्तु, किसानों-मज़दूरोंकी प्रगतिको गांधी या उनकी मृत-प्रसूति गांधीवाद पीछे खींचकर

नहीं ले जा सकता। भारतके भविष्यकी आशा तथा क्रान्तिके प्रधान नेता मज़दूर तो अभी ही हाथसे बेहाथ हो गये हैं। किसानोंका मोह भी गांधीवादी ज़मींदार-परस्त कांग्रेस-नेता अपने-अपने आचरणोंसे दूर करते जा रहे हैं।

(६) *पुराणपंथिता टूट रही है*—सारांश यह कि आर्थिक शक्तियाँ पुराणपंथी समाजके अंडेको फोड़कर बाहर निकल चुकी हैं। वह सहस्राब्दियोंके रुके विकासको फिरसे चालित कर रही हैं। सवाल पीछे लौटने और रुकनेका नहीं है।—सवाल है—क्या हमारी गति उतनी तीव्र है, जितना कि एक पिछड़े राष्ट्रको दूसरे प्रगतिशील राष्ट्रोंकी पंक्तिमें आनेके लिये होनी चाहिये? आर्थिक ढाँचेके टूटनेपर भी हम ऊपरी ढाँचेको बनाये रखना चाहते हैं—ब्राह्मण-कायस्थ, खत्री-बनिया, जाट-राजपूत, शेख़-सैयद, मोमिन-अशरफ़की अलग-अलग कोठरियाँ बनी रहें। हिन्दू-मुसलमान, जैनी-सनातनी, शिया-सुन्नीके झगड़े जारी हैं। जिस प्रबल शक्तिके सामने सहस्राब्दियोंसे पवित्र माना जाता, भीतरी ढाँचा नहीं ठहर सका; उसके प्रहारको यह ऊपरी ढाँचा बर्दाश्त कर सकेगा, यह असम्भव है। हम बाहरी ढाँचेमें दरार पड़ते देख रहे हैं। मेरे नाना एक हिन्दू फ़ौजी डाक्टरको इसीलिये हिन्दू नहीं मानते थे, कि वह अंग्रेज़ों-जैसा कपड़ा पहनता था, वह विलायत हो आया था। नाना ही क्या, डाक्टरकी औरत उसे क्रिस्तान कहकर छोड़ गई थी। उन्हीं नानाका नाती मैं हूँ, जिसकी क़लमसे निकली इन पंक्तियोंको आप पढ़ रहे हैं। यही नहीं, मेरे एक ब्राह्मण दोस्तकी धर्मभीरु पत्नीका आग्रह है, कि मैं अपनी अ-हिन्दू (रूसी) स्त्रीको लाऊँ, और वह उसे साड़ी पहनाकर चौकेके भीतर ले जायें। ऊपरी ढाँचा भी बदल रहा है; किन्तु इसमें शक नहीं, उसकी गति बहुत मंद है, इसीलिये मज़हब और जातिके झगड़े हम भारतमें अब भी होते देख रहे हैं।

नवम अध्याय

समाजवादी मानव-समाज

हज़ारों वर्ष हो गये, जबसे वर्ग-शासन शुरू हुआ। जिस वर्गके हाथमें आर्थिक साधन तथा सम्पत्ति थी, उसीके हाथमें शासन गया, और उन्होंने अपनी इस शक्तिके बलपर निर्बलोंका उत्पीड़न किया। इन हजारों वर्षोंमें समाजके तरह-तरहके विकास होते भी हमने जनताकी अधिक संख्याको सारे संसारके भरण-पोषणका भार वहन करते भूख और दीनताकी चक्कीमें पिसते देखा; जब कि उन्हींके श्रमके बलपर चन्द व्यक्ति बड़े सुख और विलासका जीवन बिताते रहे। इन चन्द व्यक्तियोंने दूसरेके धन, स्त्री या स्वतंत्रताके अपहरणके लिये युद्ध घोषित किया, और बहुसंख्यक जन मृत्युके मुँहमें चले गये। इन चन्द व्यक्तियोंने बहुतोंके लिये क़ानून बनाये—तुम्हें इस परिस्थिति-में यह काम करना होगा, तुम्हारे श्रमके लिये इस तरहसे वेतन मिलेगा, तुम्हें इस तरह सोचना, बोलना और चलना होगा; और वह वैसा करते रहे। उन्होंने हाल तक, सिवाय असह्य होनेपर चन्द छोटी-छोटी बग़ावतोंके, चुपचाप सारे अत्याचारोंको सहा।

लेकिन, इन हज़ारों वर्षोंमें बहु-संख्यकोंपर होते दारुण अत्याचारों के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाले, उत्पीड़न-शून्य नये समाजका स्वप्न देखनेवाले भी ज़रूर पैदा हुए; यद्यपि उनकी संख्या कम थी, उनकी आवाज़ क्षीण थी; किन्तु शोषण उत्पीड़नके बढ़ावके साथ-साथ यह क्षीण आवाज़ भी ऊँची होने लगी थी। मगर, जब तक वह आवाज़ शून्य अवास्तविक आकाशसे आती रही, तब तक उसमें वह ताक़त नहीं

आई, जो कि ठोस पृथिवी-तलसे उनके घने वायुमंडलमें गूँजनेपर पिछली एक शताब्दीके भीतर देखी गई।

क. *ख्वाबी समाजवाद

मानव-समाजके भीतरकी विषमता और भयंकर उत्पीड़नको कुछ लोगोंने दिमाग़ी परिवर्त्तन लाकर बदलना चाहा। उन्होंने धर्मकी दुहाई दी, ईश्वरकी क़सम खाई, मनुष्यके उच्च भावोंसे अपील की, उसकी बुद्धिको दूरके फ़ायदेको सुनाकर पलटना चाहा। और, चाहा कि सम्पत्तिमें वैयक्तिक स्वार्थ रहे और, सारे समाजके हितके लिये समाजका संगठन हो। ऐसे समाज-वादियोंको हमने यहाँ स्वप्नचारी समाजवादी कहा है। वस्तुवादी समाजवादकी प्रगतिमें इनका भी हाथ था; इसलिए इनका भी ज़िक्र होना ज़रूरी है। हम बतला चुके हैं कि लिखित इतिहासमें जन-सत्ताक समाजको मौन रहकर उपेक्षित किया गया है; फिर प्राचीन समाजके अत्याचारोंसे विद्रोह करनेवालोंका ज़िक्र हमें लिखित इतिहासमें मिलेगा, इसकी आशा नहीं रखनी चाहिये। इसलिए, इस विषयमें जो सामग्री हमें इतिहाससे मिलती है, उसीसे उस समाजके विद्रोहका परिणाम नहीं आँकना चाहिये।

१. एशियाई विचारक

(१) यहूदी सन्त (८००-६०० ई० पू०)

(क) अमो (८०० ई० पू० —सामाजिक असमानताके खिलाफ़ आवाज़ उठानेवालोंमें सबसे पुराना नाम अमोका आता है। फ़िलस्तीनके तेकोआ स्थानका यह एक अनपढ़ चर्वाहा था। बनी-इस्राईल (यहूदियों)-के दमिश्क-विजयके बाद वह फ़िलस्तीनके सुख और समृद्धिका ज़माना था, कमसे कम जहाँ तक शासक जातिका संबंध था। लेकिन, चन्द व्यक्तियोंके सुखसे समाज सुखी नहीं कहा जा सकता। अमोने उन्

---

* Utopean = उटोपियन

धनी सत्ताधारियोंके बारेमें कहा*—"वह हाथी-दाँतके पलँगपर लेटते हैं···और रेवड़के मेमनोंको खाते हैं। वह सबसे अच्छी शराब पीते हैं, और सर्वश्रेष्ठ फुलेल लगाते हैं।··इसके लिये वह रिश्वतें लेते हैं, घटिया अनाज बेंचते हैं, तोलमें घाटी मारते हैं।" उसने इन पापी धनियोंके बारेमें भविष्यद्वाणी की कि जो जाति इस अत्याचारको होने देती है, वह अवश्य मरेगी और धर्मी बच रहेंगे, उनका एक राज्य स्थापित होगा, जिसमें कि वह "उजड़े नगरोंको फिरसे आबाद करेंगे··· अंगूरके बाग़ लगायेंगे,···उसकी शराब पीयेंगे···।"

(ख) **इसैया** (७४०—७०० ई॰ पू॰)—ईसा पूर्व सातवीं सदीमें एक दूसरा यहूदी सन्त इसैया पैदा हुआ। यह बनी-इस्राईलकी बिपताका समय था। इसने शासक धनियोंको उनके विलासमय जीवन और ग़रीबोंपर होते अत्याचारको देखकर फटकारा था—"तुमने अंगूर-बाग़ोंको खा डाला। ग़रीबकी लूट तुम्हारे घरोंमें है। तुम्हारे मनमें क्या है, जो कि मेरे लोगोंको पीट-पीटकर बेकार करते हो, और ग़रीबों-के चेहरेको पीस रहे हो!" पृथिवीपर भगवान्के राज्यकी स्थापनाकी भविष्यद्वाणी यहूदियोंमें पहलेसे चली आती थी। इसैयाने कहा—उस राज्यमें सर्वव्यापी शान्ति रहेगी। जातियाँ "अपनी तलवारोंको तोड़कर फाल बनायेंगी, और अपने भालोंसे बाग़वान्की कैंचियाँ बनायेंगी।" "एक जाति दूसरे जातिके विरुद्ध तलवार नहीं उठायेंगी, और न फिर वह युद्ध (विद्या) सीखेंगी।"

जेर्मिया, एज़कियेल और कुछ दूसरे यहूदी सन्तोंने "भगवान्के राज्य"का सन्देश दिया। जितनी ही बनी-इस्राईल जाति विपत् और राजनीतिक परतंत्रताकी वेड़ीमें ज्यादा जकड़ी जाती रही, उतना ही

---

*बाइबल, आमो ६।४

उसके सन्तोंको इस "भगवान्‌के राज्य"का ख्याल ज्यादा आता था। एक लेखकके शब्दोंमें†—

"सन्तोंने एक ऐसे पार्थिव राज्य, राजनीतिक संगठनकी कल्पना की, जिसके निवासी चुने हुए बनी-इस्राईल होंगे, जिसका शासक एक आदर्श दाऊदी राजा होगा, जिसमें यहोवाकी आत्मा काम करती होगी... ।"

(२) पूर्वी एशिया

(क) **बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०** —इस तरहके भारतीय विचारकों-के बारेमें हमें यहाँ ज्यादा कहना नहीं है ; क्योंकि एक तो उनकी संख्या कम है, दूसरे उनके विचारोंने पीछे समाजको इस विषयमें न प्रभावित किया, और न आजके समाजवादी विचारोंपर अप्रत्यक्ष रूपसे भी कोई प्रभाव डाला। भारतमें बुद्ध पहले आदमी मिलते हैं, जो कि व्यक्तिवाद और वैयक्तिक सम्पत्तिके विरोधी तथा संघवादके पक्षपाती थे। उन्होंने अपने भिक्षु-भिक्षुणियोंके संघमें आर्थिक साम्यवाद भी चलाया, इसका ज़िक्र हम पहले कह आये हैं। बुद्धके यह सामाजिक विचार विकसित होकर बड़ा रूप लेते ; किन्तु जिस एशियाई समाजमें उनका बीज पड़ा, वह प्रगतिहीन समाज था, इसलिये कोई आश्चर्य नहीं, यदि वह बीज अंकुरित नहीं हो सका।

(ख) **मुने-चन्-पो (१८४६-४७ई०)**—बुद्धके विचारोंसे प्रभावित हो तिब्बतके शासक मुने-चन्-पोने अपने यहाँ दुःख और दरिद्रताके हटानेके लिये सम्पत्तिमें समानता लाना ज़रूरी समझा, और ऊपरसे लोगोंपर साम्यवादको लादना चाहा। मुने-

†The History of Utopian Thought (J. O. Hertzler)' P. 71

चन्-पोने अपने थोड़े समयके शासनमें तीन बार सम्पत्तिका समान बँटवारा किया। पुराने इतिहास मुने-चन्-पोके कामको सहानुभूतिकी दृष्टिसे नहीं देखते थे। उन्होंने इसका वर्णन इसलिये किया कि वह मध्य-एशिया, तिब्बत, पश्चिमी चीन और हिमालयके शासक सम्राट् स्रोङ्-चन्-गेम्बो तथा उसके वंशके इतिहासकी एक कड़ीको छोड़ न सकते थे। मुने-चन्-पोने साम्यवादका प्रयोग, जान पड़ता है, सिर्फ़ तिब्बतमें किया था। प्रयोग सिर्फ़ सम्पत्तिके वितरणका था। इतिहास-कार लिखते हैं कि हर बँटवारेके बाद आलसी आदमी पाये धनको चंद दिनोंमें खो बैठे, और मितव्ययियोंके पास फिर धन जमा होने लगा। तीसरी बारके तजर्बेके बाद भी जब मुने-चन्-पो बाज़ नहीं आता था, तो उसकी अपनी माँने बेटेको ज़हर दे दिया। मुने-चन्-पो पागल था, इसे ऐतिहासिक भी नहीं लिखते; फिर जिस तरहका चित्र हमें यहाँ दिखलाई पड़ता है. उसमें बिल्कुल तोड़-मरोड़ मालूम होती है। तिब्बतीय जातिको सभ्यतामें आये अभी सिर्फ़ दो सौ वर्ष हुए थे, वह अपने देश-में अकेली जाति थी; और जन-युगकी स्मृतियाँ उसमें अभी भी ताज़ी थीं। साम्राज्य-विस्तारसे वैभव बढ़ा; किन्तु उससे चंद परिवार फ़ायदा उठा रहे थे, दूसरी ओर अधिकांश जनता—जिसके तरुण चीन, भारत और मध्य-एशिया तकको अपने खूनसे रँगनेके लिये मजबूर हुए थे—की हालत गिरती, असमानता बढ़ती जा रही थी। इस परि-स्थितिमें मुने-चन्-पोने यह क़दम उठाया था, और क़दम इतना गंभीर था कि जिससे सबसे ज्यादा नुक़सान उसके अपने वंश और वर्गको था, इसीलिये माँने मातृत्व छोड़ना स्वीकार किया।

(ग) **मज़्दक (४८४ ई०)**—ईसाकी पाँचवीं सदीमें ईरानमें मज्दक नामक एक विचारक पैदा हुआ। उसने घोषित किया कि सभी मनुष्य समान पैदा हुए हैं, और जीवन भर उन्हें समान ही रहना चाहिये। सम्पत्ति ही नहीं, विवाह-संबंधको भी उसने सांघिक करनेपर ज़ोर दिया।

उसके भाषण और युक्तियोंमें इतनी शक्ति थी कि अखामनशी (दारा), पार्थी और सासानी राजवैभवका अनुभव रखनेवाले ईरानी हज़ारोंकी तादादमें मज्दकके सिद्धान्तको अपनाने लगे। मज्दककी आध्यात्मिक शिक्षा थी—संयम, श्रद्धा और जीव-दया। मज्दकके विचार झोपड़ियों तक ही नहीं पहुँचे ; बल्कि स्वयं शाह कवद (४८७-९८ ई०) उसका अनुयायी बना। साम्यवादकी इस तरहकी सफलतासे शासक और पुरोहितवर्गका स्वार्थ ख़तरेमें पड़ रहा था, इसलिये प्रधान पुरोहित और सामन्तोंने षड्यंत्रकर कवदको तख्तसे उतार दिया। नये राजा जामास्पको भाईके प्राणदंडके लिये बहुत उकसाया गया ; किन्तु उसने वह न कर कवदको जेलमें बंद कर दिया। कुछ समय बाद कवद जेलसे निकल भागा और हूणोंकी सहायतासे फिर तख्त-पर बैठा। यद्यपि अब भी वह मज्दकी था ; लेकिन सर्कारी तौरपर उसने उसका समर्थन करना छोड़ दिया। मज्दकियोंकी ताक़त बढ़ती ही गई। अब कवदको ख़ुद तख्त छीननेका डर होने लगा।—आखिर भावुकतासे पार्थिव सुख बड़ा है। कवद अब साम्यवादियोंका विरोधी हो गया, और उसके हुक्मसे हज़ारों मज्दको क़त्ल किये गये। मज्दक अभी भी जीवित था और उसकी शक्ति कम होनेकी जगह बढ़ती जा रही थी, जब कि अपने न्यायके लिये मशहूर नौशेरवाँ (५३१-७८) ईरानका शाह बना। उसने साम्यवादके ख़तरेसे देशको मुक्त करनेके लिये मज्दक और उसके एक लाख अनुयायियोंको क़त्ल कराया।—वर्ग-स्वार्थ एक सीमा तक ही न्यायका चोला पहिने रह सकता है। साम्यवादियों-का यह क़त्लेआम इतनी महत्त्वपूर्ण घटना समझी गई कि शाह-ने ख़ुशरोकी जगह अपनी नई उपाधि नव-शिरवान (नया राजा) स्वीकार की।

(घ) मो-ती (४७९-३८१ ई० पू०)—चीनके मो-तीके समाजवादी विचारोंके बारेमें हम पाँचवें अध्याय (पृष्ठ ११३)में कह आये हैं।

(३) यूनानी और रोमन विचारक

(क) अफ़लातूँ (४२७-३४७ ई० पू०)—अफ़लातूँ के साम्यवादी विचारोंके बारेमें हम कह आये हैं। अफ़लातूँ ने जिस साम्यवादी समाजकी कल्पना की थी, वह "भूतलपर भगवानका राज्य" जैसी धार्मिक कल्पना न थी, तो भी उसमें मानसिक उड़ान ही ज्यादा थी। अफ़लातूँ ऐसा उच्च-वर्गीय साम्यवादी शासन चाहता था, जिसका संचालन साधारण जनताकी ही रायसे नहीं, बल्कि दार्शनिक साम्यवादियोंके एकाधिपत्यसे होना चाहिये। शिल्पकार, किसानको राजशासनमें अधिकार नहीं होना चाहिये, क्योंकि उसमें उसकी योग्यता नहीं। अफ़लातूँ की साम्यवादी कल्पना निरी कल्पनापर आश्रित थी, इसलिए उसमें दोष होना ज़रूरी है : किन्तु अफ़लातूँ के 'प्रजातंत्र' ग्रन्थने पीछेकी समाजवादी धारापर बहुत असर डाला, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

(ख) सेनेका (३ ई० पू०-६५ ई०)—रोमके उत्कर्षके ज़मानेमें जहाँ एक ओर वैभवकी अट्टालिकाएँ और उनमें बसनेवाले नर-नारियोंका विलासपूर्ण जीवन था, वहाँ ग़रीबों और दासोंकी अवस्था उतने ही परिमाणमें दुःखमय और दयनीय थी। सेनेका रोममें ऐसे ही समयमें पैदा हुआ था। सेनेकाको ग़रीबोंके रक्तको चूसकर होता यह विलास पसंद न था, वह प्राकृतिक अवस्थाके साम्यवादका प्रशंसक था, जैसा कि उसने अपने एक पत्रमें लिखा था—

"सामाजिक धर्म तभी तक पवित्र और अबाध रहे, जब तक कि लोभने समाजको अपने जालमें नहीं फँसाया, और दरिद्रता नहीं आ मौजूद हुई ; क्योंकि मनुष्यने जैसे ही किसी चीज़को 'मेरा' कहना आरम्भ किया तभीसे वह सभी चीज़ोंका स्वामी नहीं रह गया। प्रारम्भिक मानव और उसकी नज़दीकी सन्तानें प्रकृतिका अनुसरण करती रहीं, वह पवित्र और निर्मल रहीं। जब पाप भीतर घुसे, तो राजा अपनी शक्ति दिखानेके

लिए मज़बूर हुए, और उन्होंने दंड-विधान बनाये। वह प्रारम्भिक युग कितना सुन्दर था, जब कि प्रकृतिकी देन सबकी सम्मिलित संपत्ति थी, और सभी सम्मिलित ही उसका उपभोग करते थे, उस समय लोभ तथा विलासने मानवोंमें फूट नहीं डाली थी, और न उन्हें एक दूसरेका दुश्मन बनाया था। वे मिलकर सारी प्रकृतिका उपभोग करते थे, जिससे सार्वजनिक सम्पत्तिपर उनका सुरक्षित अधिकार था ; जिनमें एक भी दरिद्र नहीं पाया जाता था। उनके बारेमें मैं क्यों न खयाल करूँ कि वे सभी मानवोंमें धनाढ्यतम मानव थे।"

२. मध्यकालीन यूरोपमें समाजवादी धारा

बाइबलके "भगवान्‌के राज्य"की गूँज ईसाइयतमें मौजूद थी, इसलिए कभी-कभी उसकी ओर भी किसी किसीका ध्यान चला जाता था। बर्बर जर्मनोंके हाथसे रोम-साम्राज्य अभी-अभी नष्ट हुआ था, जब कि ईसाई सन्त अगस्तिन (३४५-४३० ई०) अपने दार्शनिक और धार्मिक विचारोंका प्रचार कर रहा था। रोम जर्मनोंके हाथोंमें जाकर जब उजड़ चुका था, उसी वक्त अगस्तिनने अपनी पुस्तक "भगवान्‌की नगरी" लिखी थी। इसमें उसने स्वर्ग और पृथिवीपर भविष्यमें क़ायम होनेवाली एक नगरीका चित्र खींचा था, जिसमें कि सारे प्राणी अपने कर्त्ताके साथ शान्तिसे रहेंगे, और सभी एक दूसरेकी भलाई करेंगे। अगस्तिनकी 'भगवान्‌की नगरी'में मनुष्यको ज़्यादा करना न था, क्योंकि वह भगवान्‌के प्रसादके रूपमें मिलनेवाली थी।

जिस वक्त इतालीमें अगस्तिन यह खयाल फैला रहा था, उसी वक्तके आसपास भारतमें भी एक धर्म-नगर सम्भलकी कल्पना चली थी। बौद्धोंकी परम्पराके अनुसार उत्तर दिशामें सम्भल देश है ; वह बोधिसत्त्वोंका देश है। वहाँ सभी समान, 'अमम', 'अपरिग्रह' हैं, सभी सुखी हैं, इत्यादि। यह कल्पना और पुराने समय तक जाती है, तिब्बतीय

और महायान साहित्यमें जो वर्णन सम्भलका आया है, वह बुद्धके वचनोंमें आये उत्तर-कुरुसे मिलता-जुलता है। बुद्धने उत्तर-कुरु देश-में फल-संचयकालके साम्यवादका चित्रण किया है। उसी कल्पनाको, मालूम होता है, सम्भलके रूपमें बदल दिया गया। यही सम्भल फिर हिन्दुओंके पुराणोंमें भविष्यके अवतार कल्किका जन्म-नगर बना दिया गया. और आज हिन्दू पुराण-विश्वासी आशा लगाये हैं कि पृथिवीको अधर्मसे मुक्त करनेके लिये ब्राह्मण-कुमारी कन्यासे कल्कि पैदा हो, घोड़ेपर सवार हो अपनी तलवारसे संसारके विधर्मों और अधर्मों-का सर्वनाश करेंगे, और फिर ब्राह्मणोंके धर्मका राज्य स्थापित करेंगे। सम्भलकी बौद्ध-कल्पनामें जो एक तरहके साम्यवादकी गंध थी, उसका यहाँ कोई पता नहीं। यह निराश ब्राह्मण धर्मकी तलवारके बल-पर अपने प्रभुत्व स्थापन करनेकी कल्पना है। तिब्बतमें अब भी सम्भलकी कल्पनाका बहुत ज़ोर है, यद्यपि वह उस अवस्थाको अपने यहाँ लानेके लिये नहीं है; बल्कि जी या मरकर वहाँ जानेके लिये। सम्भल पृथ्वीपर है, इसलिये कुछ तिब्बती धर्म-गुरुओंने उसके रास्ते और यात्राके बारेमें पुस्तकें भी लिखीं हैं। सोवियत्-शासनके स्थापित होनेपर तो साम्यवादसे सहानुभूति रखनेवाले कुछ मंगोल और तिब्बती लामोंने रूसकी भूमिको ही चङ्-सम्भल (उत्तर सम्भल) कहकर मशहूर करना शुरू किया। प्रसिद्ध चित्रकार निकोला रोयरिकने सम्भलकी इस कथाको लेकर एक पुस्तक लिखी है।

(१) *सवोनरोला (१४५२-९८ ई०)*—अरबोंकी प्रधानताके ज़माने-में यूनानी दर्शन और साहित्यका पठन-पाठन फिर शुरू हुआ, यह हम अन्यत्र* बतला चुके हैं। इस पठन-पाठनका असर यूरोपकी बौद्धिक स्वतन्त्रता लाभ करनेमें बहुत हुआ, खासकर अफ़लातूँके प्रजा-तन्त्रने सामाजिक विचारोंकी प्रगतिमें शुरू-शुरूमें बहुत मदद दी।

*देखो मेरा "दर्शन-दिग्दर्शन"।

अफ़लातूँ से डेढ़ हज़ार वर्ष बाद फ्लोरेन्स (इताली)का धर्म- प्रचारक सवोनरोला पैदा हुआ। फ्लोरेन्सके शासक-वंशसे लोग ऊब गये थे। उन्होंने उसे हटा दिया और अपने यहाँ एक प्रजातंत्र क़ायम करना चाहा। किन्तु, उनके पास न कोई योजना थी और न कोई योग्य नेता। उधर प्रतिगामी शक्तियाँ फिर शासन-सूत्रको अपने हाथमें लेना चाहती थीं। ऐसे वक़्तमें अपने उपदेशोंके लिये मशहूर फ़्लोरेंस नगरके प्रभावशाली ईसाई साधु सवोनरोलाने नेतृत्व अपने हाथमें लिया। उसने वेनिस्के प्रजातंत्रके विधानके आधारपर फ्लोरेन्सके लिये एक विधान बनाया और लोगोंके सामने रखते हुए कहा कि हमें बुराइयाँ दूर करनी होंगी, भगवान्के नियमोंके अनुसार शासन करना होगा। एकत्रित जनताने बड़े उत्साहसे नये विधानका स्वागत किया। नगरके सारे जीवनमें कायापलट हो गई। स्त्रियोंने अपने आभूषणों और शौक़ीनीके वस्त्रों-, को त्याग दिया। व्यापारियोंने पापसे अर्जित धनको लौटा दिया। गिर्जे नागरिकोंकी अत्यंत जनप्रिय संस्था बन गये। परमार्थका स्रोत फूट निकला—"नगरमें पवित्रता, गम्भीरता और न्यायका राज्य था, और सन मार्कोंके संन्यासी (सवोनरोला का सभी जगह महान् उपकारी-के तौरपर स्वागत हो रहा था।"

लेकिन, इस जीवनको स्वार्थी-वर्ग कैसे बर्दाश्त कर सकता था? प्रतिगामी राजनीतिज्ञ पहलेसे खार खाये बैठे थे। रोमका पोप—रोमन कैथलिक ईसाई-धर्मका राजा—स्वयं एक वैभवशाली महन्थ, और धनिकवर्गका आदमी था। वह सवोनरोलाके इस कामको कैसे सह सकता था? आख़िर धर्म भी तो चिरस्थापित अधिकारोंकी रक्षाके लिए है। ईसाका 'साम्यवाद' आध्यात्मिक चीज़ थी। उसका किसी तरहका प्रयोग संसारमें किया जाना धर्मके विरुद्ध ठहरा। इन दोनों विरोधियोंने सवोनरोलाके खिलाफ़ लोगोंको धर्म और स्वच्छन्दताके नामपर भड़काना चाहा, और फ्लोरेंसके कुछ लोग भी उनके जाल-

में आ गये। सबने मिलकर फलोरेंसके तरुण प्रजातंत्रपर हमलाकर उसे नष्ट कर दिया। सवोनरोलाको कुछ समय बाद पकड़ा गया, और धनियोंने यूरोपके इस साम्यवादीके ख़ूनसे अपने हाथोंको रँगा। सवोनरोलाकी मृत्युके साथ धार्मिक समाजवादियोंकी प्रधानताका अन्त होता है।

(२) *इंगलैंडमें समाजवादकी पहली लहर*—(क) **किसानोंका विद्रोह (१३८१ ई०, १४४६ ई०)** – समानता प्रकृतिका नियम है। हवा-पानीकी भाँति प्रकृतिके सभी देशोंमें प्रकृतिके सारे पुत्रोंका समान अधिकार है, यह ख्याल अक्सर मनुष्यके दिलमें उठता है, खासकर जब कि धनियोंका उत्पीड़न उग्र हो उठता है। १३८१ई०में इंगलैंडमें किसानोंका विद्रोह ऐसी ही अवस्थामें इसी सबको लेकर हुआ था। इंगलैंड अब तक किसानोंके गाँवोंका देश था। तेरहवीं सदीके शुरूमें—जिस वक़् कि भारतमें तुर्क-शासन क़ायम हो रहा था—इंगलैंडमें व्यापार और विलासके शिल्पकी वृद्धि होने लगी, और उस सदीके मध्यमें पहुँचने तक इंगलैंडमें एक दर्जनके क़रीब शहर बस गये। ये नगर गाँवके किसानोंकी पैदावारपर जीते थे; इसलिए किसानोंकी चीज़ोंकी माँग बढ़ चली, जिससे कृषिकी उपजका दाम ही नहीं बढ़ा, बल्कि खेतोंका मूल्य भी बढ़ा। अब अमीर-ज़मींदार किसानोंकी ज़मीन-पर लोभ-भरी निगाहसे देखने लगे। परती, ग़ैर-आबाद ज़मीनको—जो कि सारे गाँवके चारागाह और दूसरे कामके लिये होती थी—उन्होंने घेरकर कब्ज़ा करना शुरू किया। उस समय 'किसान' बिना सम्पत्तिके कमकर (कम्मी) नहीं थे; बल्कि ग्रामीण सहयोगी संगठनोंके साझेदार थे। उनमें परम्परासे चले आते स्वतंत्रताके भाव भी मौजूद थे।" अभी सांघिक जीवन उनके जीवनसे बिल्कुल लुप्त नहीं हुआ था। सार्वजनिक ज़मीनके इस प्रकार लार्डों द्वारा घेरे जानेको उन्होंने वैयक्तिक लूट समझा, और लार्ड (ज़मींदार) उनकी दृष्टिमें वैसा

करके पाप कर रहे थे। विद्रोह हो जानेपर उनकी माँगें थीं स्वतंत्रताके पुराने अधिकारोंको फिरसे पाना, और सार्वजनिक भूमिको लौटा देना।

(i) *जान वाइक्लिफ़् (मृत्यु १३८४ ई०)*—किसानोंके इस विद्रोहमें नेताओंकी कमी नहीं थी। ऑक्सफोर्ड उस वक्त एक मठका विद्यालय था, वहाँके साधु-विद्यार्थियोंने—जिन्होंने कि अफ़लातूँ और सेनेकाको पढ़ा था—विद्रोही ख्यालातके फैलानेमें काफ़ी भाग लिया था। किसानोंके शिक्षित नेताओंमें जान वाइक्लिफ़् एक था। वह प्राकृतिक न्यायका प्रचार करता था—समाजके आरंभमें न वैयक्तिक सम्पत्ति थी, न दीवानी क़ानून। मनुष्य पवित्रता और साम्यवादके युग-में रह रहे थे। मनुष्यके *पतन*के बाद, मनुष्यका आचार-बल निर्बल हो गया, और उसे कृत्रिम सहायताकी ज़रूरत पड़ी। इसलिये, भगवान्-ने नागरिक सर्कार क़ायम की, जिसमें कि मनुष्य आपसमें प्रेम करें। सबसे अच्छी सर्कार न्यायाधीशोंकी होती है, इसके बाद राजाओंकी।

(ii) *जान बाल (१३८४ ई०)*—वाइक्लिफ़्के अनुयायियोंमें जान बाल भी था, जो कड़ी धातुका बना एक विद्रोही साम्यवादी था। उसका कहना था, जनताको चाहिये कि अत्याचारियोंको खतम कर दे; लार्डों और जो भी संघ-समाजको चोट पहुँचाते हैं, उन्हें जड़-मूल-से नष्ट कर दे। जब ये खतम हो जावेंगे, तो सभी स्वतंत्रताका उपभोग करेंगे। उसके भाषणोंका नमूना परम्परा हमें इस प्रकार देती है—

"मेरे भले लोगो! इंगलैंडके लिये तब तक अच्छा नहीं है, न होगा, जब तक कि सभी सामान साझेका न हो, और जब तक कि भद्र जन और कम्मीके भावको हटाकर हम सभी समान न हो जायँ। जिनको हम लार्ड कहते हैं, उनका क्या हक़ है कि वे हमारी सबसे अच्छी चीज़ों-के मालिक हों? उनमें कौन सी ऐसी योग्यता है? वह क्यों हमें गुलामीमें रख रहे हैं? यदि हम सभी एक माँ और एक बाप—आदम और हौवा—से पैदा हुए हैं, तो वह कैसे सिद्ध कर सकते हैं कि वह हमसे अधिक—

स्वामी हैं ?—सिवाय इसके कि वह अपने इस्तेमालके लिये हमसे काम कराकर चीज़ोंको उत्पादित कराते हैं। वह मखमलकी पोशाक और कीमती पोस्तीनका कोट पहनते हैं और हम मोटा खद्दर। उनके पास खानेके लिये शराब, मसाले और अच्छी रोटियाँ हैं, जब कि हमारे लिये राई (कदन्न)की रोटी, सड़ा मांस, पुआल और पानी है। उनके पास निवास, सुन्दर गढ़ हैं ; और हमारे लिये चिन्ता और काम है, हमें खेतोंमें हवा और वर्षा बर्दाश्त करनी होती है। यह हम तथा हमारा श्रम ही है, जिससे कि गुलछर्रे उड़ानेके लिये उन्हें सामग्री मिलती है, तो भी हमें कम्मी कहा जाता है, और उनके हुकुमके बजा लानेमें असमर्थ होनेपर हमारी डंडोंसे खोज ली जाती है।"

बालने *किसान-विद्रोह*में क्रियात्मक रूपसे भाग लिया, और विद्रोहके असफल होनेपर उसे फाँसीपर लटकाया गया।

(iii) जैक-केड (*१४४६ ई०*)—१४४६में केन्टके किसानोंके विद्रोहमें भाग लेनेवाले जैक केड और उसके अनुयायियोंकी भी बाल जैसी ही शिक्षा थी। शेक्सपियरने अपने नाटक "षष्ठ हेनरी"में केडके मुँहसे कहलाया है—

"मैंने इसपर सोच लिया, ऐसा ही करना होगा। जाओ, राज्यके सारे दफ्तरको जला डालो। मेरा मुँह इंगलैंडकी पार्लमेंट होगा।··· और अबसे सारी चीज़ें साझी होंगी।"

इस तरहके विद्रोहोंके होते रहनेपर भी लार्ड लोग सार्वजनिक भूमिपर कब्ज़ा जमाते ही गये। बे-दखल किसान भागकर शहरोंमें जमा होने लगे। बेकारोंकी अधिकताके कारण श्रमकी प्रतियोगिता बढ़ी और पहिलेसे चले आते शिल्पियोंके संगठन—*श्रेणी*—छिन्न-भिन्न हो गये।

(ख) **सर टामस मोर (१४७८-१५३५ ई०)की उटोपिया**—तलवारके संगठित बलपर किसानोंके विद्रोहको दबाया जा सकता था,

किन्तु समाजकी आर्थिक विषमतासे आँखें नहीं मूँदी जा सकती थीं। किसानोंके पथके भिखारी या ज़मींदारोंके कम्मी बननेपर कुछ व्यक्तियोंके धनके साथ भीषण दरिद्रता जिस तरह बढ़ी थी, उसे देखकर शासक-वर्गके भी किसी व्यक्तिका हृदय दहल उठना कोई अचरजकी बात नहीं। सातवें हेनरीके लार्ड चान्सलर* सर टामस मोरने उस वेदनाको अनुभव किया। वह राजाका मन्त्री था, इसलिये समाजको उस अवस्थामें रहनेके लिये मज़बूर करनेवाले शासक-वर्गकी सीधी आलोचना नहीं कर सकता था। उसने इसे एक कल्पित कथाके रूपमें पेश किया। इस कथा-पुस्तकका नाम "*उटोपिया*" ('कहीं नहीं') था। मोरके कुछ ही समय बाद कुछ कल्पित कथायें हिन्दीमें भी जायसीके *पद्मावत* और धरणीदास (जहाँगीर-औरंगज़ेबके सम-सामयिक)के *प्रेमप्रकाश*के रूपमें लिखी गई थीं। किन्तु हमारे काठ-मारे समाजमें वह चेतना कहाँ थी, कि लेखक सामाजिक अन्यायके खिलाफ़ क़लम उठाते। यहाँ तो प्रेम और सूफ़ीवादके पर्देमें या तो यौन-अतिचारका प्रचार किया जाता था, या अपने लिए महन्ताई तैयार की जाती थी। व्यापारिक झगड़ोंके पंच तथा इंगलैंडके एक प्रभावशाली मन्त्रीकी हैसियतसे मोरने इंगलैंडके तत्कालीन समाजकी भीतरी अवस्थाको भली प्रकार देखा था। वह अपने समयके सर्वश्रेष्ठ विद्वानोंमें गिना जाता था। उसके समय तक अमेरिकाका आविष्कार हो चुका था, और वहाँके बारेमें तरह-तरहकी कथायें प्रचलित थीं। इन कहानियोंका एक नमूना वह कथा है, जिसमें एक लेखकने कनारी द्वीपसे बड़े अन्तरीप तककी समुद्र यात्राका वर्णन किया है—†

---

* प्रधान-मंत्रीसे नीचेका एक प्रमुख मंत्री।

† J. H. Luptonके Utopiaके संस्करणकी भूमिका p. xxxviii

"लोग प्राकृतिक अवस्थामें रहते हैं, उन्हें संयमवादी नहीं भोगवादी कहा जा सकता है•••(वैयक्तिक) सम्पत्ति उनके पास बिल्कुल नहीं है, सभी चीज़ें साझी हैं, वहाँ कोई राजा नहीं, कोई अधिपति नहीं। हरएक व्यक्ति अपना स्वामी है।•••सोना, मोती, जवाहर और ऐसी दूसरी चीजें, जिन्हें हमारा यूरोप विभव समझता है, उन्हें वे लोग ख्यालमें भी नहीं लाते, यही नहीं बल्कि उनसे घृणा करते हैं।"

मोरने अफ़लातूँ और सेनेकाको पढ़ा था उसने नई दुनियाकी इन कथाओंको सुना था; साथ ही वह अपने आस-पास माँस-रक्त-हीन अस्थि-कंकालों और उनके करुणापूर्ण जीवनको देख रहा था। इनसे उसकी कल्पनाको उत्तेजना मिली और उसने अपने समयके इंगलैंड और उस काल्पनिक साम्यवादी जगत्—*उटोपिया*—के मानव-जीवनका तुलनात्मक चित्रण किया, और अप्रत्यक्ष-रूपेण चाहा कि उसके समयके वर्ग-शासन और शोषणको हटाकर साम्यवादी समाज क़ायम किया जाय।

*उटोपिया*में एक विद्वान् पोर्तुगीज़ नाविक राफ़ेल हेथलोडेके मुँहसे *उटोपिया* द्वीपका वर्णन कराया गया है। हेथलोडे उटोपियाकी अवस्थाका वर्णन करते बतलाता है, कि वहाँके लोग इंगलैंडसे कितने आगे बढ़े हुए हैं। हेथलोडे इंगलैंडके निकम्मे राजा, राजकुमारों और सर्दारोंपर प्रहार करता है वैयक्तिक सम्पत्तिकी बुराइयाँ बतलाता है। इसके विरुद्ध उटोपिया द्वीपके सामाजिक संगठनको चित्रित करता है। वहाँ कृषि और शिल्प दोनों व्यवसाय हैं; किन्तु कृषिकी प्रधानता है। सभी व्यक्तियोंको एक न एक काम करना होता है। काम सभी बराबर समझे जाते हैं। चार घंटे काम और आठ घंटे विश्रामके होते हैं—बाक़ी समय व्यक्तिकी इच्छापर है। उत्पादित वस्तुओं—भोगों—में सबका समान अधिकार है। लोग अपनी आवश्यकताके अनुसार चीज़ें पाते हैं। "यद्यपि किसीकी निजी कोई चीज़ नहीं है, तो भी

हरएक आदमी धनी है। इससे बढ़कर धनी होना क्या हो सकता कि आदमी सुख और प्रसन्नताका जीवन जीये। न शोक है न भय है, न अपनी जीविकाकी चिन्ता है, न स्त्रीकी अप्रिय शिकायतोंकी फ़िक्र, न बच्चेके दरिद्र होने या लड़कीके दहेज़का तरद्दुद।" वहाँ पैसे, सोना-चाँदी, हीरा-मोतीकी इज्ज़त नहीं है। लोगोंके घर स्वच्छ सुंदर होते हैं, और उनमें ताला-कुंडी लगानेकी ज़रूरत नहीं। भोजनालय साझे हैं, जिनमें खानेके वक्त बच्चोंको सँभालनेके लिये दाइयाँ हैं। सर्कारमें प्रत्येक नागरिकको भाग लेनेका अधिकार है। *उटोपिया*का उद्देश्य है—"*अधिकतम संख्याको अधिकतम आनन्द*।" वह अपने नागरिकोंको न उनके धनके लिये सम्मानित करती है, न उनकी लूट या वंश-अभिमानके लिये; बल्कि वह उनका सम्मान करती है समाजकी सेवाके लिये।*

---

*शायद भारतीय भाषाओंमें भी—हिन्दीमें तो ज़रूर—पहिली *उटोपिया* मेरी *बाईसवीं सदी* है। उटोपिया लिखनेकी मुझे क्यों इच्छा हुई? उससे इन आदिम उटोपिया लेखकोंके मनोभावको भी समझा जा सकता है। '*बाईसवीं सदी*' यद्यपि १९२३–२४में लिखी गई, लेकिन उसका आरम्भ १९१८ ई०में हुआ, जब कि महायुद्धके अन्तिम वर्षमें भारतमें इन्फ्लुयेंजाका भारी प्रकोप हुआ था, और चन्द सप्ताहोंमें लाखों आदमी मर गये थे। काल्पीमें रहते वक्त मुझपर भी उसका हल्का-सा प्रहार हुआ था। साल भर पहिले रूसकी साम्यवादी क्रान्तिकी खबरोंके साथ ही मैंने पहिले-पहल साम्यवादका नाम सुना था। साम्यवादके बारेमें मैंने कोई पुस्तक नहीं पढ़ी थी, उसके विषयमें मेरा सारा ज्ञान अवलम्बित था, साप्ताहिक *प्रताप* (कानपुर)में जब तब निकले लेख या टिप्पणियाँ, और जहाँ तक मुझे स्मरण है, उसमें साम्यवादके सिद्धान्तके विषयमें उतना नहीं

(ग) **सोलहवीं सदीके किसान-विद्रोह**—मोरके मरनेके बाद भी कई सालों तक किसानों और मालिकोंका संघर्ष चलता रहा। सम-सामयिक लेखक पादरी राबर्ट क्रौलीके शब्दोंमें किसान कहते थे—

"बड़े गृहस्थ, धनी कसाई, वकील, व्यापारी, भद्र लोग, लार्ड हमारी आँखोंके सामने, हमारे घरोंको ले लेते हैं, हमारी मालगुज़ारीको बढ़ा देते हैं, भारी (और अनुचित) जुर्माने लगाते हैं, हमारी साझे-वाली जमीनको घेर लेते हैं ...और यदि शहरमें चले जायँ, तो वहाँ भी कोई आशा नहीं। क्योंकि, हम सुनते हैं कि इन लोभी पशुओंने वहाँकी सारी चीज़ें अपनी मुट्ठीमें कर ली हैं।"

छपा था, जितना साम्यवादी क्रान्तिकारियोंके जीवनपर। बीमार मैं दो-तीन दिन ही रहा हूँगा। उस वक्त पढ़ना-पढ़ाना बन्द था, और इधर रूसी क्रान्तिकी जब-तब निकलती ख़बरें और मनको बराबर कल्पनाके संसारमें विचरण करनेकी प्रेरणा कर रही थीं। जिज्ञासा होनेपर भी बाहरसे इतनी सामग्री सुलभ नहीं थी, ख़ासकर हिन्दी-उर्दूमें, जिन्हीं दो भाषाओंको उस वक्त मैं अच्छी तरह समझ सकता था; इसलिए चित्रकी दो रेखाओंको पाकर मैंने उसे पूर्ण करना चाहा, यह ध्यान रखते हुए कि भारतमें उससे क्या परिवर्त्तन होगा। 'बाईसवीं सदी'-का पहला ढाँचा इसी मानसिक स्थितिमें बना था। चार वर्ष बाद (१९२२में) जब मुझे लिखनेका अवसर आया, तो एक उटोपियावादीकी मनोवृत्तिके अनुसार मैंने उसे संस्कृत-काव्यमें लिखना चाहा—कुछ सर्ग लिखे भी; किन्तु इसी बीच जेलसे छूट गया, और वह काम वहीं रहा। चंद महीने बाहर रहनेके बाद फिर दो वर्ष (१९२३-२५ ई०)-के लिये जेल जाना पड़ा। इस वक्त तक उटोपिया (कल्पना)के जगत्से कुछ नीचे उतरा ज़रूर था; इसीलिये मैंने संस्कृत श्लोकोंमें न लिखनेकी जगह अपनी पुस्तक हिन्दीमें लिखी। उस वक्त तक शायद

इसके जवाबमें लार्ड लोग क्या कहते थे, इसे भी क्रौलीके शब्दों-में सुनिये—

"ये मर्दूद किसान ··नहीं चाहते कि भद्र लोग रहें। वह सभी आदमियोंको अपने-जैसा बनाना चाहते हैं; वह सभी चीज़ोंको साझी देखना चाहते हैं। वह हुकुम देना चाहते हैं कि हम अपनी भूमिका कितना लगान लें। वह हमारे बाग़ोंको उजाड़ देना चाहते हैं, और हमारे चरागाहोंको सबके लिये खोल देना चाहते हैं। हम उन्हें सिखलायेंगे, जिसमें कि वह और ज्यादा जानें। चूँकि, वह सबको साझी बनाना चाहते हैं, इसलिये हम उनके लिये कुछ भी नहीं छोड़ेंगे।"*

मोरकी मृत्युके १४ साल बाद किसानोंने फिर बग़ावत की। यही उनकी अन्तिम और ज़बर्दस्त बग़ावत थी।

अब तक इन किसानोंके साम्यवादको धर्म-द्वारा निन्दित नहीं किया जाता था। किन्तु, खतरा बढ़नेके साथ धर्मको सम्पत्तिवालोंके स्वार्थके लिये नंगा होकर मैदानमें आना पड़ा। पुरानी ईसाइयतने सुधारवादी ईसाई-धर्म—प्रोटेस्टेंट धर्म—का रूप धारण किया था, जिसने परम्परासे आते अन्य मिथ्याविश्वासोंकी भाँति ईसाइयतकी पुरानी साम्यवादी परम्पराको भी एक मिथ्याविश्वास समझा। पुरानी ईसाइयत-

---

ही कोई साम्यवादी पुस्तक पढ़ी हो; और दुनियामें उसी तरहकी उटोपिया दूसरोंने भी लिखी है, इसका मुझे बिल्कुल पता तक न था। मार्क्सवादके और ज्ञानके साथ यदि मुझे उटोपियोंके बारेमें पता होता, तो शायद मैं 'बाईसवीं सदी'के लिखने हीको स्थगित कर देता। दिमाग़ी दुनियामें विचरण करनेवाले अक्सर दिमाग़की कल्पनाको ज़रूरतसे ज्यादा महत्त्व दे देते हैं, और उनका ध्यान इधर नहीं जाता कि परिवर्त्तन एक ठोस वास्तविक आधार चाहता है।

*Robert Crowley, Select Work (1550), pp. 153-43

में मठ और साधु थे, जो थोड़ा-बहुत सांघिक जीवन मानते और बिताते भी थे। किन्तु, नये सम्प्रदायने साधु-आश्रमको हटा दिया। गृहस्थ पादरियोंको अपने लड़के-बच्चोंके भविष्यके लिये चिन्ता रहती थी; इसलिये वह वैयक्तिक सम्पत्तिके ज़बर्दस्त हामी थे। चारों ओर वैयक्तिक स्वार्थ और सम्पत्तिका दौर-दौरा था; इसलिये साम्यवादकी बात उस वक्तके शासकवर्गको बुरी मालूम होती थी। उस ज़मानेकी वाणी थे शेक्सपियर और स्पेन्सर जो कि दोनों साम्यवाद और जनवादके विरोधी थे।

(घ) बेकन (१५६१-१६२६ ई०)की **उटोपिया**—अब, एलिजाबेथका ज़माना आया, स्पेनकी शक्तिको इंगलैंडने खर्च किया, सुधारवादी ईसाई-धर्म विजयी हुआ। आदमियोंके दिमाग़में कुछ स्वतन्त्रताकी हवा लगने लगी। लोग आविष्कार, भौगोलिक अनुसन्धान-की ओर आकर्षित होने लगे थे। ऐसे ही समयमें वैज्ञानिक और दार्शनिक फ्रांसिस बेकन पैदा हुआ। उसकी *नवीन एटलान्टिस्* दूसरी मशहूर उटोपिया है। इस उटोपियामें साम्यवादी अर्थनीति-पर उतना ज़ोर नहीं है, जितना कि विज्ञानके प्रचारपर। बेकन-के *सुलेमानघर*में वैज्ञानिक निरन्तर नये वैज्ञानिक सत्योंकी गवेषणा-में लगे रहते हैं। बेकन साम्पत्तिक साम्यवादको नहीं मानता था। वह विज्ञानमें साम्यवाद मानता था। उसके राज्यका शासक राजा था, जो बहुत ही योग्य होता था।

(२) जर्मनी, इतालीमें

(क) **अन्द्रेयाएकी 'क्रिस्तानपुरी' (जर्मनी)**—सोलहवीं सदीमें अन्द्रेयाए (जर्मन) 'क्रिस्तानपुरी' और चम्पानेला (इताली)की 'सूर्यनगरी' दो उटोपियाएँ लिखी गईं। 'क्रिस्तानपुरी'में हरएक कमकर अपनी बनाई चीज़को एक सार्वजनिक अड्डेपर ले जाता है, और वहाँ अपने लिये आवश्यक चीज़को पाता है। उत्पादनका संगठन

पक्का है. और जो उसके ज़िम्मेवार हैं, वह पहिलेसे जानते हैं कि कौन-सी चीज़ कैसी और कितनी पैदा करनी होगी, वह इसकी सूचना मिस्त्री-को दे देते हैं।....वहाँ किसीके पास पैसा नहीं है ....।"

(ख) **चम्पानेला इतालीकी सूर्यपुरी**—चम्पानेलाकी *सूर्यपुरी*-का साम्यवाद पहिलेके सभी उटोपियाकारोंसे ज्यादा पक्का है। हरएक व्यक्ति जिस किसी चीज़की ज़रूरत रखता है, "वह उसे संघकी ओर-से मिलती है। मजिस्ट्रेट इस बातका ख्याल रखता है कि हक़से ज्यादा कोई चीज़ किसीको न मिले; तो भी आवश्यकताकी किसी चीज़से कोई महरूम नहीं रहता।" सूर्यपुरीमें न ग़रीबी है, न अमीरी। वहाँ लोग जानते हैं कि "चूर-चूर करनेवाली ग़रीबी आदमीको तुच्छ, ऐय्यार, चोर, चुग़लखोर, आवारा, मिथ्याभाषी, झूठा, गँवार, इत्यादि बनाती है। और अमीरी उन्हें आलसी, अभिमानी, विश्वासघाती, पंडितम्मानी, धोखेबाज़, गाल बजानेवाला, स्नेह-शून्य आदि बनाती है।"

साम्यवाद उनकी कर्मण्यताको कम नहीं करता। सूर्यपुरीके वासी "अपनी पितृभूमिके प्रति इतना अधिक प्रेम रखते हैं, जिसका (अन्यत्र) संभव होना मुश्किलसे हम विश्वास कर सकते हैं।"

३. सत्रहवीं सदीमें समाजवाद

इंगलैंड—पहिलेकी सदियोंमें इंगलैंडमें जो संघर्ष हुए, उनकी वजहसे शासक-वर्गके अधिकारोंको लोग अन्यायोपार्जित समझने लगे। इसके लिये कुछ करना ज़रूरी था। जब साधारण-जन अपनी साधारण बुद्धिसे सचाईके पास पहुँच रहे हों, और इसे खतरनाक समझा जाता हो, तो सबसे अच्छा तरीक़ा है बुद्धिके चमत्कार द्वारा बुद्धिको भूलभुलैयामें डाल देना। यह काम सत्रहवीं सदीके अंग्रेज़ दार्शनिकों—ह्यूगो ग्रोशियस् (१५८३-१६४५) और टामस हाब्स (१५८८-१६७९)ने की।

वर्ग-स्वार्थका समर्थक टामस हाब्स (१५८८-१६७६ ई०)—हाब्स अकबर–जहाँगीर–शाहजहाँका समकालीन था। सामाजिक चेतना उस वक्त हमारे यहाँ चिर-सुप्त थी; किन्तु उसी वक्त जनताके एक ख़तरनाक ख्यालसे शासकवर्गको बचानेके लिए वहाँ दार्शनिक मैदानमें उतर रहे थे। शासकवर्गके स्वार्थको ख़तरा तथा मेंहदी जौनपुरीके साम्यवादी विचारोंका हम ज़िक्र कर चुके हैं। मेंहदी सोलहवीं सदीमें पैदा हुआ था। किन्तु, उसके विचारोंपर ईरानके उन मज्दकियोंका प्रभाव पड़ा मालूम होता है, जिसने कि इस्लामके फ़ैलनेपर भी कई बार ज़ोर पकड़ा था, और उसे नौशेरवाँ, और बग़दादके खलीफ़ोंकी तलवार ख़तम न कर सकी थी। इस प्रकार मेंहदीका असर साधारण जनतापर नहीं, मुसलमानोंके कुछ भाग हीपर पड़ सकता था। हाब्सने वर्ग-शासनको न्याय्य साबित करनेके लिए ग्रोशियस्की तरह "सामाजिक क़बूलियत"*के सिद्धान्तपर ज़ोर दिया। हाब्सकी वकालतका सार यह है—यह सच है कि प्राकृतिक अवस्थामें साम्यवाद था लेकिन, मनुष्यमें जल्दी ही बुराइयाँ बढ़ने लगीं। उसमें शक्तिका लोभ उत्पन्न हो गया। इसके कारण निरन्तर मार-काट होने लगी जिसमें सबसे अधिक बलवान् और चालाक ही बच सकते थे। न्याय, दया, संकोचके क़ानून—जो कि प्रकृतिके क़ानून हैं—इस प्रकार बेकार हो गये। मानव-जातिके सामने अब दो ही रास्ते थे—या तो प्राकृतिक स्वतंत्रताको रखे, जिसका परिणाम था मार-काटके लिये लगातार तैयार रहना, दूसरा रास्ता था किसीके आधिपत्यको स्वीकार करें, और उसके ज़रिये शक्ति और सुरक्षा पायें। इन दोनों रास्तोंमें मानव-जातिने दूसरे रास्ते, और उसके साथ शान्तिको स्वीकार किया; क्योंकि जीवन और आत्म-रक्षाकी इच्छा मनुष्यमें जन्मजात है।

इस निर्णयके बाद लोगोंने शपथपूर्वक क़बूलियत करके बिना किसी

---

*Social Contract.

शर्तके साथ अपने अधिकारको एक आदमी (राजा) या कई आदमियोंकी सभा (प्रजातंत्र के हाथमें सौंप दिया और प्रतिज्ञा की कि वह अपने राजाके क़ानूनको मानेंगे। हाब्सके मतानुसार यह प्रतिज्ञा इतनी कड़ी है कि "चाहे एक राजा या अधिनायक आग्रहपूर्वक भी प्रकृतिके क़ानूनोंके विरुद्ध जायें, तो भी प्रजाको अधिकार नहीं है, कि उससे लड़ाई करे।*

शक्ति के इस प्रकारके हस्तान्तरित होनेके साथ प्राकृतिक *अवस्था*-का अन्त हुआ, और कृत्रिम अवस्था आरम्भ हुई ; जिसमें सम्पत्ति, धर्म तथा देशकी सारी बातोंके ऊपरकी *शक्ति* है। "असमानता और मेरा-तेराका क़ानून" भी पैदा हुआ ; अर्थात् "एक व्यक्तिका यह अधिकार है कि अपनी चीज़ोंको दूसरोंको इस्तेमाल न करने दे।"

इस तरह हाब्सने एक ही ढलेसे दो चिड़ियाँ मारीं—उसने वैयक्तिक सम्पत्तिका भी समर्थन किया और निरंकुश राजतन्त्रका भी। लेकिन, इंगलैंडका यह दार्शनिक अपने देशके विचारोंको कितना प्रकट करता था, कम-से-कम दूसरी बातमें ; यह तो हाब्सने खुद ३० जनवरी, १६४६को देखा होगा, जब कि चार्ल्स प्रथमका मुकुट शोभित सिर कटकर धूलमें लोट रहा था। यह शाहजहाँके शासनका मध्य-काल था या आजसे पंद्रह पीढ़ी पहिलेकी बात है।

हाब्सकी तरह जॉन लाक (१६३२-१७०४)—औरंगज़ेबके सम-सामयिक—ने भी निरंकुश-राजतन्त्रका समर्थन किया, साथ ही प्राकृतिक *अवस्था*के साम्यवादको भी नहीं क़बूल किया। वैयक्तिक सम्पत्ति लाकके ख्यालमें उस वक्त भी मौजूद थी। इसका समर्थन करते हुए उसने कहा—"(अमेरिकन) इंडियनने (खानेके लिये जंगलसे एकत्रित की गई चीज़ोंमें) अपना श्रम मिश्रित किया। इस तरह उसने उसमें एक ऐसी चीज़ (श्रम) मिलाई, जो कि उसकी अपनी

* *Elements of Laws.* (Thomas Hobbes)

थी।" प्राकृतिक अवस्थामें चीज़ोंका मूल्य नहीं-सा होता है। श्रमके द्वारा उनमें नौगुना मूल्य डाल दिया जाता है। श्रम-द्वारा सम्पत्तिका अधिकार मिलता है। इस तरह लाकने सिद्ध किया कि जितनी भूमि और दूसरी सम्पत्तिपर मनुष्य काम कर सकता है और उसे उपयोगी बना सकता है, वह उसकी होती है। आदिम प्राकृतिक अवस्थामें भी यह बात स्वीकार की गई थी; किन्तु श्रम-द्वारा मूल्यके उत्पादनका सिद्धान्त जो लाकने पेश किया, वह समाजवादका भारी सहायक साबित हुआ। इसीसे लोग कहने लगे—जो वस्तुमें श्रम नहीं मिलाता, वह उस वस्तुका अधिकारी नहीं।

(क) **'खनक' साम्यवाद** (१६५२ ई०) ऑलिवर क्रॉमवेल (१५९९-१६५८)की सफलताके समय खनक नामसे प्रसिद्ध एक छोटी साम्यवादी जमातने क्रामवेलपर ज़ोर दिया था कि राजाके अंतके साथ वर्ग-शासनका भी अन्त कर दिया जाय। खनकोंके नेता जेरार्ड विन्स्टन्लेने अपने "स्वतन्त्रताके क़ानून" (१६५२ ई०)-में लिखा कि क्रॉमवेलको चाहिये "विजेताओंको भी खतम कर दे और हमारी भूमि और स्वतन्त्रताको फिरसे प्राप्त करे⋯ क्योंकि जब नार्मनने हमारे पूर्वजोंको पराजित किया, तो उन्होंने हमारी इंगलिश भूमिको मनमाना छीन लिया और हमें अपना चाकर बनाया।" विन्स्टन्लेने एक समाजकी कल्पना की, जिसमें "न ज़मीनका क्रय-विक्रय होगा, न उसके फलोंका⋯यदि कोई आदमी या परिवार अनाज या खाद्य-सामग्री चाहता है, तो वह भंडारसे जाकर बिना पैसेके ला सकता है।⋯"

अपने नामके अनुसार उन्होंने खनन (खोदने)को अपने सिद्धांतका बाह्य प्रतीक बनाया था। उन्होंने सरीके एक पहाड़को खोदकर खाद डाल उपजाऊ बनाया। उनका कहना था—वर्त्तमान परिस्थितिसे निकलनेका उपाय खनन है, ग़ैरमजरुआ-आम, बाग़ तथा दूसरी

परती भूमिको खोद डालो, जब दूसरे इस तरीक़ेके फ़ायदेको देखेंगे, तो वह तुम्हारे समाजमें चले आयेंगे।

(ख) **पीटर चेम्बरलेन (१६४६)का 'ग़रीबोंका वकील'**—यह उटोपियन लेखक था। उसने अपने "ग़रीबोंका वकील"*(१६४६ ई०)-में लिखा था—"किसीको नहीं कहना चाहिये कि आदमी ग़रीब है।... ग़रीब, ग़रीब न होते यदि अमीर ईमानदार होते, और ग़रीबोंको अपनी (चीज़)का स्वामी रहने देते। अमीरोंका वैभव अकसर उनकी बेईमानीकी विजय-भेंट है, जिसे कि उन्होंने ग़रीबोंको लूटकर या सार्वजनिक सम्पत्तिको चुराकर प्राप्त किया है।"

४. अठारहवीं सदीमें समाजवाद

(१) *फ्रांसमें*—औरङ्गज़ेबके समकालीन फ्रांसके राजा लुई चौदहवें (१६४३–१७१५)का दीर्घ शासन-काल फ्रांसके राज-विस्तार तथा लगातार लड़ाईका काल था। उस वक़्त कर बहुत बढ़ गये, कोष खाली हो गया, व्यापारी दिवालिया होते जाते थे और किसान भिखमंगे बन रहे थे। इसके कारण लोगोंमें राजतंत्रके ख़िलाफ़ भाव जगने लगे थे।

(क-ख) **वोल्तेयर (१३६४–१७७८ ई०) और रूसो (१७७२--७८ ई०)**—भारतके तत्कालीन शासक औरङ्गज़ेबका भी शासन लुई जैसा ही था। यहाँ भी दिग्विजय, मराठोंके साथकी निरन्तर लड़ाइयोंने जनताकी आर्थिक स्थितिको उसी तरह चौपट किया था। किन्तु, जहाँ असन्तुष्ट फ्रांसने लुई चौदहवेंके बाद ही, लुई पंद्रहवें (१७१५–१७७७)के कालमें, वोल्तेयर और रूसो-जैसे जिन्दा-क़लमके धनियोंको पैदाकर एक अपूर्व जन-जागरण पैदा किया; वहाँ हिन्दुस्तानने सिर्फ़ औरङ्गज़ेबके वंशको कमज़ोर किया, और समाजको नवचेतन दिये बिना कुछ

*Poor Man's Advocate—पृ० १२

सर्दारोंको अपनी महत्त्वाकांक्षाको आंशिक-रूपसे पूरा करनेका अवसर दिया। वोल्तेयरने अपने ग्रन्थोंमें ग़रीबोंके साथ सहानुभूति प्रकट की; लेकिन सामाजिक स्वतंत्रताके लिये उसने मानसिक स्वतंत्रता और हरएक व्यक्तिके स्वतः अपनेको अधिक संस्कृत करनेपर ज़ोर दिया—जनता-की संगठित क्रान्तिकी शक्तिको वह अभी देख न सकता था। जीन जैक् रूसोने अपने समयके शिक्षित संस्कृतवर्गकी ख़ूब आलोचना की, और तत्कालीन शासन-प्रथाको उठा देनेपर ज़ोर दिया। वैयक्तिक सम्पत्ति, उसके मतानुसार लूटके सिवा और कुछ नहीं है। सुवर्णयुग तभी आ सकता है, जब कि उसे हटाकर फिर प्रकृतिकी गोदमें लौटा जाय। स्मरण रहे, यह उस कालके महान् लेखक हैं, जबकि पलासी-विजयके बादसे वारेन हेस्टिंग्जके समय तक अंग्रेज़ कम्पनी भारतपर अपने क्रूर शोषणपूर्ण शासनका विस्तार और मज़बूत कर रही थी। हमारे साहित्य-में यह नख-शिख या रीति-काव्योंका समय है; ज्यादा हुआ तो भक्तमाल-के कुछ सन्तोंने दुनियाकी सत्ता—ग़रीबोंकी पीढ़ियोंकी ग़रीबी भी उसीके साथ—को भुलवाकर लोगोंको निर्गुणका राग सिखाया। इसका कारण हमारे समाजका वही गतिशून्य होना था।

(ग) **प्रथम फ्रेंच क्रान्ति (१७९३ ई०)**—क़लम तलवारसे ज्यादा शक्ति रखती है, यदि उसी समय नहीं तो दीर्घ कालमें तो ज़रूर। वोल्तेयर और रूसोकी कृतियोंसे जनता हृदय-मंथन और तदनुसार आगे क़दम बढ़ाये बिना नहीं रह सकती थी। ये दोनों अमर लेखक १७७८ ई० में मरे, और उनकी मृत्युके पाँच ही वर्ष बाद (१७९३ ई०) हम फ्रांसकी प्रथम क्रांति होते देखते हैं; जिसके कारण सर्दारोंका राज उठ गया और समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृताके ज़ोरके साथ शहरके व्यापारियों और मध्यमवर्गका बोलबाला हुआ। कानूनकी दृष्टिमें सभी आदमी बराबर मान लिये गये। किन्तु, सम्पत्तिके संबंध—वैयक्तिक सम्पत्ति—को नहीं छुआ गया, और इस प्रकार सामाजिक असमानताका

मुख्य कारण बना ही रहा। कारखाने बढ़े, व्यापार बढ़ा; किन्तु इससे लाभ नये शासकवर्गको हुआ। जाँगर चलानेवाली जनतामें मशीनके अधिक इस्तेमालसे वेकारी ज्यादा बढ़ी—कामके घंटे लम्बे तथा मज़दूरी कम हो गई। लोगोंने उत्साहसे उटोपियन – स्वप्न-विचरण-को छोड़ यहाँ जन-संगठन, संघर्ष और क्रान्तिके ठोस हथियारोंको अपनाया था; किन्तु क्रान्तिको एक अल्प-संख्यकवर्गकी जगह दूसरे अल्पसंख्यकवर्गके उल्लू सीधा करनेमें सहायक बनते देख लोगोंमें निरुत्साह, निराशाका आना ज़रूरी था।

(घ) बाबूफ़् (१७६४-६७)—(i) *जीवनी*—प्रथम फ्रेंच क्रान्तिकी-रोशनीको आगे ले जानेवाला फ्रांसिस् नोयल् बाबूफ़् पूर्ण समानतावाले साम्यवादी विचारको वह मानता था। अवसरवादी समाजवादके विचारोंका पोषक नहीं था। जिस समय फ्रेंच क्रांति हुई, उस वक्त वह २६ वर्षका तरुण था। कुछ दिनों सर्कारी छोटी नौकरियाँ करनेके बाद वह क्रान्तिकारी आन्दोलनोंमें भाग लेने लगा, और उसने "जनता-का ट्रिब्यून" नामसे एक पत्र निकाला, जो शायद पहला साम्यवादी (कम्‌निस्त) पत्र था। उसने सभ्य कहे जानेवाले समाजके ऊपर ज़बर्दस्त प्रहार शुरू किये। इसके लिये उसे जेलमें डाला गया। जेलसे निकलनेपर उसने पूँजीवादी सर्कारको उठाकर साम्यवादी सर्कार स्थापित करनेके लिये एक गुप्त दल संगठित किया। इसमें उसे काफ़ी सफलता मिली, और १७६६ ई० तक १७,००० आदमी विद्रोहमें शामिल होनेके लिये तैयार हो गये। किन्तु, वक्तसे पहले ही किसी अपने भीतर-के भेदियेने सरकारको खबर दे दी। बाबूफ़् फिर पकड़ा गया, और तैंतीस सालकी उम्रमें उसे फाँसीपर लटका दिया गया।

(ii) *विचार*—बाबूफ़्के विचार थे—"समाजका उद्देश्य है, सब-को सुखी करना, और सुख निर्भर है समानतापर। बाबूफ़्के साथी अपनेको *समान* कहते थे। *समानों*की गुप्त समितिने जो

घोषणा निकाली थी, उसमें कहा गया था—' प्रकृतिने हरएक आदमी-को सभी भोगोंको भोगनेके लिये समान अधिकार दिया है।" सभी बुराइयाँ, अत्याचार और लड़ाइयाँ इसलिये होती हैं कि आदमी प्रकृतिके नियमपर नहीं चलता। बाबूफ़के प्रोग्राममें सम्पत्तिका क्रमशः राष्ट्रीकरण शामिल था—पहले मंडलों और संस्थाओंकी सम्पत्ति-को राष्ट्रीय बनाया जाय, उसके बाद व्यक्तियोंकी सम्पत्तिको; मरनेके बाद हर व्यक्तिकी सम्पत्ति सर्कारी बनाई जाय और किसी व्यक्तिकी पहली पीढ़ीकी सम्पत्तिकी वरासत न मिले। इस तरह पचास सालमें सारी सम्पत्ति राष्ट्रके हाथमें आ जावेगी। तब जनता द्वारा चुने गये प्रबंधकोंकी देख-रेखमें सारे उत्पादन किये जायँगे; व्यक्तिकी आवश्यकताको देखकर चीज़ोंका वितरण किया जायगा। प्रबंधक और साधारण कमकर एक दूसरेकी जगहपर परिवर्तित होते रहेंगे, इससे शक्ति-के लोभका डर नहीं रहेगा। वोट वही दे सकेंगे, जो कि समाजके लिये उपयोगी काम करते हैं। बच्चोंको अलग करके बचपनसे ही उन्हें साम्यवादी जीवनकी क्रियात्मक शिक्षा देनी चाहिये। व्यावहारिक विज्ञान-की शिक्षा उनके पाठ्य-क्रममें होनी चाहिये। सिवाय आयु और स्त्री-पुरुष-भेदके भोग-वितरणमें कोई फ़र्क़ नहीं होना चाहिये

(२) *इंगलैंडमें पूँजीवादी शासनकी स्थापना*—इंगलैंडने जिस क्रान्तिको चार्ल्स प्रथमकी हत्याके साथ १६४९ ई०में पूरा किया था, उसे फ्रांसने १७९३में प्रायः डेढ़ सौ वर्ष बाद किया। क्रॉमवेलकी क्रान्तिके लिए पहलेसे कोई ज़बर्दस्त मानसिक तैयारी नहीं की गई थी, जब कि फ्रांसकी क्रान्तिमें उस तैयारीका खास हाथ था। आर्थिक कारण तो हर परिवर्त्तनके प्रधान कारण होते ही हैं। क्रामवेलकी क्रान्तिमें खनकों-की क्षीण-सी साम्यवादी आवाज़ उठी थी; किन्तु फ्रेंच क्रान्तिके समय वोल्तेयर और रूसोकी गगनचुम्बी आवाज़ देशमें चारों ओर गूँज रही

थी, तो भी वास्तविक स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृता स्थापित नहीं हो पाई। इतना होनेपर भी फ्रेंच क्रान्तिने आस-पासके रूढ़िवादी राष्ट्रोंमें तहलका मचा दिया था, इसमें शक नहीं।

समानताका ख्याल क्रामवेलके वणिक् राज्यकी स्थापनाके साथ इंगलैंडमें दब नहीं गया। अब बड़ी तोपें नहीं गर्ज रही थीं; किन्तु भीतर ही भीतर खिचड़ी-सी कुछ पक ज़रूर रही थी; इसीलिए तो कवि पोप (१६७८-१७४४ ई०)ने लिखा था—

"व्यवस्था है भगवान्‌का प्रथम क़ानून...
कुछ हैं और रहेंगे औरोंसे बड़े,
अधिक धनी, अधिक समझदार।"

पोपने अपने पद्यसे ही सन्तोष नहीं किया; बल्कि वैयक्तिक सम्पत्ति और राजतन्त्रकी हिमायतमें गद्य लिखनेके लिये उसने अपनी क़लम उठाई।

इंगलैंडका ज़बर्दस्त वाग्मी, वारन हेस्टिंग्ज़के मुक़दमेमें हिन्दुस्तानके लुटे अमीरोंकी हृदय-द्रावक कहानीका चित्रकार एडमंड बर्क, समझ रहा था कि यह समानता, यह फ्रेंच क्रान्ति, उसके वर्गके लिये कितनी खतरनाक चीज़ है। इसीलिये वह उसका मुखालिफ़ था। ब्लेकस्टोन् (१७२३–१७८०) क़ानूनका महान् पंडित, और ऐडम् स्मिथ (१७२३–९० ई०) महान् अर्थशास्त्री वोल्तेयर, रूसो, वारन हेस्टिंग्ज़ और फ्रेंच क्रान्तिके समकालीन थे। उन्होंने अपनी प्रतिभाओंको साम्यवादके भूतको मार भगानेमें लगाया। श्रमसे सम्पत्ति पैदा होती है, इसमें ऐडम् स्मिथ्‌ने संशोधन किया—वैयक्तिक सम्पत्तिवाला अपने धन द्वारा उपज-में अधिक सुधार और वृद्धि करता है; इसलिए वह भी उसका उसी तरह मालिक है, जिस तरह कि दूसरे काम करनेवाले। इस सम्पत्तिके संरक्षणके लिये हमें नागरिक सर्कारकी भी ज़रूरत है।

(क) **पादरी राबर्ट वालेस्** इसी सदीमें हुआ था, जिसने वैयक्तिक सम्पत्तिके खिलाफ़ आवाज़ उठाई थी। साथ ही पादरी माल्थससे भी पहिले उसने कहा था कि बढ़ती जन-संख्यापर संयम रखनेकी ज़रूरत है। वालेस्ने इस सिद्धान्त द्वारा साम्यवादी समाजको शारीरिक और आर्थिक तौरसे पुष्ट करना चाहा, जब कि माल्थसने उसे बेकारीका कारण बताकर पूँजीवादको इस दोषसे मुक्त करना तथा निकम्मो शिक्षित शासक जातिकी अपेक्षा कमकरोंको अयोग्य कहकर उन्हें सन्तान-निरोध-की शिक्षा दे कामचोरोंकी औलादको बढ़ाना चाहा।

(ख) **टामस् स्पेन्स (१७५०–१८१४ ई०)**—अठारहवीं सदीमें आवाज़ कुछ क्षीण-सी ज़रूर रही; किन्तु यह वह शताब्दी थी जब कि भारतकी सोनेकी चिड़िया इंगलैंडके हाथमें आई थी, उसके अपार धन-दोहनसे इंगलैंडके मल्लाह, व्यापारी मालामाल थे। और, १७६०के बाद जब नये आविष्कार होने लगे, तो औद्योगिक क्रान्तिके साथ नये दौरकी नींव पड़ने लगी। १८०६ ई० तक मज़दूरोंकी मजदूरी अच्छी थी, कामकी कमी न थी—बेकारी और मज़दूरोंकी बुरी अवस्था उन्नीसवीं सदीसे शुरू हुई। तो भी सामने देखी जाती आर्थिक असमानता बिसराई नहीं जा सकती थी। टामस स्पेन्स स्कॉटलैंडके एक स्कूलका अध्यापक था। उसने १७७५ ई०में (जब कि रूसो, वोल्तेयर जीवित तथा वारन हेस्टिंग्ज् शासनारूढ़ था) न्यूकासलकी दर्शन-सभा-में एक लेख पढ़ा। स्पेन्सने हाब्सके सामाजिक क़बूलियतके सिद्धान्तको स्वीकार करते हुए कहा, कि वैयक्तिक सम्पत्ति *क़बूलियत* द्वारा स्थापित हुई, यह ठीक है; मगर क़बूलियत तभी मंज़ूरकी जा सकती है, जब कि प्रत्येक पीढ़ीमें उसे नया कराया जाय। किसी एक व्यक्ति या समाज-को अधिकार नहीं कि अपनी अगली सारी पीढ़ियोंके सारे भविष्यको पहिले हीसे बंधक रख दे। स्पेन्सने पूछा—क्या क़बूलियतको हर पीढ़ी-में इस तरह नया कराया गया? यदि नहीं, तो क़बूलियत मन्सूख़। लॉक-

के तर्क—श्रमसे सम्पत्तिका स्वामित्व—को स्वीकार करते हुए उसने कहा—पूँजीपतियोंके बारेमें श्रमकी बात कुछ मानी जा सकती है, लेकिन बैठे-बैठे मालगुज़ारी वसूलकर मौज उड़ानेवाले ज़मींदार उत्पादन (जौ, गेहूँ)में अपना कितना श्रम मिलाते हैं ? स्पेन्स एककरवादी था। उसने कहा ज़मीन छीनकर परिश (इलाका या तप्पे)को दे दी जाय, और परिश मामूली मालगुज़ारीपर उसे किसानोंको दे दे। इस एक करके सिवा दूसरा कोई कर नहीं लगना चाहिये। कुछ साल बाद (१८०१में) स्पेन्सने कहा था—लोगोंके वास्तविक संघर्ष एक खास तरहकी सर्कार क़ायम करनेके लिये नहीं हैं, बल्कि "एक ऐसे समाजके लिये हैं, जो कि धनके महान् राशीकरणकी उस मारकी चोटसे हमें बचाये, जिसकी वजहसे कि चन्द धनी, हृदयहीन नरपिशाच सारी जातिको भूखा मारते हैं।*

स्पेन्स छोटे-छोटे ट्रेक्ट लिखकर सड़कोंपर बेचता था, जो कि उसके सहयोगी दार्शनिकोंके लिये भारी शर्मकी बात थी, और जिसकी वजहसे उसके विद्यार्थी भी उसे छोड़ जाते थे। सर्कारपर आक्षेप करनेके लिये कितनी ही बार उसे जेलखानेकी हवा खानी पड़ी ; लेकिन, अपनी यातनाओंकी पर्वाह न कर मरते दम तक उसने अपना प्रचार जारी रक्खा। उसको पूरा विश्वास था, कि समय जल्द आयेगा जब कि मानव-जाति सुखी, समझदार और सुकर्मी होगी।

(ग) **विलियम ओगिल्वी (१७३६-१८१३ ई०)**—इसी सदीमें अबर्डीनका प्रोफ़ेसर विलियम् ओगिल्वी पैदा हुआ, जो कि ज़मींदारी प्रथाका ज़बर्दस्त दुश्मन था—"युगोंसे मानव जातिके सुखका अपहरण और सीमित करना जितना इस (ज़मींदारी) प्रथाने किया,

---

*Thomas Spence, *Restorer of society to its Natural state (1801).*

वह उससे कहीं ज्यादा है, जितना कि राजाओंके स्वेच्छाचार, पुरोहितों-की धोखाबाज़ी और वकीलोंकी ऐय्यारीने मिलकर किया।"*

लेकिन ओगिल्वी शीघ्रताके साथ किये परिवर्त्तनका विरोधी था।

(घ) **टामस पेन्** (१७३७-१८०९ ई०)ने भी "मनुष्यके अधिकार"में ज़मीदारी पृथापर हमला किया। ज़मीन समाज की है, इसलिए उसे अपनी ज़मीनके लिए दस सैकड़ा दायभाग करके तौरपर मिलना चाहिए, और इसे समाज उन व्यक्तियोंमें बाँट दे, जो कि ज़मीन-को समाजके हाथमें लौटानेके कारण अपने "प्राकृतिक अधिकार"से वंचित होंगे। पेन्की इस बातका स्पेन्सने खंडन करते हुए कहा कि यह एक टुकड़ेके लिये जनताके जन्मजात अधिकारको बेंच डालना है।

(ङ) **विलियम् गॉडविन्** (१७९३ ई०)—लेकिन इन सुधार-वादियोंके अतिरिक्त कुछ क्रान्तिकारी विचारवाले भी इस सदीमें पैदा हुए थे। विलियम् गॉडविन् उनमेंसे एक था। उसने अपनी पुस्तक "राजनीतिक न्याय"–जिसके कारण, १७९३ ई०में फ्रेंच-क्रान्तिके साथ इंगलैंडमें उसकी ज़बर्दस्त प्रसिद्धि हो गई—में सर्कारपर हमले किये : सर्कार बल और हिंसासे उत्पन्न हुई, और अन्यायपर आश्रित संस्थाओं-की रक्षा करके वह बुराइयोंको मज़बूत करती है। वह असमानताको दृढ़ करती है, और शासनकी जंज़ीरोंसे मनुष्यको जकड़ती है। सर्कार बुरी है, समाज स्वाभाविक है। सर्कार हमारे दुर्गुणोंकी उपज है, समाज हमारी आवश्यकताओंके लिये है। वैयक्तिक सम्पत्तिको उठाना होगा।" प्रत्येकको अपनी आवश्यकताके अनुसार जीवन-सामग्री मिलनी चाहिये।

---

*Ogilvie, Essays on the Right of Property in Land. (1781.)

दशम अध्याय

ख. उन्नीसवीं सदीका प्राग्-मार्क्सीय समाजवाद

(१८००—४० ई०)

पहली फ्रेंच क्रान्ति (१७८३)ने यद्यपि सामन्तवादको हटाकर पूँजीवादका आधिपत्य क़ायम किया ; किन्तु उसको प्रेरणा मिली थी साम्यवादी विचारोंसे ; यह हम लिख चुके हैं। इन क्रान्तिकारियोंने दिमाग़-परिवर्त्तन या हृदय-परिवर्त्तनका रास्ता नहीं पकड़ा था। उन्होंने बलपर अवलंबित वर्ग-शासनको दूसरे वर्ग-द्वारा हटाना चाहा था। उसमें वह सफल भी हुए ; किन्तु बहुसंख्यकके हितके नामपर अल्प-संख्यक व्यापारियों और पूँजीपतियोंके हाथमें शासन-यंत्र चला गया। इस असफलतापर समाजवादी विचारधारा एक बार फिर दिमाग़ी परिवर्त्तन-उटोपियावाद—की ओर चल पड़ी, और यह अवस्था तब तक जारी रही, जब तक उन्नीसवीं सदीके मध्यमें मार्क्स और एन्गेल्सने कमकर-वर्ग-के संगठन और शक्तिके ऊपर सफलताकी आशा रखनेवाले वैज्ञानिक साम्यवादका सन्देश दुनियाको नहीं दिया।

१. फ्रांसमें

वोल्तेयर-रूसो और क्रान्तिने जो विचारधारा बहाई, उससे प्रभावित हो जिन फ्रेंच विचारकोंने साम्यवादी विचारोंको आगे बढ़ाया, उनमें सेंट-साइमन, फ़ूरिये मुख्य हैं।

(१) *सेंट-साइमन (१७६०–१८२५)*

(क) जीवनी—कौंट हेनरी सेंट-साइमन फ्रांसके ड्यूक-वंशमें पैदा हुआ था ; किन्तु बापके झगड़ा कर बैठनेसे उसे पाँच लाख फ्रांक आमदनीकी जायदादसे हाथ धोना पड़ा, जिसके लिये सेंट-साइमनने

लिखा था—"मुझे धनसे और सेंट-साइमनके ड्यूक*की उपाधिसे हाथ धोना पड़ा ; किन्तु मैं उसके यश-आकांक्षाका उत्तराधिकारी हूँ।" कहीं अपना भव्य भविष्य बिसर न जाय इसके लिये उसने अपने खवासको हुकुम दे रखा था, और वह रोज़ सवेरे आवाज़ लगाता था—"उठिये कौंट महाशय, आपको महान् काम करना है।"

युक्त-राष्ट्र अमेरिकाने इंगलैंडके साथ स्वतंत्रताका युद्ध छेड़ा था सेंट-साइमनकी उम्र उस वक्त १६ साल की थी। उसने स्वतंत्रतावादियोंकी ओरसे युद्धमें भाग लिया। यार्कटौनके मुहासिरेमें उसने बड़ी बहादुरी और चातुरी दिखलाई थी। तेईस सालकी उम्रमें फ्रांस लौटनेपर उसे कर्नलका दर्जा देकर फ़ौजमें नौकरी मिली, लेकिन उसमें उसकी दिलचस्पी न थी, और उसने फ़ौजकी नौकरी छोड़, राजनीतिमें भाग लेना शुरू किया।

फ्रेंच क्रान्तिमें उसने भाग लिया था, और एक स्थानीय *कम्यून*का उसे प्रधान चुना गया था। उसने अपनी कौंटकी उपाधिका त्याग करते हुए घोषित किया था कि 'नागरिक'की पदवी मेरे लिये उससे ऊँची है। लेकिन, कौंट*के नामकी वजहसे लोगोंका संदेह दूर नहीं हुआ, और खतरनाक समझकर उसे ग्यारह महीने जेलमें रखा गया।

जेलसे निकलनेपर उसने ज़मीनकी खरीद-फ़रोख्तका काम करके कुछ पैसे जमा किये, फिर गंभीर अध्ययनमें लग गया, और १८०३में ४३ वर्षकी उम्रमें एक लेखक और सामाजिक सुधारकके तौरपर उसने काम शुरू किया, जिसे कि मृत्यु तक उसने जारी रखा। उसका धन खतम हो गया, स्वास्थ्य बिगड़ गया, लेकिन उसका विश्वास था—"मानवताका स्वर्ण-युग पीछे नहीं है, वह आनेवाला है, और सामाजिक व्यवस्थाको पूर्ण करनेपर आयेगा। हमारे पूर्वजोंने उसे नहीं देखा ; किन्तु हमारे बच्चे एक दिन उसे देखेंगे।" एक बार

---

*Comte

उसके सामने आर्थिक कठिनाइयाँ इतनी ज़बर्दस्ती आईं कि उसने कुछ प्रमुख आदमियोंको, अपने लिये नहीं बल्कि अपने ग्रन्थोंके प्रकाशनके लिये लिखा था—"मैं भूखसे मर रहा हूँ। पंद्रह दिनोंसे मैंने एक रोटी और पानीपर गुज़ारा किया। मैं (जाड़ोंमें) बिना आगके काम करता हूँ। सिवाय कपड़ोंके मैं सब कुछ बेंच चुका हूँ, और उन्हें भी मैंने कापीके खर्चके लिये बचा रखा है।...मैं मदद चाहता हूँ कि जिसमें मैं अपने कामको जारी रख सकूँ।

(ख) **सेंट-साइमनके विचार**—ज्ञान और उद्योग, शिक्षित और मज़दूरका सहयोग नये समाजके निर्माणके लिये आवश्यक है। शिक्षितके नेतृत्वपर उसका बहुत ज़ोर था ; इसके लिये वह शान्ति और सहयोगपर ज़ोर देता था। क्रान्ति और दबावकी ज़रूरत नहीं, समझाकर लोगोंको समाजवादकी ओर लाया जा सकता है। सेंट-साइमनने अपने 'नवीन ईसाइयत'में लिखा है, कि चर्च (ईसाई सम्प्रदाय)को भगवान्‌ने स्थापित किया है, चर्चके पितरोंका सम्मान करना चाहिये।

उसका समाजवादी प्रोग्राम था—उद्योग-धंधोंको व्यक्तिसे समाजके अधिकारमें देना चाहिये ; भोगकी चीज़ोंको वैयक्तिक सम्पत्ति रहने देना चाहिये। हरएकको अपनी क्षमताके अनुसार काम करना चाहिये और उसकी सेवाओंके अनुसार उसे पारितोषिक मिलना चाहिये। उत्पादनका प्रबन्ध फ़ौजकी भाँति छोटे-बड़े अफ़सरोंके मातहत होना चाहिये। समाजकी कौन कितनी सेवा करता है, और उसे कितना पारितोषिक मिलना चाहिये, यह ऊपरके अधिकारी तय करेंगे। इन अफ़सरोंका चुनाव कैसे होगा, इसके बारेमें सेंट-साइमन चुप है। मुमकिन है, क्रान्तिके वक्त तलख तजुबके कारण जन-नियंत्रणसे वह डरता हो। प्रतिभाशाली और भले मनुष्य स्वयं ऊपर पहुँच जायँगे, इसी तरहका कुछ उसका खयाल था। वह दाय-भागको उठा देना चाहता था

(२) फ़ूरिये (१७७२–१८३७ ई०) (क) जीवनी—चार्लस् फ़ूरिये सेंट-साइमनकी भाँति सामन्त-वंशमें नहीं, बल्कि एक बिल्कुल साधारण परिवारमें पैदा हुआ था। फ़ूरियेका ज़ोर सेंट-साइमनकी भाँति सदिच्छा, सहानुभूति और भावुकतापर उतना न था, जितना कि विज्ञान और तर्कपर। उसका बाप एक साधारण दूकानदार था। स्कूलमें वह तेज़ लड़का था। पढ़ाईके बाद व्यापारमें लगा, जहाँ वह सफल नहीं रहा। जब वह पाँच वर्षका बच्चा था, तभी एक ग्राहकको सच्ची क़ीमत बतला देनेके लिये उसे झाड़ खानी पड़ी थी। उन्नीस सालकी उम्रमें जब वह एक सौदागरके यहाँ नौकर था, तो एक बार मालिकके हुक्मसे उसे चावलकी बोरियाँ इसलिये पानीमें फेंकनी पड़ी थीं, कि जिसमें चावलकी कमीके कारण दाम बढ़ जाय, और मालिकको ज़्यादा नफ़ा हो। पूँजीवादकी इन दो बुराइयों—झूठ और अपव्यय—ने फ़ूरिये-के मनपर बहुत गहरा असर छोड़ा, और उसे पूँजीवादके विरोधी कैम्पमें ढकेल दिया।

(ख) विचार—साधारण जनतापर उसका उतना विश्वास न था। वह समझता था कि उसके गंभीर सूक्ष्म-विचारोंको सुनकर यदि कुछ धनी उधर आकर्षित हों, तो प्रयोग द्वारा वह अपने समाजवादकी सत्यता दिखलाकर लोगोंको उधर खींच सकता है। एक बार उसने घोषित किया था कि मैं प्रतिदिन अमुक समय अपने घरपर ऐसे उदाराशय दानीसे मिलनेके लिये तैयार रहूँगा, जो कि मेरे सिद्धान्त-के अनुसार चलाई जानेवाली बस्तीकी स्थापनाके लिये दस लाख फ्रांक दान दे। इसके बाद बारह वर्ष तक फ़ूरिये उस समय प्रतिदिन अपने घरपर रहा; मगर शोक! कोई उदाराशय दानी उधर झाँकने भी नहीं आया। अधिकांश सेंट-साइमनीय उसके विचारोंको नीची निगाहसे देखते थे।

अपने जीवनमें उसे एक बार अपने विचारोंके प्रयोगका मौक़ा

मिला। फ्रेंच पार्लामेंटके एक सदस्यने वेर्साईमें अपनी ज़मींदारीको उसे प्रदान किया। फ़ूरियेके अनुयायियोंने वहाँ उपनिवेश बनाकर समाजवादी ढंगसे उसे चलानेकी कोशिश की ; किन्तु वे असफल रहे।

फ़ूरियेके सामाजिक विचार जिस तरहके व्यवहार-विरोधी थे, उसी तरह और भी उसके कितने ही ख्याल अजीब-से थे। 'सार्वदैशिक एकता सिद्धान्त'में उसने लिखा है, कि पृथिवी अभी अपने बाल्यसे गुज़र रही है, और जब वह मेरी सम्मिलन-योजनाको स्वीकार कर लेगी, तो वह सत्तर हज़ार वर्षके एक भव्य युगमें प्रवेश करेगी, जब कि शेर आदमीके चाकर बन जायँगे, और एक दिनमें मनुष्यकी गाड़ीको एक छोरसे दूसरे छोर तक खींच ले जायँगे। ह्वेल जहाजोंको खींचकर समुद्र पार करेंगी, और समुद्रका जल सुस्वादु पेय बन जायगा। फिर पतनका समय आयेगा। लेकिन, यह बातें आजसे सवा सौ वर्ष पहिले लिखी गई थीं।

आकर्षणके नियमपर फ़ूरियेका बहुत ज़ोर था ; यह आकर्षण सर्वव्यापी है। संसारमें एक नित्य उपस्थित शक्ति है, और वह सम्मिलित क्रियाके लिये मनुष्योंको खींचती है। इस आकर्षण नियमके पथमें बहुत-सी बाधाएँ पड़ती रही हैं, जिससे आदमी समाज-विरोधी-मगमें भटकते रहे हैं। जब यह बाधाएँ हटा दी जायँगी, तो सारे विश्वमें समानता—एकता—का प्रसार होगा, और मानव-जातिकी सम्पत्ति कई गुनी बढ़ जायगी ; क्योंकि उस वक्त आदमी मेहनतसे प्रेम करेगा, और आजके समाजका अपव्यय हट जायगा। इसके लिये बारह प्रकारकी लगनोंकी ज़रूरत है—(१-५) पाँच इंद्रियोंकी लगन ; (६-७) मित्रता, प्रेम, परिवार, सहानुभूति और मनस्विताकी 'सामूहिक लगन' ; और (१०-१२) तीन वितरण-संबंधी लगन—योजन, परिवर्त्तन और एकता-सम्बन्धी लगन। बारहों लगन समाजमें मिलकर पर-प्रेमकी महान् लगन बनाती हैं।

फ़ूरियेके उटोपियन समाजमें ४००से २००० व्यक्तियोंका फ़लाँक्स होगा। हरएक फ़लाँक्सका अपना एक बड़ा निवास-गृह होगा। व्यवसाय ज्यादातर खेती होगी। नागरिक अपनी रुचिके अनुसार काम चुनेंगे। फ्लाँक्सके नीचे ग्रूप और उसके नीचे पाँती या सीरीज़ होगी। इच्छानुसार इन जत्थोंमें आदमी दाखिल होंगे। समाजमें सेना, पुलीस, वकीलों और अपराधियोंकी ज़रूरत नहीं रहेगी। अलग घरों और अलग रसोई घरोंकी ज़रूरत नहीं होगी। खाना एक जगह बनेगा, और सभी एक भोजनशालामें खायँगे। सभी चीज़ोंकी भंडार साझे होंगे। फ़ूरियेका कहना था, कि ऐसी व्यवस्थासे श्रमकी शक्ति चारसे पाँच गुना तक बढ़ जायगी। लोग अठारहसे अट्ठाईस वर्षकी उम्र तक इतना उत्पादन कर सकेंगे कि बाक़ी जीवनमें वह बैठे-बैठे आनन्द-की ज़िन्दगी बिता सकेंगे।

उपजके बँटवारेमें फ़ूरिये आजके नरम समाजवादियों और सेंट-साइमनसे भी पीछे था। सारी उपजका ५/१२ श्रमिकको मिलना चाहिये, ४/१२ पूँजीवालोंको और बाक़ी ३/१२ प्रतिभावालोंको। उसका सूत्र था—प्रत्येकसे उसकी योग्यताके अनुसार (काम लेना), और प्रत्येकको उसके श्रम, प्रतिभा और पूँजीके अनुसार (भोग प्रदान करना)।

श्रमको उसने तीन श्रेणियोंमें बाँटा था—आवश्यक श्रम, उपयोगी श्रम और अनुकूल श्रम। पहिलेका पारितोषिक सबसे ज्यादा और अन्तिमका सबसे कम रक्खा था।

फ़ूरियेकी व्यवस्थामें सर्कारकी उतनी आवश्यकता नहीं है। अफ़सर चुनावसे बनेंगे। एक फ़लाँक्सका अफ़सर एक-राज, और सारी पृथिवीके फ़लाँक्सोंका सर्व-राज होगा। सर्व-राजका निवास-स्थान क़ुस्तुन्तुनियामें होगा।

समाजमें ऊँची-नीची श्रेणियाँ रहेंगी; किन्तु धनी और शक्तिशाली व्यक्ति सहयोगके भावसे इतने उत्प्राणित होंगे, कि उनके अस्तित्वसे

समाजमें गड़बड़ी नहीं पैदा होगी। परिवार और ब्याह धीरे-धीरे लुप्त हो जायँगे।

फ़ूरिये शान्तिका पक्षपाती और हिंसाका विरोधी था। उसका विश्वास था कि ईमानदारीसे किया एक प्रयोग संसारसे मेरे विचारोंकी सत्यताको मंज़ूर करा देगा; और दस सालके भीतर महान् युग शुरू हो जायगा। उस क्रान्तिकी ज़रूरत नहीं, जिसमें ख़ून-ख़राबी हो। फ़ूरियेको इस युगके जल्द आनेपर इतना विश्वास था, कि उसने अपने अनुयायियोंपर ज़ोर दिया कि वह भूमिमें रुपया न लगायें।

फ़ूरियेके सिद्धान्तोंका प्रयोग उसके अनुयायियोंने किया; यद्यपि इन प्रयोगोंमें फ़ूरियेकी कितनी ही लचर बातोंको छोड़ दिया गया था; तो भी फ्रान्समें खेतीपर किये तज़र्बे असफल रहे। हाँ, उद्योगमें उन्हें उतनी असफलताका मुँह नहीं देखना पड़ा। १८४० ई०में फ़ूरियेकी शिक्षा अमेरिका पहुँची। वहाँ भी चौंतीस जगहोंपर प्रयोग किये गये, किन्तु सबके सब असफल रहे; और साबित हो गया कि स्वप्न-विचरण—केवल ख्याली उड़ान—प्रयोगमें बेकार साबित होता है।

(३) लुई ब्लाँक (१८१३-८२) (क) **जीवनी**—सवोनरोलाके बाद ब्लाँक पहिला उटोपियन समाजवादी था, जिसे शासन-यन्त्रमें प्रयोग करनेका मौक़ा मिला। ब्लाँक इस बातमें भी पहिला आदमी था कि उसने उच्च वर्गकी सहृदयता और बुद्धिको अपील करनेकी जगह कमकरोंको अपील की। एक तरह वह उटोपियन समाजवादको वैज्ञानिक समाजवादसे मिलानेवाली शृंखला था।

ब्लाँक लुई बोनापार्टके एक बड़े अफ़सर (अर्थ-इन्स्पेक्टर-जेनरल)-का लड़का था, उसका जन्म मद्रिदमें (१८१३ ई० में) हुआ था, जब कि उसका बाप वहाँ सर्कारी कामसे गया हुआ था। प्रारम्भिक जीवन उसने अपनी माँके घर कोर्सिकामें बिताया। पढ़ाई समाप्त करनेके लिये वह पेरिसमें आया, जहाँ पुस्तकोंकी लिखाई तथा ट्यूशनसे अपने खर्च-

का कितना ही भाग कमा लेता था। फिर कुछ वर्ष उसने पत्र-सम्पादनके काममें लगाये, और तब २६ वर्षकी उम्रमें उसने 'प्रगति-आलोचन'* पत्र निकाला, जो धीरे-धीरे उसके समयके जनतंत्रवादियोंमें सर्वप्रिय हो गया। ब्लाँकका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'श्रमका संगठन'† क्रमशः इसी पत्रमें १८४० ई०में निकला था। १८३०-४०में उसने प्रथम फ्रेंच-क्रान्तिका एक बहुत अच्छा इतिहास लिखा। १८४८ ई०की दूसरी फ्रेंच-क्रान्तिके वक्त, जो अस्थायी सर्कार बनी, उसका वह एक प्रमुख मेंबर था। उसने गवर्नमेंटके सामने प्रस्ताव रखा कि 'श्रम और प्रगति'-का एक मंत्रि-विभाग क़ायम किया जाय, और जिस आदमीको और जगह काम न मिले, उसे काम देनेकी ज़िम्मेवारी सर्कार अपने ऊपर ले। पीछे सशस्त्र षड्यंत्रके आरोपके कारण उसे फ्रांस छोड़ इंगलैंड चला जाना पड़ा, जहाँ वह १८७० ई० तक रहा. और तृतीय नेपोलियन-के सिंहासन-च्युत किये जानेपर ही स्वदेश लौट सका। १८७१ ई०में फ्रांस लौटनेपर वह उग्र वामपक्षीके तौरपर राष्ट्रीय एसेम्बलीका मेंबर चुना गया। १८७१ ई०में फ्रांसकी तृतीय क्रान्ति—कमकर-क्रान्ति या पेरिस-कम्यून—की स्थापनाके लिये अब क्रान्तिकारी सशस्त्र विद्रोह कर रहे थे, तो उसने उसका विरोध किया, जिससे उसकी जन-प्रियता जाती रही और फिर वह इतना गिरावटकी ओर गया, कि १८७२ ई०में 'अन्तर्राष्ट्रीय कमकर' सभा‡के खिलाफ़ जब क़ानून बनाया जा रहा था, तो उसमें उसका समर्थन किया। मरते वक्त (१८८२) तक वह शासक शोषकवर्गका इतना श्रद्धाभाजन हो गया था, कि डिपुटी-भवन (पार्लमेंट)ने उसके राजकीय अन्त्येष्टि-क्रियाका प्रस्ताव पास किया।

(ख) **विचार**—मानव सुख और मानव विकास ब्लाँकके अनुसार सामाजिक प्रयत्नका उद्देश्य होना चाहिये। जिसके लिए हरएक व्यक्ति-

---

**Revue de Progress* †*Organisation du Travail*
‡International Workingmen's Association.

को उच्चतम कायिक, मानसिक, आचारिक विकासके साधन सुलभ होने चाहिये, जिसमें कि हरएक आदमी अपने व्यक्तित्वको चारों तरफसे उन्नत कर सके। समाजका संगठन भ्रातृभाव-पूर्ण होना चाहिये, और उसके लिये भगवान्‌का बनाया शरीर एक अच्छा नमूना है। सभी व्यक्ति एक बड़े परिवारके सदस्यकी तरह रहें, और सर्कार अपने काममें लोगोंकी इच्छाका अनुसरण करे। सबको काम देनेके लिये कारखाने सर्कारकी ओरसे खुलें और धीरे-धीरे वैयक्तिक कारखाने भी सर्कारी बना दिये जायँ। इन कारखानोंका बड़े संघके रूपमें संगठन होना चाहिये, और उसे बीमा कम्पनीकी तरह घाटा उठानेवाले कारखानोंको मदद देनी चाहिये, इस मददके लिये कि उसके उत्पादनका एक भाग अलग किया जाय। इन सर्कारी कारखानोंमें यदि पूँजीपति आना चाहें तो उनका स्वागत करना चाहिये। लेकिन वैयक्तिक कारखानोंको संघमें शामिल करनेके लिए मजबूर नहीं करना चाहिये; प्रतियोगितामें असफल हो वह धीरे-धीरे ख़ुद संघमें शामिल हो जायँगे। इन वैयक्तिक उद्योगोंके ख़तम हो जानेपर समाजवादी राज्य स्वतः क़ायम हो जायगा।

हर आदमीको उसकी योग्यताके अनुसार काम देना चाहिये; और इससे यदि असमानता रहे तो उसे भी ब्लाँक पसंद करता था। हाँ, वह चाहता था, ऐसे लोग भगवान्‌के वचन (बाइबल का ख्याल रखें—"तुममें जो भी मुखिया है, उसे अपनेको तुम्हारा सेवक समझना चाहिये". श्रमका पारितोषिक आवश्यकताके अनुसार मिलना चाहिये। इस सूत्रका प्रचार उसने ही किया—"प्रत्येकसे उसकी योग्यताके अनुसार, प्रत्येकको उसकी *आवश्यकता*के अनुसार।"*

(८) *प्रूधों (१८०९–६५ ई०) अराजकवादी* (**क**) **जीवनी**-पियेर-जोसेफ् प्रूधों अन्तिम फ्रेंच उटोपियन लेखक था। प्रूधों भी फ़ूरियेके

*History de la Revolution de 1848 जिल्द १, पृष्ठ १४७-८।

जन्म-स्थान वेसाँशोंमें उसके जन्मसे ३७ वर्ष बाद पैदा हुआ था। उसके माँ-बाप बड़े ग़रीब थे ; इसलिये वह चर्वाही और होटलकी मज़दूरी करके गुज़ारा करता और पढ़ता रहा। पढ़नेमें वह बहुत तीव्र लड़का था ; इसलिये स्कूलमें उसे बहुत इनाम मिलते रहे। लेकिन घर लौटने-पर उसे खाना नहीं मिलता था। उन्नीस सालकी उम्रमें उसने कालेज छोड़ा, और एक छापाखानेमें शामिल हो गया ; लेकिन, पढ़ाई अब भी उसने जारी रखी। वेसाँशोंकी एकेडमीने उसे १५०० फ्रांककी छात्र-वृत्ति दी थी।

१८४० ई०में प्रूधोंने 'सम्पत्ति क्या है ?' नामक मशहूर पुस्तक लिखी। इसमें उसने श्रमके समयको मूल्यका नाप साबित किया। छ साल बाद उसने 'दारिद्रता-दर्शन'* प्रकाशित किया, जिसमें उसने समाजवादी और साम्यवादी सिद्धान्तोंका खंडन किया ; लेकिन स्वतः कोई रचनात्मक सिद्धान्त नहीं पेश कर सका। मार्क्सने इसका खंडन अपने ग्रन्थ 'दर्शन-दरिद्रता'में दिया।

प्रूधों अराजकतावादी था, इसलिये सभी तरहके राज्य-शासनका विरोधी था ; यही वजह थी, जो कि उसने १८४८ ई०की क्रान्तिमें भाग नहीं लिया। क्रान्तिके असफल होनेके बाद वह विधान-निर्मात्री सभा†का सदस्य चुना गया, जिसमें उसने प्रस्ताव पेश किया था - सर्कारको चाहिये कि वह हरएक व्यक्तिको उत्पादनके साधन एकत्रित करनेके लिये कर्ज दे। सभामें उसके पक्षमें दो वोट और विरोधमें ६९१ आये। इसके लिये उसने एक प्राइवेट बैंक खोलना चाहा ; किन्तु पचास लाखकी जगह सिर्फ़ सत्रह हज़ार फ्रांक जमा कर सका, और बैंक फेल रहा। पीछे सेन्सरका क़ानून तोड़नेके लिये उसे तीन सालकी सज़ा हुई। छूटनेके बाद उसने चर्च (धर्म)पर आक्षेप किया, जिसके

---

*"Qu'est-ce que la Propriètè." †Philosophe be la Misère Constiuent Assembly.

लिये उसे फिर सज़ा हुई। वह बेल्जियम् भाग गया, और मरनेसे (१८६०) ५ वर्ष पहिले फ्रांस लौटा।

(ख) विचार—स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृतावाला समाज प्रूधों-का आदर्श था। इस तरहका पूर्ण समाज एक दिनमें नहीं बनाया जा सकता। व्यवस्था और अराजकताके सम्मिलनसे समाजको पूर्ण बनाया जा सकता है। मनुष्यपर मनुष्यका नियन्त्रण अत्याचार है। "*अराजकता*—स्वामी या शासकका अभाव जिसमें हो, उस शासन-व्यवस्था—के नजदीक हम दिनपर दिन जा रहे हैं।" "कोई राजा नहीं आन्तरिक राजनीतिके प्रत्येक प्रश्नको आँकड़े जमा करनेवाले विभागके आँकड़ोंके अनुसार हल करना चाहिये; अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति-संबंधी प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय आँकड़ोंसे सम्बन्ध रखता है, जिसका कि एक स्थायी सेक्रेटरी होगा, जो ज़रूरत पड़नेपर प्रधान-मन्त्री बनेगा। और चूंकि हरएक नागरिक परिषद्के पास *स्मरण-पत्र* भेज सकता है, इसलिये हरएक नागरिक विधान-निर्माता है; लेकिन चूँकि सत्य-सम्मत राय ही स्वीकार की जायगी, इसलिये किसीकी राय बुद्धिका स्थान नहीं ग्रहण कर सकती—कोई राजा नहीं (चाहिये)।"

प्रूधों 'सम्पत्तिको चोरी' कहता था। प्रूधोंके आदर्श-समाजमें वैयक्तिक सम्पत्तिके लिये गुंजाइश नहीं। बे-मालिककी चीज़पर कब्ज़ा करनेसे वह उसकी सम्पत्ति हो जाती है, इस मतके खिलाफ़ प्रूधों-का कहना है; जहाँ एकके बाद एक जातियाँ आती रहीं, युद्ध चलते रहे, वहाँ बे-मालिककी सम्पत्ति किसे कहेंगे? ऐसा मान लेनेपर पीछे आनेवाली सभी जातियाँ सम्पत्तिकी अधिकारी नहीं हैं। फिर, सम्पत्ति पहिले सारे समाज की थी, व्यक्तिने जब उसे ले लिया तो वह बे-मालिक-की न थी। श्रम द्वारा वैयक्तिक सम्पत्तिके उत्पादनके बारेमें प्रूधोंका कहना था; श्रमके लिये उसके पास उपयोगी हथियार चाहिये, जिसे

व्यक्ति समाजसे ही पा सकता है, फिर कोई उत्पादित वस्तु उसके अकेले श्रमकी कैसे हो सकती है ?

मूल्य श्रमपर निर्भर है, इस सिद्धांतपर प्रूधोंने बहुत ज़ोर दिया। चीज़का मूल्य वही होता है, जितना कि समय और श्रम उसके बनानेमें लगा है। यदि व्यापारी या मिल-मालिक क़ीमतको १० सैकड़ा बढ़ा देते हैं, तो यह चीज़के मूल्यको बिना बढ़ाये ज्यादा दाम वसूल करना चोरी है। अपने श्रमसे उत्पादित सम्पत्तिको आदमी वैयक्तिक तौरपर भी रख सकता है। 'सम्पत्ति ही नहीं बल्कि व्यक्तित्व या इच्छाका भी स्वामी होना चाहिये।' प्रूधों पारितोषिककी समानता नहीं ; बल्कि सम्पत्ति-उत्पादनके साधनोंकी समानता चाहता था। श्रेष्ठ प्रतिभावालोंको ज़्यादा पारिश्रमिक दिया जाय, वह इसका विरोधी था ; हाँ, उन्हें काम करनेका सुभीता ज़रूर मिलना चाहिये, इसे वह मानता था।

बिना सर्कार, बिना वैयक्तिक सम्पत्ति और बिना असमानताका सामाजिक संगठन प्रूधोंका आदर्श था ; किन्तु ये सभी अभावात्मक हैं। भावात्मक बातें उसके दर्शनमें बहुत कम हैं। वह अनियंत्रित स्वतंत्रता और समानताका पुजारी था, किन्तु उसके साथ समाज कैसे चल सकता है, इसका कोई हल उसने नहीं पेश किया।

२. इंगलैंडमें

(१) *चार्ल्स हाल (१८०५ ई०)*—अठारहवीं सदीमें इंगलैंडमें समाजवादी विचारोंकी प्रगतिके बारेमें हम कह चुके हैं। अठारहवीं सदीके अन्त (१७९३)की फ्रेंच क्रान्तिका असर इंगलैंडपर भी हुआ था, यह हम कह आये हैं। इंगलैंडमें जहाँ क्रान्ति-विरोधी विचारधारा तीव्र थी, वहाँ क्रान्तिकारी विचार बिलकुल बंद नहीं हो गये थे। चार्ल्स हालने अपने ग्रंथ 'सभ्यताकी करतूतें' (१८०५ ई०)में उस *सभ्यता*का खंडन किया है, जिसमें समाज धनी और निर्धन दो वर्गोंमें विभक्त हो ;

"धनियों और निर्धनोंकी अवस्था बीज-गणितके धन और ऋणकी भाँति एक दूसरेकी विरोधी और एक दूसरेकी नाशक हैं। जनताका ८/१० भाग सम्पत्तिके १/८का अधिकारी है, जब कि कुछ भी पैदा नहीं करनेवाला २/१०, ७/८का मालिक है। इसका अर्थ यह है कि कमकर सात दिन इन धनियोंके लिये काम करता है और एक दिन अपने तथा परिवारके लिये।"* शेली (१७९२-१८२२)के शब्दोंमें—

"तू बोता, दूसरा काटता :
तू सम्पत्ति उपजाता, दूसरा उसका स्वामी ;
जिस पोशाकको तू सीता, दूसरा उसे पहनता,
जिन हथियारोंको तू गढ़ता, दूसरा उसको चलाता।"

इस भावको हालकी एक लैटिन कविता थी—

"तुम शहद बनाती, पर नहीं अपने लिये ; मक्खियो !
तुम भूमि फलद बनाते, पर नहीं अपने लिये बैलो !!"

हालकी सूक्ष्म दृष्टिने समाजमें वर्ग-संघर्षको ही नहीं देखा, बल्कि उसने यह भी कहा कि सारे अन्तर्राष्ट्रीय युद्धोंका कारण सम्पत्ति है। सम्पत्तिके लिये ही व्यापार और राज्यका विस्तार किया जाता है, और देशके भीतरी क्रान्तिकारी आन्दोलनोंको दबानेके लिये धनियोंको राजशक्तिका लोभ होता है। धनी ग़रीबोंमें युद्धकी गौरव-गाथाका प्रचार करते हैं, और उसकी पीड़ा और मृत्युको छिपाते हैं।

हाल समाजकी बुराइयोंका यह हाल पेश करता था—भूमिको राष्ट्रकी सम्पत्ति बना दो, और छोटे-छोटे किसानोंमें बाँटकर कृषिको जीविकाका प्रधान साधन बनाओ। अपनी योजनामें हाल उतना दूर नहीं जा सका, जितना कि समाजकी बीमारीके निदानमें वह पहुँचा था।

---

*Effects of Civilization, pp. 53—4

(*रिकार्डो पूँजीवादी*)—रिकार्डो वैयक्तिक सम्पत्ति तथा तत्कालीन समाजका ज़बर्दस्त पक्षपाती था। लेकिन ल्लॉकके *श्रम-सिद्धान्त*की भाँति इसने भी अनजाने कुछ हथियार अपने शत्रुओं—समाजवादियों—के हाथमें दे दिये। अर्थशास्त्री रिकार्डोने सिद्ध किया कि किसी सौदे-का विनिमय (बदलने, बेंचने)का मूल्य उस श्रमपर निर्भर है, जो कि उस सौदेके पैदा करनेमें जितने परिमाणमें ज़रूरी है—अथवा अत्यंत अन्-अनुकूल परिस्थितिमें भी जितने परिमाणमें श्रमकी उसको ज़रूरत है। इस श्रमके सिद्धान्तको मार्क्सने बड़ी सफलताके साथ पूँजी-वादियोंके खिलाफ़ इस्तेमाल किया, यह हम आगे देखेंगे। दूसरी बात रिकार्डोने बतलाई कि मज़दूरी मज़दूरकी पैदा की हुई चीज़से नहीं निश्चित होती, बल्कि उस मात्रासे निश्चित होती है जो कि मज़दूरके लिये अपने खाने, कपड़े, घर, जीवनके लिये कुछ अन्य उपयोगी वस्तुएँ, और बिना बेशी-कमीके अपने वंशको क़ायम रखनेपर खर्च करनी ज़रूरी है—पूँजीवाद मज़दूरी देते वक़्त यही ख्याल रखता है। रिकार्डो-ने इसे साफ़ कह दिया, और पूँजीवादकी इस मनोवृत्तिपर साफ़ निशाना लगानेके लिये समाजवादियोंको मौक़ा दिया।

(२) *लन्दन कारेस्पांडिंग सोसाइटी* (१७९२)—प्रथम फ्रेंच क्रान्तिके एक साल पहिले इस सभाका संगठन स्काटलैंडके एक चमार टामस हार्डी (१७५२–१८३२) और कवि तथा वक्ता जान थेलवलके नेतृत्वमें स्थापित हुई थी। सभाने जन्मते ही जन-मतको जागृत करने-के लिये ज़ोरका आन्दोलन शुरू किया। शासक-वर्गने इसे विद्रोह समझा और जल्दी ही सभाके प्रमुख व्यक्तियोंको पकड़कर देशके साथ विश्वासघातका अपराध लगा उनपर मुक़दमा चलाया, किन्तु सबूत न मिल सकनेसे सज़ा न हो सकी। थेलवलने मुक़दमेमें देनेके लिये जो अपना वक्तव्य तैयार किया था, उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"यद्यपि प्रतिवर्ष एक बार ग़रीबका वोट उतना ही महत्त्व रखता

है, जितना कि मालिकोंका, तो ग़रीबोंको भूलना नहीं चाहिये। लेकिन कहा जाता है, कि सम्पत्तिका प्रतिनिधि (पार्लमेंटमें) जाना चाहिये, क्योंकि सर्कारका आधार सम्पत्ति है। क्या सम्पत्तिवाले आदमी नौसेना या (स्थल) सेनाकी पंक्तियोंको पूरा करते हैं?...सम्पत्ति मनुष्यके श्रमके अतिरिक्त कुछ नहीं है। ग़रीबकी चोटीका पसीना सभी सम्पत्तियोंसे अपरिमेय (मूल्यकी सम्पत्ति) है। यह वह सम्पत्ति है, जिससे दूसरी सारी सम्पत्तियाँ तैयार होती हैं।...जहाँ सबका संबंध है, वहाँ सबकी राय लेनी चाहिये, क्योंकि सबके भाग्यका निबटारा सब (की राय)के बिना नहीं होना चाहिये...। बहुसंख्यकोंके जीवन, स्वतंत्रता और उसके स्वामी...चन्द (इनेगिने व्यक्ति) हैं।

वोटका सबको अधिकार हो, यह सोसाइटीकी प्रधान माँगोंमेंसे एक था। कुछ सालों तक सोसाइटी काम करती रही, किन्तु फ्रेंच क्रान्तिसे डरा हुआ बृटेनका शासकवर्ग उसके कार्योंको और बर्दाश्त नहीं कर सकता था, इसलिये बृटिश पार्लमेंटने १७९९ ई०में एक क़ानून (कारेस्पांडिंग एक्ट) बनाकर सोसाइटीको बंद कर दिया।

(३) *मज़दूर विद्रोह (१८१३ ई०)*—अठारहवीं सदीके अन्त तक मज़दूरोंका वेतन भी अच्छा रहा और काम भी सुलभ था। किन्तु बीसवीं सदीके शुरू होते ही मज़दूरी घटने और बेकारी बढ़ने लगी। मज़दूरोंने समझा, यदि मशीन दस आदमियोंका काम दो आदमियोंसे न लेती, तो आदमी क्यों बेकार होते? मज़दूरोंने अपना संगठन करके पहिले सारी मशीनोंकी तोड़-फोड़ शुरू की। उन्होंने समझा, मशीनके नष्ट हो जानेपर वह पुराना मधुर ज़माना लौट आयगा। पूँजीवादियोंने इसके खिलाफ़ कड़े क़ानून बनाये, और १८१३ ई०में दर्जनों मज़दूरोंको फाँसीपर चढ़ाया।

विलियम् कोबेट जैसे कुछ सुधारवादियोंने इस प्रवृत्तिकी निन्दा की और बतलाया कि इस खराबीको हम पार्लमेंटके चुनावको ज्यादा

जनतांत्रिक बनाकर कर सकते हैं। हमें चाहिये कि सार्वजनिक वोटाधिकारकी माँग पेश करें। यह आन्दोलन कुछ समय तक चलने दिया गया, किन्तु अगस्त १८१९में मानचेष्टरमें जो बलवा हुआ, उसका बहाना लेकर उसके दबानेके लिये सख्त क़ानून बनाये गये। सर वाल्टर स्काटने उस वक्तकी अवस्थाके बारेमें लिखा था—"ग्लासगोमें वालंटियर तो दिनको परेड करते हैं, और उग्रपन्थी रातको। यह सिर्फ़ सैनिक शक्ति है, जिसने कि जनतापर नियंत्रण कर रक्खा है।"

१८२० ई०में आन्दोलनकारियोंने स्काटलैंडके बहुतसे घरोंपर अपनी घोषणा चिपका दी थी, कि लोगोंको तब तक काम छोड़ देना चाहिये; जब तक सार्वजनिक वोटाधिकार नहीं मिल जाय। बहुतसे मज़दूरोंने हड़ताल की। कुछने हथियार उठाया और पकड़े गये या सेनाके साथकी भिड़न्तमें घायल हुए। एन्ड्रू हार्डी और दो और नेता फाँसीपर चढ़ाये गये। इसी समय स्पेन्सके पाँच अनुयायियोंको भी राजद्रोहके अभियोगमें मृत्यु-दंड दिया गया।

(४) *राबर्ट ओवेन्-(१७७१-१८६० ई०)* (क) जीवनी—१८२० ई० तक इंगलैंडकी यह अवस्था थी जब कि राबर्ट ओवेन् कार्यक्षेत्रमें आया। ओवेन्का जन्म १४ मई १७७१ ई०को उत्तरी वेल्समें हुआ था। उसका बाप जीन और लोहारका काम करता था। यद्यपि वह एक विद्या-प्रेमी विद्यार्थी था, मगर उसे पढ़नेका बहुत कम अवसर मिला। दस सालकी उम्रमें उसे एक कपड़ेवालेके यहाँ नौकरी करनी पड़ी। मालिकके पास पुस्तकोंका एक अच्छा संग्रह था, और तरुण ओवेन्ने उससे खूब फ़ायदा उठाया। काम सीखनेके बाद उसने व्यापारमें हाथ लगाया, जिसमें उसे सफलता होती गई। उन्तीस सालकी छोटी आयुमें वह मानचेस्टरकी एक बड़ी कपड़ेवाली मिलका सुपरिंटेंडेंट नियुक्त हुआ। उसके प्रबंधमें मिलने बहुत तरक्क़ी की, और कुछ समय बाद ओवेन् साझीदार बना लिया गया। सफ़रके मौक़ेपर

ओवेन्की मुलाकात भविष्यमें होनेवाली अपनी पत्नी मिस् डेलके साथ हुई, जिसने उससे अपने बापकी कपड़ेकी मिल (न्यु-लनार्क)को देखनेके लिये निमंत्रण दिया। कुछ समय बाद वह और उसके साझीदारोंने उस मिलको खरीद लिया।

मिस् डेलके साथ ब्याह और इस मिलके खरीदनेके बाद उन्नीसवीं सदीके पहिले दिन (१ जनवरी १८००)से उसने नई मिल-के सुपरिंटेंडेंटके तौरपर न्यु-लनार्कमें काम शुरू किया। न्यु-लनार्क क़स्बेमें तेरह-चौदह सौ परिवार और कितने ही सौ भिखमंगे लड़के थे। चोरी, शराबखोरी, मारपीट, तथा दूसरी बुराइयाँ मिल-मज़दूरोंमें आम थीं। अधिकांश परिवार एक कोठरीवाले घरोंमें, बड़ी ही अस्वास्थ्यकर अवस्थामें रहते थे। लड़कोंको बहुत ज्यादा घंटे काम करने पड़ते थे, और उनको पढ़ने-लिखनेका कोई सुभीता न था।

ओवेन्में मानचेस्टरमें मिलके सुप्रबन्धमें अपनी योग्यताका सबूत दिया था। यहाँ उसने मिल-प्रबन्धकोंके साथ अपने मज़दूरोंकी ओर भी ध्यान दिया। स्वास्थ्यके नियमोंके लिये उसने कड़ाई की। मज़दूरोंको अपनी चीज़ोंके खरीदनेके लिये भंडार क़ायम किया, जहाँ २० सैकड़ा कम दाममें चीज़ें मिलती थीं। मज़दूरोंके लिये उसने अच्छे घर बनवाये। तरक्क़ी देनेके लिये उसने हरएक मज़दूरके कारनामेका रजिस्टर रखा। शराब पीनेमें रुकावट डाली। लड़कोंके पढ़नेके लिये पाठशालाएँ खोलीं। १८०६ ई०में जब अमेरिकाने कपास भेजनेपर रुकावट डाली थी, और मिलको बन्द करना पड़ा, तो भी ओवेन् पूरा मज़दूरी देता रहा। इन बातोंकी वजहसे न्यूयार्कके कमकरोंमें एक विशेष तरहका परिवर्त्तन दिखलाई देने लगा। स्वास्थ्य, सफ़ाई, समझदारी, शराबीपनकी कमी, वहाँके मज़दूरोंमें साफ़ दिखाई देने लगी।

साथ ही इन प्रयोगोंसे मिल-मालिकोंको नुक़सान नहीं, और अधिक नफ़ा हुआ। तो भी ओवेन्‌की योजनाओंके लिये और रुपयों-की आवश्यकता थी, जिससे भागीदार सन्तुष्ट न थे; इसलिये पुराने भागीदार बदलने पड़े; तो भी खटपट बनी रही, और १८१३ई०में वह यहाँ तक बढ़ी कि नीलाममें प्रायः दस लाख रुपयेमें ख़रीदी मिलको चौबीस लाखमें अपने कुछ आदर्शवादी साथियोंके साथ मिलकर ओवेन्‌ने खरीद लिया। १८१६ ई०में ओवेन्‌ने अपनी शिक्षा-योजना-का पूरा प्रयोग किया। १२ साल (१८२८ ई०) तक और ओवेन्‌ने वहाँ काम किया। धर्मके संबंधमें ओवेन्‌के आज़ाद विचार थे, जिसके कारण उसका सहभागियोंके साथ बिगाड़ हो गया, और अट्ठाईस साल-एक पीढ़ी—के प्रयोगके बाद ओवेन्‌को मिल छोड़ देना पड़ा। इस प्रयोगके बारेमें एक सम-सामयिक अमेरिकन यात्रीने लिखा है—

"संसारके किसी भागमें कारखानेवाली जनतामें इतनी व्यवस्था, इतना अच्छा शासन, इतनी शान्ति और इतना बुद्धि-संगत सुख नहीं है।"

(ख) विचार - सन् १८१३ ई०के बाद ओवेन्‌ने अपने विचारों-को विस्तृत क्षेत्रमें व्यक्त करना शुरू किया। उसने लिखा है*—"सभी अस्तित्वोंका मुख्य और आवश्यक उद्देश्य सुख है। लेकिन, सुख सिर्फ़ एक व्यक्तिके लिये नहीं प्राप्त किया जा सकता।" "(आगे) सुख पैदा करना मनुष्यका एकमात्र धर्म होगा। उपयोगी उद्योगोंका करना भगवान्‌की पूजा होगी।" आदमीका व्यक्तित्व उस परिस्थिति द्वारा निर्मित होता है, जिसमें वह पैदा हुआ, जहाँ रहता और काम करता है। बुरी परिस्थितियाँ बुरे व्यक्तित्वको पैदा करती हैं, और अच्छी अच्छे को।" परिस्थितिको अच्छा बनानेके लिये ओवेन् इन बातोंपर ज़ोर देता

---

*स्व-लिखित *Life of Robert Owen, 1857.*

था—(१) शिक्षा सार्वजनिक और अनिवार्य तथा समाज एवं व्यक्ति-के लिये लाभदायक होनी चाहिये ; (२) सम्पत्ति भरपूर होनी चाहिये ; (३) बेकारीका डर नहीं रहना चाहिये ।

१८१५-१८ ई० तक ओवेन्ने मज़दूरोंकी दयनीय दशाके सुधारने-के लिये क़ानून बनानेके आन्दोलनमें धन और शक्ति खर्च की । उसने एक भाषणमें कहा था—"(कपड़ेका व्यापार) उन लोगोंके लिये उससे भी हानिकारक है, जितनी कि वेस्ट-इंडीज़के ग़रीब नीग्रो-की दासता । नष्ट हो जाने दो कपासके व्यापारको, हमारे देशकी राजनीतिक प्रभुताको भी नष्ट हो जाने दो, यदि वह कपासके व्यापार-पर निर्भर करती है ; (और जो) जीवनकी हरएक मूल्यवान् वस्तुको बर्बाद कर रही है ।"

अगले चन्द वर्षों तक ओवेन्ने लिखित आन्दोलनको और ज़ोरसे चलाया, और पार्लमेंटपर ज़ोर दिया कि कारखानोंमें कामके घंटे १२ कर दिये जायँ, जिनमें डेढ़ घंटे खानेके भी हों ; दस वर्षके कमके बच्चोंका काम बन्द कर दिया जाय, और बारह वर्ष तकके बच्चोंके कामके घंटे छै से ज्यादा न होने चाहिये । पाठशालाओंका इन्तिज़ाम किया जाय । १८१९में ओवेन्की कुछ बातोंको लेते हुए क़ानून पास किया गया ।

मशीनके उपयोग और बढ़ती दरिद्रताके बारेमें ओवेन्ने अपने भाषणों और लेखोंमें कहा था—"मशीनके उपयोगसे पृथिवी धनसे मालामाल हो रही है ; किन्तु मजदूरी-खाता छोटा होता जा रहा है, और हाथमें पैसेकी कमीसे कमकर उस धनमेंसे अधिकांशको नहीं खरीद सकते जिसे कि वे स्वयं पैदा करते हैं । इसीलिए सौदा गोलों या गोदाममें पड़ा रहता है । जब वितरण उसी परिमाणमें होता रहता है, जिस परिमाणमें चीज़ें पैदा की जाती हैं, तभी काम सबको मिल सकता है, और मन्दी और बेकारीसे पिंड छूट सकता है । किन्तु, जब तक

वैयक्तिक लाभके लिए चीज़ें पैदा की जाती हैं, तब तक चीज़ोंके ख़रीदने-के लिये मज़दूरका उत्पादित सारा धन उसके पास नहीं जा सकता। यदि इस बारेमें कुछ नहीं किया गया, तो मज़दूर आशा छोड़ कुछ करनेपर मजबूर होंगे। हम एक भयंकर खड्डके किनारेपर खड़े हैं। यदि (अब नहीं सँभले, तो परिणाम भयंकर होगा। कैसी अजीब और हृदय-द्रावक बात है! कमकर इसलिए भूखे मर रहे हैं; क्योंकि उन्होंने बहुत ज्यादा धन पैदा करनेका अपराध किया। ओवेन्ने ये बातें उस वक़्त कही थीं, जब कि १८१७के आस-पास कारख़ानोंके अधिक उत्पादन-से एक ज़बर्दस्त मन्दी आई हुई थी।

सारी आफ़तोंसे बचनेके लिये ओवेन्ने साम्यवादको एकमात्र दवा बतलाई। लेकिन, साथ ही उसका कहना था कि साम्यवादको क्रमशः लाना होगा। आरम्भमें इसे गाँवोंमें बेकारोंके सहयोग और एकता-से करना चाहिये। इन गाँवोंमें हज़ारसे १५ सौ एकड़ ज़मीन तथा पाँच सौसे हज़ार व्यक्ति होने चाहिये। उन्हें खेती और कारख़ाने दोनों तरहके व्यवसाय करने चाहिये। सम्मिलित भोजनशाला, शयन-कोठरियाँ, पुस्तकालय, स्कूल होने चाहिये। इसी तरह उसने एक उटोपियन-समाज-का चित्र खींचा था। किन्तु, दूसरे उटोपियाक़ारोंसे वह व्यवहारके अधिक समीप था। ओवेन्की साम्यवादी योजनाकी जिस तरह उपेक्षा की गई, और धर्मके ठीकेदारोंने उसपर जैसे सन्देह प्रकट किये, उससे ओवेन्को विश्वास हो गया कि साम्यवादके दुश्मन सिर्फ़ पूँजीवादी राजनीतिज्ञ ही नहीं हैं, बल्कि धर्म भी उनके षड्यंत्रमें शामिल है। १८१७के अगस्तमें एक सार्वजनिक भाषणमें ओवेन्ने धर्मकी निन्दा करते हुए कहा कि सारे धर्म धोखे हैं। "वह मानव-जातिको वास्तविक सुख क्या है, इसे जाननेसे रोकते हैं।" इस आक्षेपके कारण ओवेन्को अपने बहुतसे मध्यवर्गीय सहानुभूति-कारकोंसे हाथ धोना पड़ा।

साम्यवादी आदर्श और उसके दुश्मनोंकी शक्तिका काफ़ी ज्ञान

रखते हुए भी ओवेन् उटोपियन (ख्याली) जगत्में कितना घूम रहा था, यह इसीसे मालूम होता है कि १८१९में 'कमकरोंको संबोधन'*-में उसने मज़दूरोंको ग़रीबी और अज्ञानसे मुक्त करनेके लिये, अपनेको सहायता देनेके लिये तैयार ज़ाहिर करते हुए शर्त पेश की थी कि वह शासकवर्गके प्रति सारे घृणा और हिंसाके भाव बिल्कुल छोड़ दें। मालूम होता है, यहाँ गांधीकी रूह सवा सौ वर्ष पीछे जाकर बोल रही है। जान पड़ता है, ओवेन् समझ रहा था कि घृणा और हिंसा सिर्फ़ दिमाग़से निकलती हैं, और उनका कोई भौतिक आधार नहीं होता। उसने अत्याचार सहते-सहते ऊब गये कमकर-वर्गकी उत्तेजनापर ठंढा पानी फेंकते हुए कहा कि ग़रीब और अमीर, शासक और शासित सबका हित समान है। उच्च-वर्गकी यह मंशा नहीं है कि कमकरोंको अधीन बनाकर रक्खें। श्रमके बारेमें ओवेन्का कहना था कि मानव-श्रम मूल्यकी माप है।

१८२१में ओवेन्ने अपनी 'सामाजिक व्यवस्था'† लिखी। उसमें उसने हर तरहकी वैयक्तिक सम्पत्तिको हटाकर पूर्ण साम्यवादपर ज़ोर दिया। पूँजीवादी अर्थशास्त्रियोंपर आक्षेप करते हुए उसने कहा था— इनके लिये समाजका उद्देश्य है सिर्फ़ धन जमा करना। मनुष्य उनके लिये निर्जीव मशीन है। व्यक्तिवाद और प्रतियोगिताकी तारीफ़-के पुल जो इन्होंने बाँधे हैं, उसने श्रमको अकिंचन बना दिया है। वितरणकी समस्या समाजकी ज़बर्दस्त समस्या है, जिसे वह हल करने-में असमर्थ है।

ओवेन्के विचार उटोपियन हो चले थे, इसका ज़िक्र हम पहिले कर चुके हैं। अपने उटोपियन विचारोंके प्रयोग करनेकी उसे बड़ी लालसा

---

*Address to the Workman. †Social System.

थी। १८२४ ई०में उसने ३०,००० पौंड (प्रायः ४ लाख रुपये)में युक्तराष्ट्र (हार्मेनी, इंडियाना)में ३०,००० एकड़ ज़मीन खरीदी, और न्यू हार्मेनी*के नामसे वहाँ एक साम्यवादी उपनिवेश बसाया। उपनिवेशका उद्घाटन करते हुए ओवेन्ने कहा था—

"मैं एक बिल्कुल नई सामाजिक अवस्थाको आरम्भ करनेके लिये इस देशमें आया हूँ। मैं चाहता हूँ कि अज्ञान और स्वार्थपूर्ण व्यवस्था हटे, उसकी जगह ज्ञानपूर्ण सामाजिक व्यवस्था क़ायम हो, और वह धीरे-धीरे सभी स्वार्थोंको एक बना दे, तथा व्यक्तियोंकी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विताको दूर करे।"

लेकिन, तीन सालके भारी प्रयत्नके बाद प्रयोग असफल हो गया, और ओवेन्का बहुत-सा रुपया बर्बाद हुआ। ओवेन्के एक अनुयायीने १८२५ ई०में ग्लासगोके पास ओर्बिस्टनमें भी इस तरहका एक तज़र्बा किया, और वह भी निष्फल रहा। इन तज़र्बोंकी असफलताको देखकर भी उटोपियन समाजवादी नये तज़र्बोंसे बाज़ आनेके लिये तैयार न हुए। फ़ूरिये और उसके अनुयायियोंने १८४०के बाद इसके कितने ही असफल तज़र्बे किये, यह हम बतला चुके हैं। आज भी पूँजीवादी मशीनके अन्दर इस तरहके प्रयोग हो रहे हैं; किन्तु वह संभव नहीं, इसे पिछले तज़र्बोंने बतला दिया है। साम्यवादको काल-संबंधी उतावलेपन और जल्दीके रास्तेसे नहीं स्थापित किया जा सकता।

सहयोग-समितियाँ और मज़दूर सभाएँ उस वक्त तक कहीं-कहीं स्थापित हो गई थीं। ओवेन्को खयाल आया कि मजदूर-सभाओं और सहयोग-समितियोंके कामोंको जोड़ क्यों न दिया जाय। अक्तूबर, १८३३ ई०में लंदनमें मजदूर-सभाओं और सहयोग-समितियोंकी सम्मिलित कान्फ्रेंस की गई। ओवेन्ने घोषित किया कि कमकर सहयोगके महत्त्वको छः महीनेके भीतर समझ जायँगे।

*New Harmony नव-शान्ति।

ओवेन्‌ने मज़दूरोंके संगठनपर काफ़ी समय और शक्ति लगाई। इंगलैंडका सुधार-क़ानून पास हो गया था, और शासनमें सामन्तोंकी सत्ता खर्च होकर पूँजीवादियोंका हाथ मज़बूत हुआ था। इस सुधारके करानेमें पूँजीवादी सफल न होते यदि मज़दूरोंने उनका साथ न दिया होता। इससे मज़दूरोंको लाभ बस इतना ही समझें कि उन्होंने अपनी शक्तिका कुछ हल्का-सा अन्दाज़ पाया। और सिर्फ़ वेतन बढ़ाना, घंटा कम करना तथा दूसरी रोज़-ब-रोज़की दिक्क़तों तक ही माँगोंको सीमित न रखकर अब उन्होंने शासन-अधिकार तक हाथ बढ़ाया। ५ अक्तूबर, १८३३ ई०के 'पाइनियर' नामक मज़दूर-सभाके पत्रमें सम्पादकने लिखा था—"अब हमने समृद्धिकी रेल-सड़क बिछा दी है···हमारे संकट नज़दीक आ रहे हैं···संघर्षका प्रभाव सबपर एक-सा पड़नेवाला है। धिक्कार है, उस आदमीको, जो अपना स्थान छोड़े। फ़ैसला इस सवालका करना है—श्रम ऊपर होगा या पूँजी ?"

मज़दूरोंने अपने संगठनको विस्तृत और दृढ़ किया। १८३३–३४-में ८,००,००० व्यक्ति मज़दूर-सभाके मेंबर बन गये। साधारण हड़ताल-का नारा बुलन्द किया गया, और मज़दूर बड़े उत्साहसे शामिल होने लगे; यद्यपि उनका विश्वास ओवेन्‌की कितनी ही व्यवहार-शून्य योज-नाओंपर न था। हड़तालसे वह क्या समझते थे यह उनके ग्लासगोमें ५ अक्तूबर, १८३३की सभामें साधारण हड़तालका प्रस्ताव करते वक्त निकले इन उद्‌गारोंसे मालूम होता है—

"कोई विद्रोह नहीं होगा; यह सिर्फ़ निष्क्रिय प्रतिरोध होगा। आदमी ख़ाली रहेंगे। ऐसा कोई क़ानून न है, न हो सकता है, जो कि आदमियों-को उनकी इच्छाके विरुद्ध काम करनेके लिये मज़बूर करे। वह हाथ-बाँधे खेतों-सड़कोंपर टहलते रह सकते हैं, वह न तलवार रक्खेंगे और न बन्दूक। वह बलवेके क़ानूनके इस्तेमाल करनेके लिये भीड़ जमा नहीं करेंगे। जब तक उनके पास पैसे हैं, उनको सिर्फ़ यही करना है कि

हफ्ते या महीनेके लिये काम छोड़ दें। और इसका परिणाम क्या होगा? हुंडियाँ इन्कारी जायँगी, गजेटमें दिवालोंकी भरमार होगी पूँजी नाश होगी, मालगुज़ारी वसूल नहीं होगी। सर्कारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जायगी। और, धनियोंके विरुद्ध ग़रीबोंके इस निष्क्रिय षड्यंत्र द्वारा एक क्षणमें वह सारी जंज़ीरें टूट जायँगी, जिन्होंने समाजको एक दूसरे-से बाँधा है!"*

ओवेन्‌को यह रुख पसन्द नहीं आया। उसका खयाल था कि देश-की मुक्ति पूँजीपति और मज़दूर दोनों वर्गोंके सहयोगपर निर्भर है। वह ज़ोर दे रहा था, पूँजीपति भी उत्पादक है; इसलिये मित्रतापूर्ण भावसे उसको अपनी ओर लानेकी कोशिश करनी चाहिये। इस अभिप्रायसे २५ नवम्बर, १८३३को ओवेन्‌ने "राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन सभा" स्थापित की, जिसमें उसने मज़दूर और पूँजीपति दोनोंको मिलाना चाहा। लेकिन ओवेन् समयसे पीछे जा रहा था। दोनों वर्गोंके स्वार्थ और सम्बन्ध इतने दूर हो चुके थे कि उनकी गंगा-यमुनी चल नहीं सकती थी। ओवेन् और कोई भी नेता एक ही वर्गके स्वार्थका पक्षपाती हो सकता था। ओवेन्‌के विरुद्ध दूसरे दल उठ खड़े हुए। उन्होंने वर्गयुद्धको अनिवार्य बतलाया और साधारण हड़तालपर ज़ोर दिया। ओवेन् और उसके अनुयायी अपनी समदर्शितापर डटे हुए थे। इस झगड़ेसे मज़दूर-संगठनमें शिथिलता आई, साधारण-हड़ताल नहीं हो सकी। ओवेन्‌की प्रसिद्धिका तारा भी अस्त हो चला। ओवेन् जो किसी समय व्यक्तिको समाजकी उपज बतलाता था, अब नवीन परिस्थितिसे कुछ सीखना नहीं चाहता था। एक पंथके तौरपर कुछ लोगोंको लेकर वर्ग-शक्ति, वर्ग-सहयोग, हृदय-परिवर्त्तन आदि पुरानी पड़ गई बातोंके दुहरानेमें वह अपनेको व्यस्त किये हुए था। इंगलैंडमें चार्टिस्ट आन्दोलन हुआ। फ्रांसमें १८४८की क्रान्ति हुई। भारतमें १८५७में स्वतंत्रताका

*Glassgow Liberator (Trades Union Gazette).

ज़बर्दस्त युद्ध छिड़ा। मार्क्सने वैज्ञानिक 'साम्यवादी घोषणा' ही नहीं की, बल्कि उसे काममें लानेके लिये प्रयत्न होने लगे। किन्तु, ओवेन्-का मानसिक विकास तीस वर्ष पहिले ही रुक चुका था। ८६ वर्षकी उम्र में (१८६३ ई०) ओवेन्ने ग्रेट-बृटेनके बैठे-ठालोंकी *सामाजिक विज्ञान सभा*के सामने 'बिना दंडके शासित मानव-जाति'पर एक लेख पढ़ा। दूसरे साल (१८६४) भी उसी सभाके सामने लिवर-पूलमें दूसरा लेख पढ़ने जा रहा था, तो वह गिर गया, और अपने जन्म-स्थान न्यूटन-में पहुँचकर मर गया।

(५) *चार्टिस्ट आन्दोलन (१८३७-५४)* **(क) बेकारी और विद्रोह** रावर्ट ओवेन्की जीवनीसे हमें मालूम है कि इंगलैंडका मज़दूर-वर्ग अब चिकनी-चुपड़ी बातें सुनने, और आशा-दिलासापर सन्तोष नहीं कर सकता था। सुधार-क़ानून पास होनेके दो साल पहिले (१८३०) एक ज़बर्दस्त मन्दी हुई। मज़दूरोंके साथ किसानोंकी हालत भी बहुत बुरी हो गई थी। उसके साथ ही भेड़ोंमें भयंकर महामारी फैली, जिससे २० लाख भेड़ें मर गईं। इसी वक्त दँवाईकी मशीन इस्तेमाल की जाने लगी थी, जिससे खेतिहर मज़दूरोंमें बेकारी और बढ़ी। उन्होंने अगस्त-में केन्टमें इन मशीनोंको नष्ट करना शुरू किया और इससे बलवा उठ खड़ा हुआ। वह आन्दोलन सिर्फ़ ध्वंसात्मक ही नहीं था; बल्कि बलवाइयोंके सामने एक सामाजिक प्रोग्राम भी था, जैसा कि उस समय-के बहु-प्रचारित एक पत्रसे मालूम होता है—

"हम अनाजके गंजों और दँवाईकी मशीनोंको इस साल नष्ट कर डालेंगे। अगले साल हम व्यक्तियोंकी खबर लेंगे, और तीसरे साल हम राजनीतिज्ञोंसे युद्ध छेड़ेंगे।"

यह वह समय था, जब कि इंगलैंडमें रेलोंका निर्माण बड़े जोरसे हो रहा था, और हफ्तोंकी मंजिलें घर-आँगन बन रही थीं। १८२६में

†Social Science Association of Great Britain.

स्टाक्टन-डार्लिङ्टन लाइन खुली थी। १८२६में मानचेस्टरको लिवरपूल-के बन्दरगाहसे मिला दिया गया। पहिले समझा जाता था कि रेलें सिर्फ़ माल ढोनेके काम आयेंगी, और सवारीके लिये घोड़ेकी बग्गियों-के आराम और तेज़ीका मुक़ाबिला नहीं कर सकेंगी; लेकिन यह बात ग़लत निकली। दूरी नष्ट करनेके इस नये आविष्कारने ख्यालोंको भी तेज़ीसे एक जगहसे दूसरी जगह पहुँचाना शुरू किया। आन्दोलकोंका एक जगहसे दूसरी जगह जानेमें वक्त और पैसा दोनों कम खर्च होने लगा। १६३४-३६में रेलोंके बनानेके लिये ७ करोड़ पौंड या प्रायः एक अरब रुपये जमा किये गये थे, इसीसे रेलोंके विस्तारका पता लग सकता है।

उस वक्तके अंग्रेज मज़दूरोंकी क्या हालत थी, इसे २२ मार्च, १८३६के चार्टिस्ट कन्वेन्शन (सम्मेलन)के लिये लिखी गई एक रिपोर्ट-से सुनिये—

"जिन कस्बोंमें गया हूँ, उनकी अवस्थाके बारेमें मैं इतना ही कह सकता हूँ, कि ग़रीबी भुख-मरी···चारों ओर दिखलाई देती है। ·· लीक-में मैंने मज़दूरोंकी ग़रीबीको मनुष्यके बर्दाश्तकी निम्नतम अवस्था तक पहुँच गई देखा। कितने ही आदमी खुले आम कहते थे कि हम रोज़-के पंद्रह घंटे, काम करनेपर ७ या ८ शिलिंग प्रति सप्ताह कमा सकते हैं। मुझे आश्चर्य नहीं है, यदि वह कड़े शब्दोंको इस्तेमाल करते हैं, मुझे आश्चर्य इसपर है कि कैसे वह सीमाके भीतर हैं; किन्तु यह मैं कहनेसे रुक नहीं सकता कि जल्दी ही यदि कुछ किया नहीं गया, और कमकरोंको ज्यादा नहीं दिया गया, तो कोई भयंकर बात होके रहेगी। यह सम्भव नहीं होगा—चाहे अपनी सारी शक्तिको ही क्यों न लगायें—कि इंगलैंडके कमकर शान्त रखे जा सकें, यद्यपि इसके लिये मेरी बड़ी ख़ाहिश है।...क्या मैं उन जगहोंमें जाऊँ या आपके पास आऊँ? क्या उन्हें शान्ति, व्यवस्था का उपदेश सुनाऊँ? लेकिन, मुझे डर है,

यह सब बेकार जायगा। इन जगहोंके लोगोंके शब्द हैं—भूखसे मरनेकी जगह तलवारसे मरना बेहतर है।"

१८३१में मजदूरोंने अपना एक राजनीतिक संगठन—"मजदूर-वर्गका राष्ट्रीय संघ" क़ायम किया। यह मजदूर-सभाओंके आधारपर बना था। इस संघ और 'ग़रीब-रक्षक'*ने जन-जागरणमें बहुत मदद दी। आन्दोलनके आगे बढ़नेपर वर्ग-संघर्ष और साधारण-हड़तालकी बातोंको देखकर ओवेन् कैसे घबराया, इसका हम ज़िक्र कर चुके हैं। चार्टिस्ट आन्दोलनमें कितने ही प्रधान मुखिया ओवेन्के शागिर्द थे; किन्तु जनताके सामूहिक संग्राम—आर्थिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्रोंमें ओवेन्के न माननेपर भी वह ज़ोर देते रहे। मज़दूर गर्म और नये विचारोंको सुनने और पढ़नेके लिये बहुत उत्सुक थे। वह अपनी समस्याओंपर बहस करते थे। सर्कारने यह रवैया देख अख़बारों और काग़ज़ोंपर टैक्स लगा पुस्तकों और पत्रोंको कई गुना महँगा कर दिया; किन्तु इससे वेग कहाँ रुक सकता था? इसपर मज़दूरोंने ग़ैर-क़ानूनी तौरसे छपाई-वितरण आदिका प्रबन्ध किया। इसके लिए जो जेल या जुर्मानेकी सज़ा पाते, उनके लिये 'पीड़ित फ़ंड' खोला गया था। समाचार, चिट्ठियाँ ही नहीं, रूमालों तकपर छापकर क्रांतिकारी बातें फैलाई जाती थीं। १८३६में अख़बार-विरोधी क़ानून उठा दिया गया, तब तक ५०० कार्यकर्त्ता उसका विरोध करनेके लिये जेल भेजे जा चुके थे।

(ख) चार्टर या अधिकार-पत्र—जून १८३६में लंदन-मज़दूर-संघ† क़ायम हुआ। आरम्भ तो इसका ओवेन्के नरम विचारोंको लेकर हुआ था; मगर परिस्थितिने इसे आगे बढ़नेके लिये मजबूर किया। १८३७में फिर मंदी शुरू हुई, बेकारी जारी हुई, जिससे पार्लमेंट-

---

*The Poor Man's Guardian.

†The London Working-man's Association.

में सुधारकी माँग फिर पेश हुई। फ़रवरी, १८३७ ई०में संघने छ माँगोंका एक आवेदनपत्र तैयार किया, यही माँगें पीछे चार्टर कही गईं, और उनके नामपर आन्दोलनका नाम चार्टिस्ट पड़ा। माँगें यह थीं—

(१) सब बालिगोंको वोटका अधिकार ;
(२) वार्षिक पार्लमेंट ;
(३) गुप्त पुर्जेके द्वारा वोट ;
(४) पार्लमेंटके मेंबरोंको वेतन ;
(५) वोटके लिये सम्पत्तिकी शर्तको हटा देना ;
(६) एक समान चुनाव-क्षेत्र।

(ग) चार्टिस्ट नेता

(i) *विलियम्-लोवेट (१८००-७७)*—चार्टरका मसौदा विलियम् लोवेट एक बढ़ईने बनाया था। लोवेट दस सालसे मज़दूर-आन्दोलनमें भाग ले रहा था। इस आन्दोलनने सारे इंगलैंडमें कितना ज़ोर पकड़ा था, यह चार्टिस्टोंकी रीडिंगकी एक सभा (मई १८३७)से मालूम हो जायगा, जिसमेंकी ढाई लाख लोग जमा हुए थे। चार्टिस्ट-आंदोलनके पीछे क्या भाव काम कर रहे थे, उनके नमूने लीजिये। पादरी जोज़फ़ रेनर स्टेफेंस (१८०५-७६)ने अपने एक भाषणमें कहा था—"मिल-मालिकोंका अत्याचार फ़ैक्टरीके हरएक पत्थर, हरएक ईंटपर (मज़दूरोंके) ख़ूनके अक्षरोंसे लिखा हुआ है।"

"इस राजनीतिक ग़ुलामीसे हम अपनेको कैसे मुक्त कर सकते हैं?...नामधारी गरम नेताओं...उदारदलियों...ज़ालिम टोरियोंके ऊपर भरोसा करके नहीं; बल्कि सिर्फ़ अपनी ताक़त और अपनी माँगोंकी न्यायतापर भरोसा करके ही हम अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं।"

(ii) *हेनरी हेथ्रिंगटन (१७९२-१८४९)*—एक कम्पोज़िटर और प्रेस-स्वतन्त्रताका ज़बर्दस्त हामी, कई बार जेलकी सज़ा काटनेवाला एक ज़बर्दस्त योद्धा, अत्यन्त सहृदय और उदार मनुष्य था। उसने कहा था—

"मैं शान्ति और दृढ़ताके साथ घोषित करता हूँ कि लोग जैसा विश्वास करते हैं, उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, शुभकारी ईश्वरके अस्तित्व-को मैं नहीं मानता।....मेरा विश्वास है कि मृत्यु अनन्त निद्रा है। मैं समझता हूँ कि पुरोहितवर्ग और मिथ्या-विश्वास मानव-प्राणीके रास्तेमें ज़बर्दस्त रुकावटें हैं।...(यह) स्वार्थपूर्ण व्यवस्था जो वस्तुतः सभी आदमियोंके गुलाम, पाखंडी या अपराधी बननेकी शिक्षा देती है।....जब तक उपजकी भूमि, मशीन, औज़ार-हथियार, मनुष्यके जाँगरकी सारी उपज केवल कामचोरोंके हाथमें है, और सम्पत्ति पैदा करनेवालोंके हाथमें सिर्फ़ श्रम है....तब तक न अन्त-होनेवाला यह दुःख अनिवार्य है।"

(घ) **चार्टर-संघकी घोषणा**—चार्टरके साथ चार्टर-संघने निम्न घोषणा प्रकाशित की थी—

लंदन ८ मई, १८३८

"देश-भाइयो! हम इसे राजनीतिका स्वयंसिद्ध मानते हैं कि सिर्फ़ (जन-) प्रतिनिधियोंका स्वायत्त शासन ही राजशक्तिका न्यायपूर्ण आधार—वैधानिक अधिकारोंका एकमात्र सच्चा आधार—अच्छे क़ानूनकी एकमात्र न्याययुक्त जननी है, हम इसे ध्रुव सत्य मानते हैं कि वह सभी सर्कारें, जो किसी दूसरे आधारपर स्थित हैं, वह सदा अराजकता या स्वेच्छाचारिताकी तरफ़ जाना चाहती हैं; अथवा एक तरफ़ वर्ग और सम्पत्तिकी पूजा पैदा करती है, दूसरी ओर ग़रीबी और पीड़ाको। हमें उम्मीद है कि निर्वाचक और अ-निर्वाचक इसे अपने

उम्मीदवारोंकी प्रतिज्ञाओंमें शामिल कराते रहेंगे; इसके प्रचारको और बढ़ायेंगे, इसके सिद्धान्तोंपर वार्त्तालाप करेंगे, और तय कर लेंगे कि जैसे उदारोंका सुधार मसौदा-क़ानून बना; उसी तरह यह मसौदा भी इंगलैंडका क़ानून बन जाय।"

जेम्स ब्रायन (१८०५-६४ ई०)—चार्टिस्ट नेता जेम्स ब्रोन्टर ओब्रायनने अपने बारेमें लिखा था—"मेरे मित्रोंने मुझे क़ानून पढ़नेके लिये भेजा था; किन्तु मैंने अपनी ख़ुशीसे उग्रवादी सुधारोंके लिये आन्दोलन स्वीकार किया। चंद दिनों तक मैं दोनों पढ़ता रहा; किन्तु मैंने देखा कि क़ानून सिर्फ़ कल्पना और बदमाशी है; और उग्रवादी सुधार पूर्ण सत्य और अत्यन्त ज़रूरी है।" ओब्रायनने "उत्तरीय तारा"*में लिखा था—

"सार्वजनिक वोटाधिकारसे तुम्हारा उस ज़मीनके बन्दोबस्तपर अधिकार होगा, जो कि परती रखी गई है—यह देशके रुपये-पैसेके ऊपर अधिकार है—यह अधिकार है, जिससे राष्ट्रीय बैंक स्थापित कर सकते हो ···यह अधिकार है, तीन करोड़ एकड़ परती ज़मीनपर जिसमें आधी खेती लायक़ है।"

(ङ) **चार्टिस्ट सभाएँ और सम्मेलन**—चार्टिस्ट-आन्दोलन २१ मई, १८३६की ग्लासगोकी ढाई लाखसे भरी सभासे आरंभ हुआ, यह बतला चुके हैं। उसका वह जलूस स्मरणीय था। छ पाँतियोंमें लोग जल्दी-जल्दी चल रहे थे, तो भी किसी जगहसे गुज़रनेमें लोगोंको डेढ़ घंटे लगते थे। मज़दूरोंके हरएक पेशे और जमातके आदमी अपनी ध्वजाओंके साथ उसमें शामिल थे। न्यूकासल (८०,०००), बर्मिंघम (२,००,०००), मानचेस्टर (३,००,०००), ब्रेडफोर्ड (१,००,०००) और दूसरी जगहोंमें धूम-धामसे सभाएँ हुईं। कमकरोंके नारे थे—"पेटर्लूके ख़ूनी

---

*The Northern Star (१३ अक्टूबर, १८३८)

कारनामोंको याद रखना" ; "बीबी-बच्चोंके लिये हम यह छूरी लिये लड़ते हैं।" "तलवारसे मरनेवाले बेहतर हैं, भूखसे मरनेवालोंसे" ; "सूअर अधिक आदमी कम।" अक्तूबर (१८३८)से आगे मशालके जलूस और सभाएँ होने लगी थीं। चार्टिस्ट आन्दोलनने कितने ही जोशीले गीत पैदा किये थे—

"उठो बेटो, लड़ो दुश्मनसे,
सत्य, बुद्धि तुम्हारा हथियार,
इन टोरियों उदारदलियोंको
जतलायें कि मेल नहीं है विश्वासघात।"
"क्या है यह मूल्य स्वतंत्रताका ?
फल पानेके लिये शहीदोंका गिरना
तो हो ऐसा ही; हम या तो होंगे-आज़ाद,
या सभी होंगे बलिदान।"

१८३८की सभाएँ और खतरनाक होती गईं। एक वक्ताने कहा था—

"एक समय था जब हरएक अंग्रेज़के झोपड़ेमें एक बन्दूक़ और उसके साथ लटकता सूअर-मांस-खंड होता था। अब वह मांसका टुकड़ा नहीं; क्योंकि बन्दूक़ नहीं है। आने दो फिर बन्दूक़को, और मांसका टुकड़ा उसके पीछे-पीछे आगया।" (हार्नी)

४ फ़रवरी, १८३९को लंदनमें चार्टिस्ट-कन्वेन्शन (सम्मेलन) हुआ। सारे देशके कोने-कोनेसे प्रतिनिधि जमा हुए। ४९ प्रतिनिधियोंमें २५ मध्यवर्गके थे और २४ मज़दूरवर्गके। मध्यवर्गीय लोग डगमगाने लगे। उधर श्रमिक जनता कुछ करनेके लिये बेक़रार हो रही थी। आखिर बर्मिंघमके मध्यवर्गीय उग्रवादियोंने स्वयं जगह खाली की। लोग बेक़रार क्यों न होते, जब कि अकाल फैल रहा था, मज़दूरी कम की जा रही थी; और बेकारी बड़ी तेज़ीसे घटकर भयंकर रूप

धारण कर रही थी। लंकाशायर और दक्षिणी-वेल्सके मज़दूरोंकी हालत सबसे बुरी थी, और वह विद्रोहके लिये उतावले थे। वह सर्वस्व बेंच-बेंचकर हथियार खरीद रहे थे। बाइबलका उद्धरण देकर कहते थे—"जिसके पास तलवार नहीं, उसे चाहिये कि अपना कपड़ा बेंचकर तलवार ख़रीदे।" उन्होंने गुप्त संगठन किये और क़वायद-परेड करना शुरू किया। सर्कार सभाओंके बंद करने, खुफ़िया भेदियों और उत्तेजकोंको भेजनेमें व्यस्त थी। ९ अप्रैलकी बैठकमें कन्वेन्शनने स्वीकार किया—"(हमें) पूरा इत्मीनान है, और सभी विधानवेत्ता सहमत हैं कि जनताको हथियारबंद होनेका अधिकार है।" कन्वेन्शनका सबसे बड़ा प्रस्ताव था—७ मईको पार्लमेंटके पास आवेदन-पत्र पेश करना।

आवेदनके बाद सर्वत्र विद्रोह हो उठेगा, इसके लिये सर्कार तैयारी करने लगी। दक्षिणी-वेल्स, मानचेस्टर तथा दूसरे अशान्त-वातावरणवाले स्थानोंमें फ़ौजें भेजी गईं। सिपाहियोंको जनतासे अलगकर बैरकोंमें रखा जाने लगा। ३ मईको सर्कारने हर तरहके हथियार लेकर चलने और क़वायद-परेडको ग़ैर-कानूनी घोषित किया; और धन तथा जीवनकी रक्षाके लिये नागरिकोंको हथियारबंद होनेका हुकुम दिया। धनी व्यापारी तुरन्त हथियारबंद हो खास-कान्स्टेबल बनने लगे। वर्ग-स्वार्थ नंगा नाचने लगा। सर्कार "धनियोंको ग़रीबोंके खिलाफ़ हथियारबंद कर रही थी।"

(च) आवेदन-पत्र पार्लमेंटके पास—७ मई, १८३९को साढ़े बारह लाख आदमियोंके हस्ताक्षरके साथ आवेदन-पत्र पार्लमेंटमें पेश करनेके लिये मेंबर एटवूडको दिया। आवेदन-पत्रका वज़न ६ हन्ड्रेडवेट (८।ऽ मन) और काग़ज़की लम्बाई दो मील थी। १४ जूनको आवेदन-पत्र पार्लमेंटमें पेश हुआ, और १२ जुलाईको उसपर बहस हुई। सर्कारने जान-बूझकर देरी की, जिसमें कि मज़दूर उत्तेजित हो कुछ कर बैठें और उसे फ़ौज इस्तेमाल करनेका मौक़ा मिले। कन्वेन्शन-

ने संघर्षके जो तरीक़े स्वीकार किये थे, उनमें थे—किराया, कर और लगान देनेसे इन्कार, चार्टिस्ट उम्मीदवारोंकी मदद, क़ानून और वैधानिक हक़ोंकी रक्षाके लिये हथियारका इस्तेमाल। कन्वेन्शनकी तरफ़से दिया गया वक्तव्य था—

"देश-भाइयो! हमारे बहादुर पूर्वज अपने अधिकारोंका अभिमान किया करते थे। इन अधिकारोंको उनके संक्षिप्त क़ानून साफ़-सरल बनाते थे। किन्तु, हम उनकी पतित सन्तानोंने उनमेंसे एकके बाद एकको हाथसे जाने दिया और चूँ नहीं किया। अब उन अधिकारोंका बचा-खुचा भाग भी क़ानून-निर्माणके रहस्यवाद या भूल-भुलैयामें लोप हो गया....। बृटेनके स्त्री-पुरुषो! क्या तुम इसे माननेके लिये तैयार हो कि जन्मसे मृत्यु तक लगातार मर-मरके काम करो, जिससे कि....तुम्हारे निठल्ले, अभिमानी उत्पीड़क पलें और बढ़ें? क्या तुम बहुत काल तक चुपचाप इसे मानते जाओगे कि मशीन कलाके सबसे बड़े आशीर्वादको सामाजिक जीवनके भारी शापमें बदल दिया जाय? तुम कब तक देखते रहोगे कि बच्चे अपने माँ-बापसे, पत्नियाँ पतियोंसे प्रतियोगिता करनेके लिये मज़बूर हों, सारा समाज शारीरिक और मानसिक तौरसे पतित हो, धन और उपाधियोंके राजा-बाबुओंके सेवक बने?"

(छ) विद्रोह (i) *बर्मिंघम*—४ जुलाईकी शामको बर्मिंघम-में मज़दूरोंकी एक शान्तिपूर्ण सभा हो रही थी। एक कमकर किसी समाचार-पत्रके लेखको ज़ोरसे पढ़ रहा था। इसी समय एक-ब-एक लंदनसे हालमें लाई गई पुलिसने बिना सूचनाके आँख मूँदकर दायें-बायें पीटना शुरू किया, लड़कों और बच्चों तकको भी उन्होंने नहीं छोड़ा। पहिले तो लोगोंमें भगदड़ मच गई; किन्तु चन्द ही मिनटोंमें वह फिर लौट आये। लड़ाई शुरू हुई और कितने ही पुलिसवाले घायल हुए। बहुत-सी गिरफ़्तारियाँ हुईं। दूसरे दिन मार्शल-ला (फ़ौजी क़ानून)

घोषित हुआ। सड़कोंपर फ़ौज और पुलिसका पहरा पड़ गया। दूकानें बन्द कर दी गईं। धनिक परिवार शहर छोड़ भागने लगे। मज़दूरोंने अपनी खुली सभाएँ जारी रक्खीं, और सैनिक बराबर उन्हें बलपूर्वक तोड़ते रहे। १२ जुलाईको ४६के विरुद्ध २३५ वोटोंसे जब पार्लामेंटने आवेदन-पत्रको खारिज कर दिया, तो लोगोंके असन्तोषका ठिकाना न रहा। १५ जुलाईको बर्मिंघमवाले कमकर फिर मैदानमें जमा हुए। एकाएक सड़ककी सारी लालटेनें बुझ गईं, और जनताके कितने ही प्रमुख दुश्मनोंके घरोंमें आग लगा दी गई। चाँदी-सोना सड़कोंपर बिखरा हुआ था; किन्तु—सर्कार तकने क़बूल किया था—किसी कमकर-ने उसे छुआ तक नहीं। पुलीस और सेना नियन्त्रण न कर सकी। धनी शहर छोड़कर भाग गये, और मज़दूरोंका पाँच दिनों तक शहरपर अधिकार रहा; उनकी सभाएँ लगातार होती रहीं।

ऐस्टनमें चिपकाये इश्तिहारमें यह शब्द थे—

"ऐस्टनके लोगो! सबके लिये रोटी या सबका खून। तैयार करो अपने छुरे, मशाल और बन्दूक़ोंको। " सभी कूच करो, रोटी या खूनके लिये, जीवन या मृत्युके लिये। याद रखो—१२,८०,०००की रोटियों-की पुकारको उपहासकी चीज़ बतलाया गया। ओ अत्याचारियो! सोचो, तुम्हारी मिलें निश्चल रहेंगी।"

१८३८में चार्टरके प्रकाशित होनेपर गृह-सचिव लार्ड जान रस्लने कहा था—"खुली बहस लोकमतकी अनियंत्रित घोषणासे सर्कारको डर नहीं है। लेकिन डर इससे है, यदि आदमी गुप्त संगठन करनेके लिये मजबूर किये गये। वहाँ खतरा है, वहाँ डर है, खुली बहसमें (डर) नहीं।"

किन्तु, सर्कार इस नीतिपर क़ायम नहीं रह सकी। उसकी सख्तियों-के कारण लोगोंको गुप्त संगठनके लिये मजबूर होना पड़ा।

(ii) *दक्षिणी-वेल्समें*—दक्षिणी-वेल्समें विद्रोहकी तैयारियाँ बड़े ज़ोरसे हुई थीं। हथियारबंद बग़ावतसे हम अपने हक़ोंको लौटा सकते हैं, इसका उन्हें पूरा विश्वास था। वह इसके लिये तैयारी और निश्चय कर चुके थे; किन्तु देशके दूसरे भाग अच्छी तरह संगठित नहीं थे, और न उनका निश्चय उतना दृढ़ था। सभी जगहोंसे सम्बन्ध जोड़ना भी मुश्किल था। अकेले रहते भी ३ नवंबर (१८३९)को दक्षिणी-वेल्सने विद्रोह शुरू कर दिया। यह तय कर लिया गया था, कि उस दिन रातको १० हज़ार जवानोंकी तीन टुकड़ियाँ भिन्न-भिन्न दिशाओंसे चलकर न्यूपोर्टके एक ख़ास स्थानपर २ बजे रातको मिल जायँ। फ्रोस्ट अपनी टुकड़ीके साथ ठीक समयपर पहुँच गया; किन्तु दूसरे लोग अंधड़के कारण ठीक समयपर न पहुँच सके। दिनकी रोशनीमें ९ बजे दस हज़ार आदमी लकड़ी, डंडे, भाले और कुछ बंदूकोंके साथ वहाँ जमा हुए। सर्कारी अफ़सरोंको ख़बर न मिले, इसकी कोशिश की गई थी; किन्तु किसी तरह उन्हें पता लग गया। हथियारबंद नागरिकोंकी फ़ौज वेस्टगेट-होटलमें जमा थी। कमकरोंको उम्मीद थी कि होटलमें मजिस्ट्रेट होंगे; किन्तु वहाँ धनिक सैनिकोंकी गोलियोंने उनका स्वागत किया। चार्टिस्टोंने मुक़ाबिला किया; किन्तु उनके हथियार कमज़ोर थे। उन्होंने जीवनकी पर्वाह न कर बलपूर्वक दर्वाज़ा तोड़ना चाहा; किन्तु उसमें वह सफल न हुए। १५ मिनट तक गोलियाँ चलती रहीं, १५ आदमी मारे गये और ५०से ऊपर घायल हुए, जिनमें भी कितने ही अस्पतालमें जाकर मर गये। १२५ आदमी गिरफ़्तार किये गये, जिनमें उनके नेता फ्रोस्ट और विलियम जान्स भी थे।

(ज) **चार्टिस्टोंका दमन**—१ जनवरी, १८४० ई०को फ्रोस्ट और दूसरे न्यूपोर्टके बंदियोंका मुक़दमा शुरू हुआ। लोगोंको वहाँ जानेकी इजाज़त न थी। सड़कोंपर पल्टनोंका पहरा था। हथकड़ियों-बेड़ियोंमें जकड़े क़ैदी अदालतमें लाये गये। जान फ्रोस्ट, ज़ेफ़ानिया

विलियम्स और विलियम् जान्सको फाँसीकी सज़ा हुई, जिसे पीछे आजन्म कारावासमें परिणत कर दिया गया। कैदियोंने शान्तिपूर्वक फैसलेको सुना। अदालत छोड़ते वक्त जान्सने चिल्लाकर जजकी ओर मुँह करके कहा—"तीन तालियाँ चार्टरवादके लिये।"

जून १८४० तक ५०० चार्टिस्ट गिरफ्तार किये जा चुके थे। अधिकांश चार्टिस्टोंने स्वयं अपने मुक़दमोंकी पैरवी की, और अदालतके कटघरेको अपने विचारोंके प्रचारके लिये भाषण-मंचके तौरपर इस्तेमाल किया। जिस वक्त कैदी अपनी सीधी-सादी भाषामें लोगोंकी दयनीय दशाका वर्णन करते थे, तो उपस्थित श्रोताओंकी आँखोंसे आँसू निकलने लगते थे।

गवर्नमेंटने चार्टिस्ट-पत्रोंको बंद कर दिया था। कमकर-संघका काम बंद हो गया था। सर्कारके जुल्मने कुछ समयके लिये विजय पाई।

चार्टिस्ट आन्दोलनने अब या तो गुप्त रूपसे काम शुरू किया या वह कमकर-वर्गके आन्दोलनका हिस्सा बन गया।

(क) **तीन और हस्ताक्षर-पत्र**—२४ जुलाई, १८४० ई०को बचे हुए चार्टिस्टोंने मानचेस्टरमें एकत्रित हो राष्ट्रीय चार्टर-सभाके नामसे अपना एक संगठन क़ायम किया, जिसका उद्देश्य था—"जनताके चार्टरके सिद्धान्तके अनुसार कामन्स सभामें सारी जनताका विश्वास पूर्ण प्रतिनिधित्व स्थापित करना।

एक और राष्ट्रीय आवेदन-पत्र तैयार किया गया, उसपर २० लाख आदमियोंके हस्ताक्षर कराये गये, और मई १८४१ ई०में उसे पार्लमेंटके सामने पेश किया गया। अबकी बार आवेदन-पत्रके पक्ष और विपक्षमें बराबर वोट आये थे, और स्पीकर (सभापति)के वोटसे ही उसे खारिज किया जा सका।

१ मई, १८४२ ई०को दूसरा राष्ट्रीय आवेदन-पत्र ३३,१७,७०२ हस्ताक्षरके साथ कामन्स सभामें बीस आदमियोंके कन्धेपर लाया गया।

उसके सामनेकी ओर *चार्टर* लिखा हुआ था, ऊपर ३३,१७,७०२, और पीछे *स्वतंत्रता* लिखा हुआ था। आवेदन-पत्र छ मील लम्बा था। कामन्स सभामें बहसके वक्त मेकालेने कहा था—

"मैं, सार्वजनीन वोटाधिकारके विरुद्ध हूँ। मेरा विश्वास है कि सार्वजनीन वोटाधिकार उन सभी प्रयोजनोंके लिये खतरनाक है, जिनके लिए कि सर्कार क़ायम है, और जिसके लिए रईसों और दूसरी चीज़ोंका अस्तित्व है, और यह खुद सभ्यताके अस्तित्वके सख्त खिलाफ़ है।"

४६के खिलाफ़ २८७ वोटोंसे आवेदन खारिज कर दिया गया।

१८४४ ई० तक* चार्टिस्ट आन्दोलन दब गया; किन्तु १८४६में वह फिर धीरे-धीरे उठने लगा। चार्टिस्ट नेता ओकोनरने ८६३के विरुद्ध १८५७ वोटोंसे लिबरल मंत्री सरजान हॉबहौसको हराया। ५० लाख-के हस्ताक्षरसे एक आवेदन-पत्र पेश करना तय हुआ, और उसको पार्लमेंट भवनमें ले जाते वक्त १० अप्रेल (१८४६)को जलूस निकालना तय हुआ। इस वक्त सर्कारने ढाई लाख खास कान्स्टेबल भरती किये, और बड़ी तोपोंके साथ १२,००० फ़ौज लंदनमें तैनात की। १० बजे सवेरे जलूस शुरू होनेवाला था; किन्तु ६ बजे ओकोनर डगमगाने लगा। आखिर जलूस नहीं निकला और उसकी जगह एक सभा हुई। ५७ लाखके हस्ताक्षरसे दूसरा आवेदन-पत्र पेश किया गया; लेकिन एक जाँच-कमीटीने इन हस्ताक्षरोंमें १६, ७५, ४६६को सही स्वीकार किया।

(ञ) चार्टिस्ट-आन्दोलन की अन्तिम साँस—देशमें आन्दोलन

---

*तो भी अंग्रेज़ पूँजीपति अब भी कितने घबराये हुए थे, यह उनके पत्र 'टाइम्स' (जून १८४४)के इन वाक्योंसे मालूम होता है—"महलोंसे युद्ध, झोपड़ोंसे शान्ति—यह इस आतंकका जंगी नारा है, जो लौटकर फिर देशको गुँजाने लग सकता है। धनियोंको सजग हो जाना चाहिये!"

बढ़ता गया। फिर विद्रोहकी तैयारी और क़वायद-परेड शुरू हुई। सर्कारने १८३६ और १८४२की तरह फिर तैयारी की। जहाँ-तहाँ जनता और सेनामें भिड़न्त हुई। बड़ी भारी संख्यामें लोगोंकी गिरफ़्तारियाँ हुईं। इसी वक्त ओकोनर और दूसरे नरम-दली चार्टिस्टोंने अपनी नीतिसे संगठनमें फूट डाल दी।

भीतरी कमज़ोरियोंको समझने और दूर करनेकी कोशिश की गई। १८५१ ई०में हार्नी और जान्सके प्रयत्नसे राष्ट्रीय-चार्टर-सभा*ने एक विस्तृत कमकर-वर्गी प्रोग्राम स्वीकार किया; और समाजवादपर उसमें ज़ोर दिया गया। किन्तु, चार्टिस्ट समयके पीछे जागे, और क्रमशः निर्बल होते-होते १८५४ तक राष्ट्रीय-चार्टर-सभा बन्द हो गई।

(ट) चार्टरवाद—चार्टरवाद संसारका सबसे पहिला मज़दूर-वर्गीय राजनीतिक आन्दोलन था, वह अपने उद्देश्यमें भले ही नहीं सफल हुआ, किन्तु उसके प्रयत्न निष्फल नहीं गये। दस लाख चार्टिस्ट, जनतासे चुपचाप मिट नहीं गये। चार्टरवादने अपने उदाहरण, अपने अनुभवों, अपनी निर्बलताओं द्वारा आधुनिक समाजवादके शिलारोपणमें बहुत बड़ी सहायता की। मार्क्स और एन्गेल्सने चार्टिस्ट आन्दोलनसे अप्रत्यक्षरूपेण बहुत शिक्षा ली, और हम कह सकते हैं कि चार्टरवादके प्रयोगोंने मार्क्सवादके सिद्धान्तोंका रूप लिया।

हार्नीने १८४८में चार्टरवादके बारेमें कहा था—

"जो जमीन जोतते हैं, वह उसके मालिक होंगे, और जो अनाज पैदा करते हैं, वह उसके पहिले खानेवाले होंगे, जो महल बनाते हैं, वह उनमें बसेंगे।...निकम्मोंके सिवा दूसरा भूखों नहीं मरने पायगा।"

१८५४में चार्टिस्ट-आन्दोलनका अन्त हुआ। इंगलैंडका शासक-

*National Charter Association.

वर्ग चिंताकी काली रातोंसे निकलकर निश्चिन्त हुआ। उसके तीन वर्ष बाद १८५७ ई०में परतन्त्र भारतने १०० वर्ष तक अंग्रेज़ोंकी गुलामी होनेके बाद आज़ाद होनेकी कोशिश की ; किन्तु सन् ५७का विद्रोह सोलहो आना न राष्ट्रीय था, और न किसानी। यह एक वेतनभोगी सेनाका विद्रोह था, जिस विद्रोहका संचालन प्रतिगामी सामन्त शासक इसलिये कर रहे थे कि उनके अस्तित्वको अंग्रेज़ खतम करना चाहते थे, या शासनसे उन्हें वंचित कर चुके थे। हाल हीमें परतन्त्र बनाये गये अवधमें ही इस विद्रोहने जनताके विद्रोहका रूप धारण किया था, और बनारसके आस-पास जैसे कुछ थोड़े-से प्रदेशोंमें यह ज़मींदारों-के विरुद्ध किसानोंका विद्रोह भी बना था। इतना बड़ा विद्रोह इतनी जल्दी इसीलिये दबाया जा सका ; क्योंकि उसकी पीठपर पीड़ित जनता-का हाथ न था।

एकादश अध्याय

वैज्ञानिक समाजवाद या मार्क्सवाद

इंगलैंडके चार्टरवादपर अभी हम लिख चुके हैं। वह मज़दूरोंका आन्दोलन था, और उसमें सिद्धान्तकी प्रधानता नहीं, प्रयोगकी प्रधानता थी—जनता आख़िर होती ही है प्रयोग प्रधान। उससे पहिले उटोपियावादियोंने अपने स्वाप्निक समाजवादका प्रचार और प्रयोग किया था।

उटोपियावादकी विशेषता थी—उसके विचारक दर्शन और सन्तों-की शिक्षासे प्रेरित हुए थे। उनका विश्वास था कि ज्ञान-प्रसारसे समाज-में परिवर्त्तन लाया जा सकता है, और वह इसके लिये कार्य नहीं प्रोपेगंडा-का सहारा लेते थे। उटोपियन समाजवाद और उटोपियावादियोंका अब भी अभाव नहीं है। सामाजिक विषमताको देखकर जब हम सिर्फ़ दिमाग़ी तर्क-वितर्कसे ही उसका हल निकालना चाहते हैं, तो परिणाम उटोपियन समाजवाद ही होता है। एच० जी० वेल्स-जैसे अभी भी उटोपियन लेखक मौजूद हैं।

उधर चार्टरवादका सजीव जन-आन्दोलन सिद्धान्तकी सहायता-के बिना धीरे-धीरे अग्रसर हो रहा था, दूसरी ओर फ़ूरिये, ओवेन्-जैसे उटोपियन समाजवादियोंके स्वप्न प्रयोगपर असफल साबित हुए थे, या यों कहिये उटोपियावादके आसमानी उड़ानका प्रतिषेध चार्टरवादके केवल प्रत्यक्ष प्रयोगवाद द्वारा हो गया, जब कि उटोपिया-वादी चार्टिस्टोंके शिष्योंने उसे जन-संघर्षके प्रयोगपर कसा। उटोपिया एक वाद* था, जिसका *प्रतिवाद*† चार्टरवाद था; इस वाद और

---

*Thesis †Antithesis

प्रतिवादका संवाद‡ वैज्ञानिक समाजवाद निकला, जो कि विज्ञान-के आधारपर और विज्ञानकी तरह सिद्धांत तथा वाद दोनोंको ज़रूरी समझता है—वह सिद्धांत सिद्धांत नहीं, जो प्रयोगपर नहीं उतरता। उस प्रयोगको पूरा सफल नहीं बनाया जा सकता, जिसको तज़र्बोंके बिना-पर स्थापित सिद्धान्तोंका सहारा नहीं। इस वैज्ञानिक समाजवादको दुनियाके सामने लानेवाला जर्मन विचारक कार्ल मार्क्स था।

१. कार्ल मार्क्स (१८१८–८३)

(१) *जीवनी*—कार्ल मार्क्सका जन्म ५ मई, १८१८को राइनलैंड (जर्मनी)के ट्रेवेज़ नगरमें हुआ था। उसके पिता एक जर्मन क़ानून-पेशा और दादा एक यहूदी रब्बी (पुरोहित) थे। उसकी माँ हॉलैंडके एक रब्बीकी लड़की थी। जिस वक्त बालक कार्ल छ साल का था, उसी वक्त परिवारने यहूदी धर्म छोड़ ईसाई धर्म स्वीकार किया। कार्लकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय स्कूल और फ़ान-वेस्टफ़ालेन्—एक नवाब, कार्लके भावी ससुर तथा सर्कारी प्रीवी कौंसिलर—के घर पर हुई। वेस्टफ़ालेन् बड़ा साहित्य-प्रेमी था, और उसकी संगतसे मार्क्स इतना अनुगृहीत हुआ था, कि उसने अपने डाक्टर होनेके लिये लिखे निबंध-को इन शब्दोंके साथ उसे अर्पित किया था—"जो प्रत्येक प्रगतिशील धारा तथा सत्य-प्रेमी गंभीर निर्णयका उत्साहके साथ स्वागत करता है; और जो इसका सजीव सबूत है कि आदर्शवाद कल्पना नहीं, बल्कि सच्चाई है।"

१७ वर्षकी उम्रमें बोन विश्वविद्यालयसे मैट्रिक पासकर कार्लने अपने पिताकी इच्छाके विरुद्ध क़ानून पढ़ना शुरू किया। दूसरे साल १८३६ ई०में विश्वविद्यालय बदलकर मार्क्स बर्लिनमें पढ़ने लगा, और दर्शन, इतिहास, साहित्य, कला अनेक विषयोंके अध्ययनमें डूब गया।

‡Synthesis.

मिलना-जुलना सब कुछ छोड़ वह रात-दिन पढ़नेमें लगा रहता था। अपने पढ़े विषयका संक्षेप, ग्रीक, लातिनके अनुवाद, दार्शनिक-वादोंपर विचार, खुद अपने विचारोंका क्रम-बंधन, दर्शनकी रूप-रेखाओं-का मसौदा और तीन जिल्द कविताएँ—यह उस समयके मार्क्सके काम थे। १८३७में अभी वह १६ ही सालका था, तभी वह इस परिणाम-पर पहुँच गया, कि कान्ट और फ़िख्टेके कल्पनापूर्ण दर्शन बिल्कुल फ़ज़ूल हैं। हेगेल्का दर्शन तरुण मार्क्सको कुछ आकर्षक मालूम हुआ। उसी समय उसने अपने बापको लिखा था—"जिस विज्ञानवाद*-को मैं अब तक इतना प्रिय समझता था, उसे छोड़कर अब मैं वास्त-विकतामें ही आदर्श ढूँढ़ने लगा हूँ।...मैंने हेगेल्के दर्शनको अभी जहाँ-तहाँसे पढ़ा है; लेकिन उसका विचित्र रूखा-सा राग पसन्द नहीं आया। एक बार और मैं इस समुद्रमें पक्के निश्चयके साथ डूबना चाहता हूँ।..."

अन्तमें मार्क्स हेगेल्के दर्शनका अनुयायी हो गया, और उसने अपनी कविताओं तथा कहानियोंके मसालोंको जला दिया। यूनिवर्सिटी-क्लबका कार्ल एक उत्साही सदस्य था। वहाँ वह दार्शनिक वाद-विवादों-में बहुत भाग लेता था। उसके मित्र ब्रूनो बोएरको बोन विश्वविद्यालय-की प्रोफ़ेसरी मिलने जा रही थी, कार्लको भी फिलॉसफ़ीकी धुन थी, और वह भी वहाँ लेक्चरर बनना चाहता था। उसने क़ानून छोड़ फिलॉसफ़ी पढ़नी शुरू की, और २३ वर्षकी उम्रमें ज़ेना विश्वविद्यालयसे पी-एच्-डी (दर्शनाचार्य)की उपाधि ली। उसके निबन्धका विषय था—*देमोक्रितु और एपीकुरुके प्राकृतिक दर्शन*। उसने अध्यापक-पदके लिये आवेदन-पत्र भेजा; किन्तु प्रुसियाकी सर्कार स्वतन्त्र विचारकों-

---

*Idealism—विज्ञान अर्थात् मानसिक जगत् ही ठीक है, दृश्य-जगत् ग़लत है।

को कब पसन्द करने लगी ? बोएर और मार्क्स दोनोंको वहाँ जगह नहीं मिली।

मार्क्सने पत्रकार-कलाको अपनाया, और अपनी लेखनी द्वारा पुरानी रूढ़ियों, मिथ्याविश्वासोंपर प्रहार करना शुरू किया। इसी समय कुछ उदार विचारके लोगोंने "राइनिश् ज़ाइटुङ्" नामसे एक पत्र निकाला। मार्क्सके लेख उसके संचालकोंको इतने पसन्द आये कि पहिलेके सम्पादकके हटनेपर २४ सालकी उम्रमें उसे ही सम्पादक बना दिया गया। १८४२में मार्क्सने इस पत्रका संपादन बड़ी योग्यता-से किया।

मार्क्स और अध्ययन करना चाहता था ; इसलिये उसने सम्पादकी छोड़ दी। इसी समय उसने अपने मित्र नवाब फान्-वेस्टफ़ालेन्की रूप-गुण-सम्पन्ना लड़की जेनोसे शादी की। १८४३–४४को मार्क्सने अर्थशास्त्र और दूसरे विषयोंके गंभीर अध्ययन और चिन्तनमें अपने समयको लगाया। इस प्रकार १८४४में २६ वर्षकी आयुमें मार्क्स पक्का समाजवादी बन गया। कोलोनेसे लिखे मई १८४३के एक पत्रमें मार्क्सने लिखा था—

"संचय और व्यापारकी व्यवस्था, मानव-जातिको अधिकृत और शोषित करनेकी व्यवस्था वर्त्तमान समाजको भीतरसे बड़ी तेज़ीके साथ कुतर रही है ; और उससे भी ज्यादा तेज़ोसे, जितनी तेज़ीसे कि जन-संख्या बढ़ रही है। इस घावको पुरानी व्यवस्था भर नहीं सकती ; क्योंकि वस्तुतः उसके पास भरने या उत्पादन करनेकी शक्ति नहीं है। वह (व्यापारी व्यवस्था) तो सिर्फ़ भोग करना और जीना जानती है।"

फ़ूरिये, प्रूधोंकी उटोपियोंको खयालमें रखते हुए मार्क्सने लिखा था कि मेरा काम उटोपिया बनाना नहीं ; बल्कि मेरा काम है वर्त्तमान सामाजिक, राजनीतिक स्थितियोंकी आलोचना करना, और युगके संघर्षों और आकांक्षाओंका सार निकालना।

अक्तूबर, १८४३में मार्क्स अपनी तरुणी स्त्रीके साथ पेरिस गया। वहाँ उसे फ्रांस-प्रुसिया-वर्ष पुस्तकके सम्पादनके लिये बुलाया गया था। १८४४ ई०में एन्गेल्सका एक लेख मार्क्स सम्पादित उक्त वर्ष-पुस्तकके एक अंकमें निकला, तभीसे दोनोंकी दोस्ती आरम्भ हुई, और वह मृत्यु तक गहरीसे गहरी होती गई।

१८४४ ई०में मार्क्सने अपना *पवित्र परिवार* प्रकाशित किया, इसमें उसने तरुण हेगलानुयायियोंको सामाजिक समालोचनाके मैदान-में उतरनेके लिये कहा। मार्क्सके मौलिक सिद्धान्तोंमेंसे, इतिहासकी भौतिकवादी व्याख्या और वर्ग-संघर्ष बीज रूपसे उस समय भी मौजूद थे। उसने लिखा था—"तत्कालीन उद्योग-धंधेका अध्ययन किये बिना" इतिहासके किसी कालका समझना असंभव है। विचार समाजके विकास करनेमें समर्थ हैं, किन्तु तभी जब कि वह जनताके हितके प्रतिनिधि हों; "नहीं तो विचार जोश भले ही दिला दें, किन्तु उनका कोई परिणाम नहीं निकल सकता। विचार वहीं तक कार्य करनेमें सफल होते हैं, जहाँ तक कि वह जनहितके अनुसार होते हैं। विचार जिस उत्साहको जन्म देते हैं, उसीसे भ्रम होने लगता है, कि ये आम तौरसे मानव-जातिके मुक्तिदाता हैं।"

मार्क्सको अपने राजनीतिक विचारोंके लिये जर्मनी छोड़ १८४३में पेरिस आना पड़ा था। अब प्रुसियन् सर्कारने फ्रेंच गवर्नमेंटपर ज़ोर डाला, और १८४५में मार्क्सको पेरिस छोड़ ब्रुसेल्स चला जाना पड़ा। फ्रांसकी दूसरी क्रान्ति (फ़र्वरी १८४८) तक वह वहीं रहकर अध्ययन करता रहा, और प्रूधोंके *दरिद्रता-दर्शन*के उत्तरमें अपने ग्रन्थ *दर्शन-दरिद्रता* लिखी, जो १८४७में प्रकाशित हुई। विदेशमें रहनेवाले जर्मन मज़दूरोंने १८३६में 'न्यायियोंकी लीग' क़ायम की थी। १८४०से इसका केन्द्र लंदनमें था, मार्क्सकी तारीफ़को सुनकर उन्होंने उसके बारेमें जाननेके लिये अपने आदमी जनवरी १८४७में

ब्रुसेल्स भेजे। लीगका नाम अब कमूनिस्त-लीग हो गया। इसकी प्रथम कांग्रेस १८४७की गर्मियोंमें लंदनमें हुई, जिसमें एन्गेल्स भी शामिल हुआ। दिसंबरकी दूसरी कांग्रेसमें मार्क्स भी उपस्थित था। लीगकी प्रेरणापर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक समस्याओंपर मार्क्सने जो गंभीर अध्ययन और चिन्तन किया था, उसीको उसने सर्वसाधारणके समझने लायक़ भाषामें *साम्यवादी घोषणा*के रूपमें तैयार किया।

फ़र्वरी १८४८के विद्रोहका सारे यूरोपमें तहलक़ा मचा था। फ्रांससे निर्वासित होनेके बाद मार्क्स अभी तक बेल्जियममें रहता था, बेल्जियम् सर्कारको अपने यहाँ भी क्रान्तिका डर होने लगा, और उसने भी उसे अपने यहाँसे निकल जानेका हुक्म दिया। नई क्रान्ति-की अस्थायी सर्कारके एक प्रमुख सदस्य फ्लोकोंने १ मार्चके पत्रमें मार्क्सको लिखा था "बहादुर और विश्वसनीय मार्क्स! फ्रेंच-प्रजातंत्रकी भूमि सभी स्वतंत्रताके मित्रोंके लिये शरण-स्थान है। अत्याचारने तुम्हें निर्वासित किया; स्वतंत्र फ्रांस तुम्हारे लिये अपना दर्वाज़ा खोलता है—तुम्हारे लिये और उन सभीके लिये जो कि सभी जातियोंके भ्रातृ-भावपूर्ण पवित्र उद्देश्यके लिये लड़ते रहे हैं। फ्रेंच सर्कारका हरएक अफ़सर इस अभिप्रायमें अपने कर्त्तव्यको समझेगा।"

पेरिसमें पहुँचकर मार्क्सने कमूनिस्त लीगके कितने ही सदस्योंको जमा किया, और कुछको क्रान्तिमें भाग लेनेके लिये जर्मनी भेजा। स्वयं एन्गेल्सके साथ राइनलैंडमें पहुँचा, और जून १८४८में 'नोये राइनिश् ज़ाइटुङ्' (नवीन राइन काल) नामसे एक पत्र निकाला, जिसका संपादक मार्क्स ख़ुद बना। अपने लेखोंमें मार्क्सने बूर्ज्वासी (पूँजीवादी वर्ग)को निरस्त्र करने तथा समाजकी मरणान्तक भीषण पीड़ा-को खतम करनेके लिये सशस्त्र क्रान्तिसेनापर ज़ोर दिया। पत्र डेढ़ वर्ष तक मुश्किलसे चलकर बंद हो गया। मार्क्सने अपनी जेब से—और जो

कुछ उसके पास था—उसे बेंचकर—७ हज़ार थलेर पत्रमें लगा डाले। मार्क्स फिर पेरिस लौट आया। पेरिसमें क्रान्तिविरोधियोंका ज़ोर था।

१८४९में मार्क्सको पेरिससे निकल जानेका हुक्म हुआ और वह लंदन चला गया। तबसे प्रायः अपना सारा जीवन उसने वहीं बिताया। लंदन वासके पहिले कुछ महीनोंमें उसने 'लुई बोनापार्तका अठारहवाँ ब्रूमिये' पुस्तक लिखी, और 'क्रान्ति तथा प्रतिक्रान्ति'के नामसे पीछे छापे गये इन लेखोंको न्यूयार्क ट्रिब्यूनके लिये लिखा। मार्क्सने विश्लेषण करके बतलाया कि फ़र्वरी मार्च (१८४८)की क्रान्तिका वास्तविक कारण व्यापारिक मंदी थी, और प्रतिक्रिया व्यापारकी वही समृद्धि थी, जो धीरे-धीरे १८४८की गर्मियोंमें बढ़ने लगी, और १८४९-५०में बढ़कर खूब फूलने-फलने लगी। क्रान्ति या किसी ऐसे महान् सामाजिक कार्यकी असफलता किसी एक व्यक्तिके विश्वासघातसे नहीं होती, इस बातको मार्क्सने अपने लेखोंमें स्पष्ट किया। ऐसे राजनीतिक दलसे क्या उम्मीद की जा सकती है, जिसका सर्वस्व सिर्फ़ यह ज्ञान है, कि अमुक और अमुकपर विश्वास नहीं करना चाहिये।"

लन्दनके जीवन (१८४९—८३ ई०)के ३४ वर्षोंमें प्रायः प्रतिदिन मार्क्स बृटिश-म्युज़ियम जाता रहा, और दर्वाज़ा खुलनेसे जब तक कि कर्मचारी पाठकोंको घर नहीं भेजते थे, वह वहीं एक मेज़पर बैठा अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीतिक, सामाजिक विज्ञानकी पुस्तकोंको पढ़ता और उनसे नोट लेता रहता। इन्हीं नोटोंसे उसने पीछे अपने महान् ग्रन्थ *कापिटल* (पूँजी)को लिखा।

इन दिनों मार्क्सके परिवारकी दशा बड़ी दयनीय थी। डीन-स्ट्रीट-के एक मामूली मकानकी दो कोठरियोंमें उसका परिवार रहता था। कहावत मशहूर है कि १८५२में उसने अपना अन्तिम कोट बंधक रखकर कोलोनके कम्यूनिस्त मुक़दमेके लिये पुस्तिका लिखनेके वास्ते काग़ज़ खरीदा। १८५१-६० तक मार्क्सकी स्थायी आमदनीका एक

मात्र ज़रिया *न्यूयार्क-ट्रिब्यून*में लिखे लेखका पारिश्रमिक था, जो कि प्रति लेख १ पौंड (१३ रुपये)के हिसाबसे मिलता था। १८६०के बाद अवस्था कुछ सुधरी, जिसके कारण एक मित्र विलहेल्म वोल्फ़की ८०० पौंडकी वसीयत तथा एन्गेल्सके वार्षिक ३५० पौंड (आजके हिसाबसे ४३५० रुपये, मासिक ३७२ रुपये) थे।

१८६०-७० वाले साल मार्क्सके जीवनका सबसे सुखमय समय था। उसके प्रत्येक रविवारकी संध्या मित्रों और परिवारमें आमोद-प्रमोदके साथ बीतती थी। जेनी बड़ी सहृदया पत्नी थी। बचपनमें बड़े लाड़-प्यारसे पली एक जर्मन नवाबकी लड़की होते हुए भी वह मार्क्सके कठिन और कटु-जीवनकी दृढ़ साझीदार बनी रही। मार्क्सके साथ वह भी दर-बदर मारी फिरती रही। इन सभी हालतोंमें मार्क्सकी संगिनी होनेके लिये उसने कभी अफ़सोस नहीं किया। मार्क्सको अपनी पत्नीकी तीक्ष्ण-विश्लेषणपटु प्रतिभापर इतना विश्वास था कि वह अपने सभी किताबी मसौदोंको उसे देखनेके लिए देता था, और उनपर उसकी राय मार्क्सकी दृष्टिमें बड़ी क़ीमत रखती थी।

मार्क्सको ६ सन्तानें हुई, जिनमें दो लड़के और एक लकड़ी बचपन हीमें मर गये। तीन लड़कियाँ जेनी (चार्ल्स लंगेटकी पत्नी) लौरा (पाल लाफार्गकी पत्नी), एलीनोर (डाक्टर एडवर्ड एवलिंग-की स्त्री)—बच रही थीं।

१८६७में मार्क्सने ८०० पृष्ठोंमें *कापिटल* (पूँजी)के प्रथम खंडका जर्मन संस्करण प्रकाशित किया। इसमें मार्क्सने पूँजीवादी उत्पादनकी सूक्ष्म विवेचना की है।

कापिटलके प्रकाशनके बाद मार्क्सका ध्यान संसारके मजदूरोंके अन्तर्राष्ट्रीय संगठनकी ओर गया, और १८६४में प्रथम इन्टर्नेशनल स्थापित हुई; जिसमें प्रूधोंके अराजकतावादी अनुयायी बड़ी संख्यामें शामिल हुए। १८६५-६७ ई० तक इन्टर्नेशनलपर अराजकवादियोंका

ज़ोर रहा; १८६८-७० ई० तक मार्क्सका, और फिर मृतप्राय इन्टर्नेशनल-पर १८७१ ई०से १८७२ ई० तक प्रूधोंके शागिर्द बकुनिन् और उसके अनुयायियोंका।

१८७०में जब प्रुसिया (जर्मनी)ने फ़्रांसके विरुद्ध युद्ध छेड़ा, तो मार्क्सने जर्मन कमकरोंको ज़ोर देकर इस आक्रमणात्मक युद्धको रोकनेके लिये कहा।

सेदाँमें फ़्रान्सकी पराजय (अगस्त १८७०)के बाद फ़्रान्सके धनियोंका जो रवैया रहा, उससे फ़्रेंच कमकरोंको निरंकुशता और स्वेच्छाचारकी आवृत्ति होनेका भय लगने लगा। इसलिये १८ मार्च १८७१को पेरिसके कमकरोंने *कम्यून*की घोषणा की, जिसने सात सप्ताह तक बड़ी बहादुरीके साथ अपना अस्तित्व क़ायम रखा। कम्यून-का आतंक फ़्रेंच धनियोंपर जितना था, उससे कम जर्मन विजेताओंपर नहीं था। इसीलिये जर्मनोंने फ़्रेंच धनियोंकी प्रार्थनापर युद्ध-बंदी सिपाहियोंकी भारी संख्याको छोड़ दिया। और धनियोंने बड़ी निष्ठुरता और मज़दूरोंके क़तल-आमके साथ कम्यूनको नष्ट कर दिया। मार्क्स-ने कम्यूनके क़ायम होनेसे पहिले यद्यपि उसे समयोचित नहीं कहा था, किन्तु क़ायम हो जानेपर उसने अपनी सारी शक्ति लगाकर उसका समर्थन किया।

कम्यूनका पतन हुआ। इन्टर्नेशनलके जेनरल सेक्रेटरीके तौरपर मार्क्सको जितना समय उसके लिये देना पड़ा था, उससे उसका क़लम-का काम रुक-सा गया था, और उधर इन्टर्नेशनल मुमूर्षु अवस्थामें पहुँच गई थी, इसलिये १८७२की हेगकी बैठकमें मार्क्सका पदत्याग स्वीकार हुआ, और उसके परामर्शके अनुसार इन्टर्नेशनलका केंद्र न्यूयार्क चला गया, जहाँ १८७४ ई०में उसने अन्तिम साँस तोड़ी।

१८७५ ई०में जर्मन सोशलिस्ट लासेलकी ऊलजलूल बातों—*गोथा-प्रोग्राम*—की मार्क्सने कड़ी आलोचनाकी और कहा—"आंदोलन-

का वास्तविकमें आगे बढ़ा हरएक क़दम दर्जनों प्लेटफ़ार्मों (वादों)से बढ़कर हैं। इसी अवसरपर *प्रोलेतारीय अधिनायकत्व*—जांगर चलानेवालोंका समाजपर एकाधिपत्य—की बात मार्क्सने कही थी—

समाजकी पूँजीवादी व्यवस्था और साम्यवादी व्यवस्थाके बीच एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें क्रान्तिकारी परिवर्त्तनका एक समय है; वह एक राजनीतिक सन्धिकाल है। इस समयका राज (शासन) क्रान्तिकारी प्रोलेतारीय अधिनायकत्त्वके सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता।"*

१८७५से १८८३ ई०में अपनी मृत्यु तक मार्क्स बराबर शारीरिक व्याधियोंसे पीड़ित रहा। इस अवस्थामें भी वह बेकार नहीं बैठा रहा, और अमेरिकन तथा रूसी किसानोंका विशेष तौरसे अध्ययन करता रहा। स्वास्थ्य-सुधारके लिये वह १८७७-७८में कार्ल्सबाद गया, वहीं उसने कपिटलके दूसरे खंडकी सामग्रीको क्रमबद्ध किया। कार्ल्सबाद और दूसरे स्वास्थ्यकर स्थानोंके प्रवासने मार्क्सके स्वास्थ्यमें कोई सुधार नहीं किया, और ४१ साल (१८४२-८१) तक निरन्तर संघर्षके बाद १४ मार्च, १८८३को लन्दनमें मार्क्सने अपनी देह-यात्रा समाप्त की। इसी वक्त एन्गेल्सने अपने एक अमेरिकन मित्रको लिखा था—

"मानव-जातिके एक मस्तिष्कसे आज जितने मस्तिष्क उसके पास हैं, उनमें सबसे अत्यन्त महत्त्वशाली मस्तिष्कसे वह वंचित हो गई। मज़दूर वर्गका आन्दोलन अपने रास्ते चलता रहेगा, लेकिन उसका वह केन्द्र-बिन्दु चल बसा, जिसकी ओर फ्रेंच, रूसी, अमेरिकन तथा जर्मन अपनी इच्छासे गाढ़के समय मुँह करते थे, और सदा ऐसी स्पष्ट, दो टूक सलाह पाते थे जिसे प्रतिभा और (तत्संबंधी ज्ञानपर) पूर्ण अधिकार (रखनेवाला) व्यक्ति ही दे सकता था।"

---

*Karl Marx, *The Gotha Programme* (न्यूयार्क सोशलिस्ट लेबर-पार्टी प्रकाशन, १९२२) पृष्ठ ४८

१७ मार्च (१८८३ ई०में) लंदनके हाईगेट क़ब्रस्तानमें मार्क्सके शवको दफ़नाया गया। एन्गेल्स और जर्मनीसे दौड़कर आये विलियम् लीब्क्नेख्टने समाधिपर भाषण दिये। चालीस सालके अभिन्न मित्र एन्गेल्सने वहाँ कहा था—

"जिस तरह डार्विनने प्राणि-जगत्के विकासके सिद्धान्तका आविष्कार किया था, उसी तरह मार्क्सने मानव-इतिहासके विकासके सिद्धान्तका आविष्कार किया।...अर्थात् राजनीति, विज्ञान, कला, धर्म या किसी भी दूसरे विषयकी ओर ध्यान देनेसे पहिले मनुष्यको खान-पान, कपड़ा और वास-घर चाहिये। इसलिये, जीवनकी मौलिक आवश्यकताओंका उत्पादन और आर्थिक विकासकी तत्कालीन अवस्था वह नींव है, जिसपर राष्ट्रीय संस्थाएँ, क़ानूनी व्यवस्थाएँ, कला और बल्कि लोगोंके धार्मिक विचार तामीर किये गये हैं; और इसलिये उनकी व्याख्याको उन्हींपर आधारित करना होगा।"

लीब्क्नेख्टने कहा था—"उसने सामाजिक जन-स्वतन्त्रताको एक सम्प्रदाय, एक पन्थसे ऊपर उठाकर एक पार्टीका रूप दिया, जो पार्टी कि आज अपराजित हुई लड़ रही है, और अन्तमें विजय प्राप्त करके रहेगी।"

एन्गेल्स (१८२०-९७) जीवनी—वैज्ञानिक समाजवाद और मार्क्सके काममें एनगेल्सकी सेवाएँ और आत्म-त्यागका स्थान बहुत ऊँचा है। एन्गेल्सने कितने ही विषयोंपर ख़ुद प्रकाश डाला, यह अन्यत्र हम देख चुके हैं।

एन्गेल्सका जन्म २८ नवम्बर, १८२० ई०को मार्क्सके ढाई वर्ष पीछे बरमेन (जर्मनी)में हुआ था। उसका बाप एक धनी मिल-मालिक था। एन्गेल्सकी पर्वरिश अत्यन्त पुराने संकीर्ण विचारवाले परिवारमें हुई थी। अन्तिम शिक्षा प्राप्त करनेसे एक साल पहिले उसे

पढ़ाई छोड़ बापके कारबारमें योग देना पड़ा। १८४१ ई०में बर्लिन-के तोपखाना-गारदमें भर्ती होकर उसने युद्धकी शिक्षा प्राप्त की। सैनिक विज्ञानपर उसका विशेष अधिकार था, जो कि इसी शिक्षाका परिणाम था। कुछ समय बाद एन्गेल्सको अपने बापके मिलकी देखभालके लिये मानचेस्टर चला जाना पड़ा। एन्गेल्सकी प्रवृत्ति पहिले हीसे दर्शन और सामाजिक समस्याओंपर सोच-विचार करनेकी ओर थी। इंगलैंडसे लौटते वक्त *राइनिश् ज़ाइटुङ्*के कार्यालयमें पहिले-पहल एन्गेल्सने मार्क्ससे मुलाक़ात की; किन्तु उस वक्त दोनोंमें कोई समीपता नहीं हो पाई। इसके बाद कितने ही समय तक एन्गेल्स चार्टिस्टों, उटोपियन-समाजवादियों और मज़दूर-संघोंके आन्दोलनोंके साथ संबंध रखता रहा! इसी समय उसने अपनी पुस्तक "१८४४ ई०में इंगलैंडके श्रमिकवर्गकी अवस्था"के लिये सामग्री जमा की। अब वह मार्क्सके बहुत नज़दीक आ गया था, और यूरोप लौटनेपर *पवित्र-परिवार* लिखनेमें उसने मार्क्सको सहयोग दिया। १८४५ ई०में व्यापार छोड़ वह मार्क्सके पास ब्रुसेल्स चला गया। दो सालों तक दोनों अनुसन्धान, लेखन और संगठनके काममें व्यस्त रहे। १८४७की गर्मियोंमें पेरिसकी जमातका प्रतिनिधि बनकर मार्क्स कमूनिस्त लीगके वास्ते एक नया प्रोग्राम बनानेके लिये लंदन गया। *साम्यवादी घोषणा* लिखनेमें भी उसने मार्क्सकी मदद की।

मार्क्स *फ्रेंच-प्रुसिया-वर्ष-पुस्तकका* सम्पादक बनकर पेरिस गया था, यह हम बतला चुके हैं। इसी वर्ष-पुस्तकके १८४४के अंकमें एन्गेल्सका भी एक लेख छपा था, और एक तरह एन्गेल्स-मार्क्स-मित्रता इस समयसे शुरू होती है। लेकिन, उनकी अभिन्नता १८४५-से ब्रुसेल्समें शुरू होती है। १८४८-५०में यूरोपके क्रान्तिकारी आन्दो-लनोंके संचालनमें एन्गेल्स मार्क्सका दाहिना हाथ रहा। १८५०के बाद वह फिर व्यापारमें लौट गया; किन्तु रुपया कमानेके लिये नहीं,

बल्कि अपने मित्रके महान् काममें आर्थिक सहायताका ज़रिया पैदा करनेके लिये। एक प्रतिभाशाली मस्तिष्ककी इस प्रकारकी आत्म-विस्मृति, इतना बड़ा त्याग एन्गेल्सके महान् व्यक्तित्वको बतलाता है। मार्क्सने अपने एक पत्रमें एन्गेल्सको लिखा था—"तुम्हारे बिना मैं कभी भी इस काम (कपिटल)को पूरा न कर सका होता—सिर्फ़ मेरे लिए तुमने अपनी अद्भुत प्रतिभाको बर्बाद होने दिया, और व्यापारके गलाघोट्टूँ वातावरणमें बंद होना पसन्द किया।" १८६०में एन्गेल्सका बाप मर गया, और कारबारका भार उसके ऊपर आ गया। इस वक़्त एन्गेल्स-ने मार्क्सको लिखा था—"मैं और किसी चीज़की उतनी चाह नहीं रखता, जितना कि इस निष्ठुर सौदागरीसे मुक्ति की, जो कि समयकी बर्बादीके साथ-साथ मुझे पस्त कर रही है। जब तक मैं इसके अन्दर हूँ, मैं और किसी कामके क़ाबिल नहीं हो सकता, ख़ासकर जबसे कि मैं भागीदार हो गया हूँ, तबसे अवस्था और ख़राब है; क्योंकि जवाब-देही ज़्यादा बढ़ गई है। यदि ज़्यादा आमदनीका प्रश्न न होता, तो मैं एक क्लर्क रहना अधिक पसन्द करता।"

तो भी एन्गेल्स ६ वर्ष तक और अपनी इच्छाके विरुद्ध अपने कारबारको करता रहा। १८६९में एन्गेल्सने अपने व्यापारको बेंच डाला, और अब उसके पास नक़द रुपया इतना था, जिससे वह मार्क्सको ३५० पौंड सालाना दे सकता था। १८७०में एन्गेल्स भी लंदन चला आया, और तबसे मरनेके समय तक दोनों मित्र वहीं रहे। मानचेस्टरमें रहते वक़्त भी मार्क्स एन्गेल्सका पत्र-व्यवहार रोज़ हुआ करता था।

अब एन्गेल्स स्वतंत्र था। मार्क्स जहाँ आर्थिक-सामाजिक सिद्धान्तों-पर चिन्तन करता और लिखता था, वहाँ एन्गेल्स सामाजिक प्रश्नोंपर उन सिद्धान्तोंके अनुसार प्रकाश डालता था। मार्क्सकी मृत्युके बाद एन्गेल्सने उसके बहुतसे ग्रन्थोंका अनुवाद और

एन्गेल्स बहुत हाज़िर-जवाब, सुचतुर वक्ता और असाधारण प्रतिभाका आदमी था। उसने स्वयं प्रकाशमें आनेकी कोशिश कभी नहीं की, और अपने मित्रकी कृतियोंके सामने वह अपनेको तुच्छ कहनेकी कोशिश करता रहा। एन्गेल्सके ग्रन्थोंमें मुख्य हैं—"समाजवादः उटोपियासे विज्ञान" वैज्ञानिक साम्यवादपर लिखे गये दो-तीन महत्त्वशाली ग्रंथोंमें एक; "१८४४में इंगलैंडके मज़दूरवर्गकी अवस्था"; "परिवारकी उत्पत्ति"; "फ़्वारबाख़—समाजवादी दर्शनके मूल",

७५ वर्षकी अवस्थामें ६ अगस्त, १८९५के एन्गेल्सका देहान्त हुआ।

(२) *मार्क्सके मुख्य सिद्धान्त*—विज्ञानकी भाँति सिद्धान्त और प्रयोगके सम्मिश्रणपर आश्रित मार्क्सका *समाजवाद वैज्ञानिक* समाजवाद कहा जाता है। इसके सिद्धान्तोंमें तीन मुख्य हैं—इतिहासकी भौतिक या आर्थिक व्याख्या; वर्ग-संघर्षका सिद्धान्त और अतिरिक्त या फ़ाज़िल मूल्यका विचार।

(क) **इतिहासकी भौतिक व्याख्या**—इसे अत्यन्त संक्षेपमें और सुन्दर तरीकेसे एन्गेल्सने मार्क्सकी समाधिपर दिये अपने व्याख्यानमें बतलाया है, जिसे कि हम पीछे (पृष्ठ ४१८)में दे आये हैं। लेकिन, इसपर कुछ और लिखनेकी ज़रूरत है।

खाना, कपड़ा, मकान आदि जीवनकी आवश्यक चीज़ें हैं, जिनकी उपयोगिता आरम्भिक मानवसे आज तक एक-सी है। इनका उत्पादन मनुष्यके लिये हमेशासे ज़रूरी रहा है। उत्पादनकी इन शक्तियोंका मनुष्यके सामाजिक परिवर्त्तनमें हमेशा सबसे बड़ा हाथ रहा। उत्पादन-शक्तियाँ एक ओर बढ़ती गईं—शिकारसे खेती, खेतीसे शिल्प, शिल्पसे वाणिज्य, वाणिज्यसे कारखाने; जिसके कारण समाजकी जमातबंदी

भी बदलती गई, और हर सीढ़ीपर समाजकी पहिलेसे चली आई व्यवस्थामें गड़बड़ी पैदा हुई। उत्पादन-शक्तियोंकी वृद्धिके साथ व्यक्तियोंका नया संगठन ज़रूरी है—पुरानी व्यवस्था लगातार नहीं चल सकती। व्यक्तियोंकी नई जमातबंदी पहिले उत्पादन या आर्थिक क्षेत्रमें होती है, उसीसे समाजके सामाजिक-राजनीतिक ढाँचेमें परिवर्त्तन लाज़िमी है ; जिसका अर्थ है क़ानून, आचार आदि सभीके मानों तथा समाजके मानसिक भावोंमें परिवर्त्तन ; यह इसीलिये कि इसके बिना नई उत्पन्न सामाजिक समस्याओंको हल नहीं किया जा सकता। यह बातें हम समाजकी प्रारम्भिक अवस्थाओंमें साफ़ देख चुके हैं।

मार्क्सने अपने "राजनीतिक अर्थ-शास्त्रकी आलोचना"में लिखा है—

"अपने विकासकी एक ख़ास अवस्थामें समाजके भीतर उत्पादन-की मौलिक शक्तियोंकी, उत्पादनकी मिल्कियतके उन संबंधोंसे टक्कर हो उठती है, जिनके अन्दर रहकर उत्पादन-शक्तियाँ अब तक काम कर रही थीं। जहाँ पहिले ये संबंध उत्पादन-शक्तियोंके विकासका रूप थीं, वहाँ वही अब उनके लिये बेड़ियाँ बन जाती हैं। तब क्रान्तिका समय आज उपस्थित होता है। (और) आर्थिक नींवके परिवर्तनके साथ-साथ कम या वेशी सारा ऊपरी ढाँचा तेज़ीके साथ बदल जाता है।"

मार्क्सके अनुसार क्रान्तिका कारण सिर्फ़ अर्थनीति और क़ानूनों-की एक दूसरेके साथ टक्कर नहीं ; बल्कि उसका कारण है उत्पादक-शक्तियों और अर्थनीति (पुराने आर्थिक ढाँचे)की टक्कर। इसीलिये, "भौतिक जीवनमें उत्पादनका ढंग निश्चय करता है कि जीवनके सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रवाहका साधारण रूप क्या होना चाहिये।"*

---

*Marx (Critique of Political Economy P. 11)

हमारा भारतीय समाज संसारमें एक अत्यन्त प्रगति-शून्य समाज है, तो भी पिछले पचास वर्षोंके भीतर ही जितने परिवर्त्तन हुए हैं, वही इस बातके सबूत हैं।

दर्शनकी दरिद्रतामें मार्क्सने लिखा है कि उत्पादनके ढंगको बदलकर मानव-जाति अपने सारे सामाजिक संबंधोंको बदल देती है। हाथका कारखाना सामन्त पैदा करता है; भाप और बिजलीका कारखाना मिल-मालिक-पूँजीपतिवाले समाजको।

लेकिन, साथ ही मार्क्सवाद भौतिक या आर्थिक कारणोंका ही एकमात्र कारण नहीं रहता। इसे एन्गेल्सने १८६० ई०में लिखे एक पत्रमें साफ़ किया है—"मार्क्स और मैं (हम दोनों ही) कुछ हद तक इसके ज़िम्मेवार हैं, जो कि नई पीढ़ी कभी-कभी आर्थिक पहलूपर ज़रूरतसे ज्यादा ज़ोर देती है। अपने विरोधियोंका जवाब देनेके लिये हमारे लिये यह ज़रूरी था, कि उस मुख्य तत्त्वपर ज्यादा ज़ोर देते, जिनका कि विरोधी इन्कार करते थे।" दूसरे पत्रमें एन्गेल्सने और साफ़ करते हुए लिखा है—"इतिहासके लिये अन्तिम निश्चायक कारण वास्तविक जीवन वस्तुओंका उत्पादन और प्रजनन है। इससे अधिकपर न मैंने ज़ोर दिया है और न मार्क्सने। लेकिन, जब कोई इस कथनको तोड़-मरोड़ करता है, और कहता है कि सिर्फ़ आर्थिक बातें ही एकमात्र तत्त्व हैं, तो वह अर्थका अनर्थ करता है। आर्थिक परिस्थिति आधार है; किन्तु ऊपरी ढाँचेकी कितनी ही बातें—वर्ग-प्रतियोगिताके राजनीतिक रूप और उनके परिणाम, विधान-क़ानूनी रूप; और इन वास्तविक प्रतियोगिताओंमें भाग लेनेवालोंके दिमाग़ोंमें होती प्रतिक्रियाएँ—राजनीतिक, वैधानिक, दार्शनिक, सिद्धान्त, धार्मिक-विचार.... यह सभी ऐतिहासिक संघर्षपर प्रभाव डालती हैं, और कितनी बातोंमें उनके रूपमें निर्णायक होती हैं।"

(ख) वर्ग-संघर्ष—प्रारम्भिक साम्यवादी समाजके नष्ट होनेके

बाद जबसे समाज स्वामियों और कमकरोंमें बँटा, तबसे हरएक सामाजिक परिवर्त्तनमें इन दोनों वर्गोंके संघर्षका खास हाथ रहा है। ढाई हजार वर्ष पहिले बुद्धके समकालीन हेराक्लितु (५३५-४२५ ई० पू०)-ने कहा था—"संघर्ष सभी घटनाओंकी माँ है।" और हेगेल् (१७७०-१८३१ ई०)ने इसीको दूसरे शब्दोंमें कहा—"विरोध वह शक्ति है, जो कि चीज़ोंको हर्कत देती है।" मार्क्सने इस सिद्धान्तका प्रयोग बहुत गहन तथा विस्तृत क्षेत्र—मानव-समाजके आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र—में किया। पुराने वर्गयुक्त समाजोंकी भाँति ही आज पूँजीपति अपने पूँजीवादको क़ायम रखना चाहते हैं, और उसे स्थायी अविनाशी मानते हैं; लेकिन कमकर-वर्ग पुरानेके स्थायित्वको पसंद नहीं करता।

पुराने यूनानमें, जब कि हेराक्लितु और अफ़लातूँ अपने दर्शनका निर्माण कर रहे थे, जीवनकी सारी वस्तुएँ दासोंके श्रमसे पैदा होती थीं। ये दास दूसरी चीज़ोंकी भाँति ख़ुद भी अपने स्वामियोंकी मिल्कियत थे। इसलिए, हेराक्लितु वर्ग संघर्षके महत्त्वको समझ सकता था। तो भी मार्क्स वर्ग-संघर्षको वर्गके साथ उत्पन्न और वर्गके नाशके साथ नष्ट होनेवाला मानता है। आरम्भमें वर्ग-हीन समाज था, उसी तरह साम्यवादी समाजके क़ायम हो जानेपर फिर वर्ग-हीन समाज आ मौजूद होगा; फिर वर्ग-संघर्ष नहीं रह जायगा—प्रकृतिके साथ संघर्ष भले ही जारी रहे, और उससे मानव-समाजकी प्रगति भी होती रहे।

यह वर्ग-संघर्ष क्यों है? इसीलिये कि प्रभुताशाली वर्ग अपने स्वार्थोंको अक्षुण्ण रखना चाहता है। वर्ग-स्वार्थका सबसे पुराना और सबसे भद्दा रूप है उपजका ज्यादासे ज्यादा भाग अपने क़ाबूमें रखना। पूँजीवादी समाजमें उत्पादनका ढंग शोषणका भी ढंग है। मिलमें मज़दूर काम करके कपड़ा पैदा करता है, और साथ ही मिल-मालिक उसके कितने ही घंटोंकी उपजको चुराकर अपने लाभके रूप-

में रखता जाता है। लाभ पूँजीपतियोंका देवता है, और बनियोंका भी।—शायद इसीलिये हमारे यहाँके बनिये सिंदूरके मोटे अक्षरोंमें "लाभ शुभ" अपने दर्वाज़ोंपर लिखकर रखते हैं।

वैसे पूँजीपति साधु, कोमल हृदय मालूम होते हैं; अनाथालय और धर्मशालाएँ क़ायम करते हैं; लँगड़ी-लूली गायोंके लिये पिंजड़ापोल खोलते हैं। भारतमें उनकी बहुत बड़ी संख्या मांस-मछली छूती तक नहीं, और सिर्फ़ घास-पातपर गुज़ारा करती है। लेकिन, ज़रा इस सिंदूरसे लिखे "लाभ"पर हल्की-सी भी चोट पहुँचने दीजिये; फिर देखिये उनकी सारी अहिंसा, जीव-दया और उनका गाँधी-रस्किन-दर्शन कहाँ चला जाता है!

पूँजीपति अपना लाभ बढ़ाना चाहते हैं; लेकिन वह लाभ आख़िर मज़दूरके ही मत्थे किया जाता है। पूँजीवादने मनुष्योंकी एक बड़ी तादादको घर-धरती सबसे नाता तुड़वाकर एक जगह जमा कर दिया। अब उनकी जीविकाका एकमात्र सहारा रोज़ जाँगर चलाना और उसके लिये पूँजीपति जो दे दे, वही मज़दूरी है। लेकिन, इतनी बड़ी जमातके एक जगह जमा हो जानेपर मज़दूरमें संघ-शक्ति भी आ सकती है। और वह उसी वक्त प्रकट होने लगी, जब मालिकने मज़दूरी घटानी या अन्यायसे किसीको निकालना चाहा। मज़दूरोंकी संघ-शक्तिको तोड़नेके लिये कड़ेसे कड़े क़ानून पूँजीपतियोंकी सर्कारोंने बना रखे हैं; किन्तु पूँजीपति उतने हीसे सन्तोष नहीं करते। पूँजीपतियोंने अपनी मिल-मालिक सभाओंका ही मज़बूत सगठन नहीं कर रखा है; बल्कि उन्होंने दूसरी तरहके संगठन भी बना रखे हैं। अमेरिकन पूँजीपतियोंने चुनाव लड़ने और उसमें बेईमानी करनेके लिये टमनी-हाल जैसी संस्थाएँ क़ायम कर रखी हैं; हड़ताल तोड़नेके लिये रंगरूट भर्त्ती करनेका अलग संगठन कर रक्खा है; पता लगानेके लिये अपना अलग मज़बूत भेदिया-विभाग बना रखा है। पीछे रहकर सर्कारको यंत्रवत्

चलानेके लिये प्रमुख व्यक्तियोंका उनका ग्रूप है। मज़दूरों और उनके कार्यकर्त्ताओंको हलचलसे रोकने और भयभीत करनेके लिये उन्होंने अपने पास गुंडोंके दल रख छोड़े हैं। जमशेदपुर, कानपुर, कलकत्ता कहींके कारखानोंको देख लीजिये—अमेरिकन पूँजीपतियोंके इन तरीक़ोंको अपनी परिस्थितिके अनुसार वहाँ बर्ता जाता है। मार-पीट ही नहीं, पूँजीपतियोंके गुंडों द्वारा जितनी ही क्रूर हत्याएँ की गई हैं, यदि उनका इतिहास लिखा जाय, तो उसे पढ़कर आपका दिल दहल जायगा। पूँजीपतियों और उनके *क्रीतदासों*के अखबार जो गला फाड़-फाड़कर हर वक्त हड़ताली मज़दूरोंकी ज्यादतियोंसे कालमके कालम भरते हैं, वह सिर्फ़ "हमला, हिफ़ाज़तका सबसे अच्छा ज़रिया"-की कहावतको सच करनेके लिये।

मज़दूर ही क्रांतिके अगुआ—सर्वहारा जाँगरी (जाँगर चलाकर जीनेवाला) वर्ग ऐसी परिस्थितिमें है कि वह संघर्षसे अलग नहीं रह सकता। अलग रहनेका मतलब है, मज़दूरोंमें कमी, कामसे निकाला जाना, और परिवार-सहित भूखों मरना। इसीलिये पूँजीवादी समाजका उलटना सबसे अधिक इसी वर्गके प्रयत्नपर निर्भर है। किसान भी क्रान्ति चाहते हैं। मज़दूरकी श्रेणीमें गिरती जाती मध्यमवर्ग-की अर्ध-जाँगरी सन्तानें भी क्रान्तिके उद्गार निकालती हैं; किन्तु क्रान्तिका आधार जाँगरीवर्ग ही हो सकता है। इसका पता हमें तब लगता है, जब हम उनके आर्थिक या मिल्कियतके संबंधपर नज़र डालते हैं, और देखते हैं कि किसका कितना आर्थिक शोषण हो रहा है, किसका कितना राजनीतिक उत्पीड़न हो रहा है, किसमें कितनी ग़रीबी है; वस्तुओंके उत्पादनमें किसका कितना हाथ है। वैयक्तिक सम्पत्तिके हाथसे निकल जानेके भयसे कौन कितना मुक्त है; उत्पादन और साथ मिलकर काम करनेसे संघबद्ध होनेमें किसको ज्यादा सुभीता है। इसके लिये नीचेका चित्र देखिये—

वर्ग-सम्पत्ति	किसान	अर्ध-जाँगरी	जाँगरी
१. आर्थिक शोषण	+	−	+
२. राजनीतिक उत्पीड़न	+	+	+
३. दरिद्रता	+	+	+
४. उत्पादन करनेवाले	+	−	+
५. वैयक्तिक सम्पत्तिके बंधनसे मुक्त	−	+	+
६. काम करनेमें संघ-बद्धता	−	−	+

छओं कसौटियोंपर कसनेसे मालूम होता है कि जाँगरी ही उनपर पूरे उतरते हैं।

वर्ग-संघर्षका अर्थ है—एक वर्गका दूसरे वर्गके खिलाफ़ लड़नेके लिये मैदानमें उतरना, और यही संघर्ष उस परिवर्त्तनका मुख्य साधन है, जिससे समाजमें परिवर्त्तन लाया जा सकता है। संघर्ष दुनियामें है ही नहीं, या वह बहुत बुरा है, ऐसा कहकर आँख मूँद लेनेसे काम नहीं चलेगा। जब तक अलग-अलग विरोधी स्वार्थवाले वर्ग मौजूद हैं, तब तक उत्पीड़ितोंको संघर्षसे अलग रहनेकी सलाह देना मेमनेको भेड़ियेके मुँहमें फेंकना है।

(ग) **मूल्यका सिद्धान्त**—अतिरिक्त मूल्य (*लाभ*)का सिद्धांत मार्क्सके आर्थिक विज्ञानके गम्भीर चिन्तनका एक महत्त्वपूर्ण फल है। भौतिक व्याख्या और वर्ग-संघर्ष वैज्ञानिक समाजवाद—मार्क्सवाद—के सामाजिक आधार हैं, और मूल्य-सम्बन्धी सिद्धान्त उसका आर्थिक आधार है। मार्क्सने *मूल्य*के बारेमें कहा है—

"सभी उपयोगकी वस्तुओं (सौदों)*में वह श्रम पदार्थ मिला

*Commodity.

हुआ है, जो कि सबका साझा, सामाजिक है।" कोई चीज़ एक आदमी-के श्रमसे नहीं बनी है, उसमें सारे समाजका हाथ है। कुम्हार घड़े-को बनाता है, वह उसमें मौजूदा बढ़ई, लुहार, संगतराश आदिके श्रम-की ही सहायता नहीं लेता, बल्कि पीढ़ियोंके इस विषयके विकसित होते अनुभवका भी उपयोग करता है। इस प्रकार सभी उपयोगी वस्तुएँ साझे, सामाजिक श्रमसे बनती हैं। मार्क्सने आगे कहा—"वस्तुका बड़प्पन या उसका सापेक्ष मूल्य उसमें मिश्रित उसी सामाजिक पदार्थ (श्रम)के बड़े या कम परिमाणपर निर्भर है; अर्थात् (वस्तुके) उत्पादनमें जितनी मात्रामें कि श्रमकी आवश्यकता है। अतएव, वस्तुओं-का सापेक्ष मूल्य निर्भर करता है, श्रमकी इस मात्रा या परिमाणपर, जिसे कि उन वस्तुओंमें करके, अनुभव करके भर दिया गया है।"* वस्तुके उत्पादनमें वही श्रम सम्मिलित नहीं है, जो कि सीधे उसमें डाला गया है; बल्कि जिन हथियारों और दूसरे सामानकी अनिवार्य मददसे वह वस्तु बनी है, वे सभी सामाजिक तौरपर अनिवार्य श्रम उसमें शामिल हैं। क़ीमत, मूल्य नहीं है बल्कि मूल्यका रुपये-पैसे आदिमें कहा गया रूप है। क़ीमत स्वाभाविक और बाज़ारी दोनों है, जिसका अन्तर हमें उस वक्त मालूम होता है, जब कि कल चार आना गज़में जिस थानसे हमने कपड़ा कटवाया था, आज उसी थानसे कटे कपड़ेका बनिया छ आना हमसे लेता है। यह बाज़ारी क़ीमत उपज और खपतपर निर्भर करती है। यदि बाज़ारमें चीज़ कम है, और माँग ज्यादा, तो क़ीमत बढ़ जायगी; माँग ज्यादा और क़ीमत कम है तो सस्ती हो जायगी। यदि उपज और माँग बराबर हों, तो स्वाभाविक और बाज़ारी दोनों क़ीमतें एक-सी रहेंगी। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिये कि पूँजीवादी सट्टेबाज़ीसे भी माँगको कृत्रिम रीतिसे बढ़ा दोनों प्रकारोंकी क़ीमतोंमें अन्तर डालकर नफ़ा कमाते हैं।

*Marx. *Value, Price and Profit* (Chicago. Kerr) P. 57.

श्रमकी शक्तिकी व्याख्या करते हुए मार्क्सने कहा है—"श्रम-शक्तिका मूल्य उन आवश्यकताओंके मूल्यपर निर्भर करता है, जो उसके पैदा करने, विकसित करने, कायम और जारी रखनेके लिये जरूरी हैं।" इस व्याख्याके अनुसार मजदूरका अपना शारीरिक खर्च ही उसमें शामिल नहीं है, बल्कि मनको स्वस्थ रखने तथा उसका स्थान खाली न होने पाये, इसके लिये आवश्यक सन्तानोंकी उचित संख्याका खर्च भी उसमें शामिल है।

अतिरिक्त मूल्य—मान लो एक मज़दूरकी रोज़ानाकी आवश्यक चीज़ोंके उत्पादनके लिये छ घंटेके श्रमकी ज़रूरत है। और, मान लो कि इस छ घंटेके श्रमकी उपज तीन रुपयेके बराबर है, तो मनुष्यकी श्रमशक्तिके एक दिन की क़ीमत ३ रुपये होंगे। काम करनेवाला मजदूर है। उसे अपना श्रम किसी पूँजीवालेके हाथ बेंचना है। यदि वह उसे तीन रुपयेमें बेंचता है, तो वह उसकी असली क़ीमतपर बेंचता है। यदि वह चीनीकी मिलमें काम करता है, तो वह ऊखमें तीन रुपयेका श्रम मिलाकर चार आना मनवाली सौ मन ऊखसे १२) मनवाली चीनी बना रहा है। यदि ३)का जो श्रम उसने चीनीमें मिलाया, वह उसे मजदूरीके रूपमें मिल गया, तो पूँजीपतिको अतिरिक्त या फ़ाज़िल मूल्य (लाभ) नहीं होगा। हाँ, यदि मजदूर बारह घंटे काम करे और उसे तीन ही रुपये मिलें, तो इसका अर्थ है मजदूरने छ घंटे अतिरिक्त काम किये, और वह पूँजीपतिकी जेबमें अतिरिक्त मूल्य या लाभ बनकर चला गया। सारा पूँजीवाद इसी अतिरिक्त मूल्यके लिये है।

३. साम्यवादी (कमूनिस्त) घोषणा

यह हम पहिले कह आये हैं कि कैसे विदेशमें रहनेवाले जर्मन कमकरोंकी १८३६में स्थापित *न्यायी लीग*, मार्क्सके प्रभावमें आकर कमूनिस्त (साम्यवादी) लीग बन गई। १८४०में लीगकी पहली

कांग्रेस (सम्मेलन) लन्दनमें हुई, दूसरी कांग्रेस दिसम्बर, १८४७में। मार्क्स वहाँ मौजूद था, और उसी समय वहीं मार्क्स तथा एन्गेल्सको एक नया प्रोग्राम बनानेका काम सुपुर्द हुआ, जिसे एन्गेल्सकी सहायतासे मार्क्सने लिखा। इसे ही *कमूनिस्त (साम्यवादी) घोषणा* कहते हैं। इस प्रकार घोषणा मार्क्सकी प्रथम कृतियोंमें है, तो भी उनका महत्त्व आखिर तक और अब भी एक-सा है।

(१८४८ ई०के आरंभमें *घोषणा*का जर्मन मूल और फ्रांसीसी अनुवाद प्रकाशित हुआ। प्रकाशित होते-होते फ्रांसमें फ़र्वरी, १८४८ ई०-की क्रान्ति शुरू हो गई। यही नहीं, मार्चमें बर्लिन और कुछ समय बाद वीना (आस्ट्रिया)में भी विद्रोह खड़े हो गये। १८५० ई०में *घोषणा*का अंग्रेज़ी अनुवाद छपा। पिछले महायुद्धके समय जब तुर्की भाषामें घोषणा प्रकाशित हुई, तो सुल्तानकी पुलिसने "कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एन्गेल्स" नामवाले राजद्रोहियोंकी गिरफ्तारीके लिये वारंट निकाला था। मैंने और आचार्य नरेन्द्रदेवने मिलकर घोषणाका अनुवाद १९३१ ई०में शुरू किया था, और प्रेमचंदजीके "सरस्वती प्रेस"में उसके तीन फ़र्मे छपे भी; किन्तु पीछे ऑर्डिनेन्सोंके राज्यमें उसे वहीं छोड़ देना पड़ा। आज तक घोषणाके एकसे अधिक हिन्दी अनुवाद छप चुके हैं।)

घोषणा मार्क्सवादका मूल है। उन्तीस वर्षकी उम्रमें मार्क्सने इसे लिखा था, और उसके बाद उसने कितने ही ग्रंथ और लेख लिखे; किन्तु वह इसीकी व्याख्यामात्र थे। मानव-इतिहासके सारे राजनीतिक निबंधोंमें *कमूनिस्त घोषणा* सबसे महान्, सबसे स्पष्ट, सबसे व्यापक अर्थ और प्रेरणावाली कृति है।

(i) घोषणाके चार भाग हैं। पहिले भागमें पूँजीपति और जाँगर चलानेवाले प्रोलेतारी दोनों वर्गोंके उत्थान और विकासका संक्षिप्त विवरण है। पूँजीपति सामाजिक, सामूहिक रूपसे होते उत्पादनके

साधनों—कल-कारखानों—का स्वामी है। जाँगर चलानेवालेके पास उत्पादनके अपने साधन नहीं हैं। काम करके जीनेके लिये उसके वास्ते मज़दूरीपर अपना श्रम बेंचनेके सिवाय कोई चारा नहीं है।

दुनियाका लिखित इतिहास वर्ग-संघर्षोंका इतिहास है। दासता सामन्तशाही युगमें उत्पीड़क और उत्पीड़ितके बीच ये संघर्ष, कभी छिपे, कभी प्रकट चलते रहे, और इनका अन्त "या तो समाजके क्रान्तिकारी पुनर्निर्माणके रूपमें हुआ, या दोनों प्रतिद्वन्दी वर्गोंके नाशके साथ।"

अमेरिकाके आविष्कार, एशियाके द्वारके खुलने और इनके साथ संसारके बाज़ारके विस्तारसे पूँजीवादका प्रादुर्भाव हुआ। इसके बाद बाज़ारकी माँगोंको पूरा करने और अधिकसे अधिक लाभके लिये भापसे चलनेवाले कल-कारख़ानों, यातायातके लिये भापकी रेलों और जहाज़ोंका प्रचार हुआ।

पूँजीवादके बढ़नेके साथ सामन्तशाहीसे उसकी टक्कर हुई, और अन्तमें उसने सामन्तशाहीको परास्त कर अपनी प्रधानता स्थापित की। उत्पादनकी शक्तियोंको उसने इतना बढ़ाया कि उससे पहिले कोई उसको ख्यालमें भी नहीं ला सकता था। पूँजीवादने एक और काम किया—कच्चे और तैयार मालके दान-आदान द्वारा उसने संसारको एक दूसरेके आश्रित कर दिया। पहिले उत्पादन बिखरे हुए थे। उन्हें इसने केन्द्रित करना शुरू किया। पूँजीवादियोंकी शक्ति बढ़ती ही गई, और शासन-यन्त्रपर भी उनका अधिकार बढ़ा।

सामन्तशाही समाजने उत्पादनकी वह शक्तियाँ पैदा कीं, जिनपर उनका नियन्त्रण नहीं हो सकता था। व्यापारको बढ़ा कल-कारखानों-को प्रारम्भकर उसने पूँजीवादको इसी तरह जन्म दिया। पूँजी-ने उत्पादनके ज़बर्दस्त साधन तैयार किये। उसके वितरण और विनिमयके तरीक़े भी कम आश्चर्यकारी नहीं हैं। लेकिन, उत्पादन और

वितरणका सामंजस्य नहीं हो सका। उत्पादन ज्यादा, किन्तु उसे खरीदनेके लिये जो पैसा चाहिये, उसमें अतिरिक्त मूल्यके बहाने कटौती की गई। जिससे सभी पण्योंके खरीदनेके लिये पैसा नहीं, इसका ही परिणाम है, समय-समयपर होती रहनेवाली मन्दियाँ, उत्पादित धनका जान-बूझकर संहार। इस प्रकार जिस हथियारसे पूँजीवादने सामन्तशाहीको खतम किया, वही अयोग्यताका हथियार अब उसके अपने नाशके लिये आ मौजूद हुआ।

पूँजीवादने अपने मारनेके लिये हथियार ही नहीं तैयार किया; बल्कि वह आदमी भी तैयार किये, जो उस हथियारको इस्तेमाल कर सकते हैं; यह हैं उनके अपने कारखानोंके मज़दूर।

मध्यम वर्ग—व्यापारी, शिल्पकार, किसान धीरे-धीरे नीचे गिरते जा रहे हैं। इन्हींमेंसे जाँगरी फ़ौजके रंगरूट भरती हो रहे हैं। आत्मरक्षा—जीविका-रक्षा—के लिये मज़दूर संगठित हो रहे हैं, और उनके हितोंका पथ-प्रदर्शन करनेके लिये उनकी राजनीतिक पार्टी—मज़दूर दल बन रही है। दूसरी श्रेणियोंमें भी सर्वहारापन बढ़ रहा है; किन्तु मज़दूर ही वह श्रेणी है, जो क्रान्ति लानेकी क्षमता रखती है। दूसरे पीड़ित-वर्ग अपने वर्त्तमान नहीं, भविष्यमें मिलनेवाले स्वत्त्वके लिये लड़ना चाहते हैं; किन्तु जाँगरी लोग वर्त्तमानके लिये लड़ रहे हैं। मज़दूर-आन्दोलन अल्पमतोंका नहीं, इतिहासमें पहिले-पहल एक भारी बहुसंख्याका आन्दोलन है। मज़दूरोंकी हालत दिनपर दिन गिरती जा रही है, मज़दूरीमें कमी और बेकारी बढ़ती जा रही है।

पूँजीवादी ख़ुद अपनी क़ब्र खोदनेवाले इन मज़दूरोंको तैयार कर चुके हैं।

(ii) घोषणाके दूसरे भागके एक अधिकरणमें दूसरे मज़दूरोंका कम्यूनिस्तोंके साथ क्या सम्बन्ध है, इसे बतलाया गया है। कम्यूनिस्त मजदूरवर्गके अंग हैं; इसलिये उससे अलग-थलगका ख्याल बहुत

बुरा है। "(१) मज़दूर-वर्गको दूसरी पार्टियोंके खिलाफ़ कमूनिस्तों-की कोई अलग पार्टी नहीं है। (२) प्रोलेतारी वर्गके सारे स्वार्थोंसे अलग उनका अपना कोई अलग स्वार्थ नहीं है। (३) प्रोलेतारी (जाँगरी) आन्दोलनको खास रूपमें ढालनेके लिये वह अपना कोई पन्थाई सिद्धान्त नहीं इस्तेमाल करना चाहते।"

"(कमूनिस्त) प्रत्येक देशके मज़दूरवर्गका बहुत ही अग्रगामी और दृढ़मनस्क भाग है। यह वह भाग है, जो दूसरोंको आगेकी ओर ढकेलता (ले जाता) है ; दूसरी ओर सिद्धान्त समझनेमें, प्रोलेतारी*-के भारी जन-समूहसे वह इस बातमें विशेषता रखता है कि वह कूच-के रास्ते, प्रोलेतारी-आन्दोलनके अन्तिम साधारण फल और स्थितियों-को साफ़ तौरपर समझता है।....कमूनिस्तोंका नज़दीकका उद्देश्य है—प्रोलेतारीको एक वर्गमें बद्ध करना, पूँजीवादी प्रधानताको उलटना, और प्रोलेतारी द्वारा (शासन) शक्तिपर अधिकार जमाना।"

कमूनिस्तोंका (सिद्धान्त) निष्कर्ष किसी विश्वसुधारकके आविष्कृत विचारोंपर आधारित नहीं है, बल्कि वह हमारी आँखोंके सामने चलते ऐतिहासिक आन्दोलनपर आधारित है।

दूसरे भागके बाक़ी अंशमें कमूनिस्तोंके ऊपर किये गये आक्षेपों-का उत्तर दिया गया है। साम्यवाद किसी आदमीको समाजके द्वारा उत्पादित पदार्थोंके उपभोग करनेके अधिकारसे वंचित नहीं करना चाहता ; वह सिर्फ़ इतना ही चाहता है, कि इस तरहके उपभोग द्वारा दूसरेके श्रमपर क़ाबू पानेकी कोशिश न की जाय। पूँजीवादी हायतोबा मचाते हैं, कि मज़दूरोंके राजसे संस्कृतिका खात्मा हो जायगा, किन्तु पूँजीवादियोंकी संस्कृति आदमीको मशीनकी तरह काम करने-की शिक्षाके अतिरिक्त है ही क्या ? कमूनिस्त स्त्रियोंपर साझा अधिकार

*Proletariat.

नहीं चाहते, वह सिर्फ़ इतना ही कहते हैं कि स्त्रियोंकी अर्ध-दासता बंद होनी चाहिये, गुप्त और प्रकट सब तरहकी वेश्यावृत्ति बंद होनी चाहिये, और स्त्रीको समाजमें हर तरहसे समान स्थान मिलना चाहिये।

कमूनिस्त स्वदेश और राष्ट्रीयताके भावको मिटाना चाहते हैं, इस आक्षेपका उत्तर यह है कि "मज़दूरका अपना कोई देश नहीं। जो उनके पास है ही नहीं, उसे हम उनसे छीनेंगे कैसे? प्रोलेतारीको राजनीतिक प्रधानता प्राप्त करनी है, राष्ट्रका मुख्य वर्ग बनना है, यह खुद राष्ट्रीय काम है।" लेकिन जिस बूर्ज्वा राष्ट्रीयताका मतलब है, एक राष्ट्रका दूसरे राष्ट्रके ऊपर झपट पड़ना, लगातार लड़नेकी तैयारी करते रहना वैसी राष्ट्रीयता ज़रूर कमूनिस्त नहीं चाहते। "वर्गोंके आपसके विरोध जितनी ही मात्रामें खतम होंगे, एक जातिका दूसरी जातिसे वैमनस्य भी उतनी ही मात्रामें लुप्त होगा।"

कमूनिस्त-प्रोग्रामके बारेमें कहा गया है, 'क्रान्तिमें पहिला काम जो मज़दूरवर्गको करना है, वह है अपनेको शासकवर्गके रूपमें परिणत करना, जनतंत्रताके युद्धको जीतना। प्रोलेतारी अपनी प्रभुताको इस्तेमाल करेंगे...बूर्ज्वावर्ग सभी पूँजीको अपने हाथमें ले लेनेके लिये, उत्पादनके सभी साधनोंको केन्द्रित करते, राज्य—शासकवर्गके तौरपर संगठित प्रोलेतारी-को हाथमें लेनेके लिए; और सम्पूर्ण उत्पादन शक्तियोंको जितनी शीघ्रतासे हो सके, उतनी शीघ्रतासे बढ़ानेके लिये।"

नजदीकके प्रोग्राम हैं; ज़मीनकी मिल्कियतको उठा देना तथा सभी तरहके ज़मीनसे लिये जानेवाले करोंको सार्वजनिक कामके लिये व्यय करना। एक भारी और आमदनीके अनुसार बढ़ते हुए इन्कम-टैक्स द्वारा वरासतके सभी अधिकारोंका बन्द करना। भगोड़ों और विद्रोहियोंकी सम्पत्तिको ज़ब्त करना। राजकी पूँजी लगाकर राष्ट्रीय बैंक क़ायमकर उसके द्वारा सारे लेन-देनके कामोंको केन्द्रित करना। यातायातके साधनोंको राज्यके हाथमें केन्द्रित करना। राज्यके द्वारा

उत्पादनके साधनों और फ़ैक्टरियोंको बढ़ाना। परती ज़मीनोंको जोत-में लाना; और सम्मिलित योजनाके अनुसार ज़मीनके साधारण उपजाऊपनको बढ़ाना। श्रमके लिये सबको ज़िम्मेवार बनाना; औद्योगिक सेनाका स्थापित करना—खेतीके लिये खासकर। खेतीकी कल-कारख़ानेके उद्योगसे घनिष्ठता स्थापित करना। देशमें अधिकाधिक समान वितरण करके दीहात और शहरके अन्तरको उठा देना। सार्वजनिक पाठशालाओंमें सभी बच्चोंकी निःशुल्क शिक्षा, आजके-जैसे लड़कोंको फ़ैक्टरीमें काम करनेको बन्द करना; शिक्षा और औद्योगिक उत्पादनको मिलाना, आदि।

मज़दूरवर्ग खुद अपनी प्रधानताको अन्तमें उठा देगा। जब विकासके पथपर चलते-चलते "वर्ग-भेद मिट जायगा, और सारा उत्पादन सारे राष्ट्रके विशाल संगठनके हाथमें एकत्रित हो जायगा, तो राजनीतिक शक्ति (राज्य) अपने राजनीतिक रूपको खो देगी। राजनीतिक शक्ति, वस्तुतः एक वर्गकी दूसरे वर्गके उत्पीड़नके लिये संगठितकी हुई शक्ति मात्र है।" प्रोलेतारी राज-शक्तिके द्वारा सारे उत्पादनको अपने हाथमें ले शोषकवर्गका अन्त कर देगा, और वर्ग विद्वेषके भावोंको हटा एक वर्ग बना, एक वर्गके तौरपर प्राप्त की गई अपनी प्रधानताको छोड़ देगा। अब "पुराने बूर्ज्वा-समाज, उसके वर्गों और वर्ग-विरोधोंकी जगह एक ऐसा संगठन होगा, जिसमें सबके विकासके साथ-साथ प्रत्येकका स्वतंत्र विकास होगा।"

(iii) तीसरे भागमें दूसरे प्रकारके समाजवादोंका खंडन है। "वर्त्तमान समाजके प्रत्येक क़ायदे-क़ानूनोंपर उटोपियन समाजवादियों-का प्रहार मज़दूरवर्गकी आँख खोलनेके लिये अत्यन्त मूल्यवान् चीज़ थी।" लेकिन सभी वर्गोंको, और शासकवर्गको खास तौरसे, हृदय-परिवर्त्तनकी उनकी अपील ग़लत चीज़ थी। जब लोगोंने वर्ग-स्वार्थ-पर संगठित समाजकी बुराइयोंको देख लिया, तो वह उस वर्ग-युक्त

समाजको कैसे वांछनीय समझ सकते हैं ! समझाने-बुझानेसे शासक-वर्गके हृदय-परिवर्त्तनका यह विश्वास ही था, जिसने उटोपियनोंको सभी तरहकी राजनीतिक जद्दोज़हद —खासकर क्रान्तिकारी कार्यों —के खिलाफ़ बनाया। वह अपने उद्देश्यको शान्तिमय तरीक़ेसे पूरा करनेकी चाह रखते थे, और अवश्य असफल होनेवाले छोटे-छोटे प्रयोगों द्वारा नये सामाजिक सिद्धान्तकी सच्चाई साबित करना चाहते थे।

(१४) कमूनिस्त सभी जगह वर्त्तमान सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओंके विरुद्ध होनेवाले प्रत्येक क्रान्तिकारी आन्दोलनकी सहायता करते हैं। "सभी जगह वह सभी देशोंकी जनतांत्रिक पार्टियोंकी एकता और समझौतेके लिये कोशिश करते हैं।"

"कमूनिस्त अपने विचारों और उद्देश्योंके छिपानेको बुरा समझते हैं। वह साफ़ तौरसे घोषित करते हैं कि हमारा उद्देश्य सभी वर्त्तमान सामाजिक अवस्थाओंको बलपूर्वक उठा फेंकनेसे ही पूरा हो सकता है। शासक-वर्गको साम्यवादी क्रान्तिसे काँपते रहने दो। "सिवाय अपनी बेड़ियोंके, जाँगरियोंके पास खानेके लिये है ही क्या ? और उनके पानेके लिये एक संसार है।"

"सभी देशोंके कमकरो एक हो जाओ।"

मार्क्सके अर्थ शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ ये हैं—

(१) 'मज़दूरीवाला (बनिहारी)-श्रम और पूँजी', १८४५ ई०-में ब्रुसेल्समें दिये व्याख्यान।

(२) 'दर्शन-दरिद्रता' प्रूधोंके 'दरिद्रता-दर्शन'का खंडन। १८४७ ई०में प्रकाशित।

(३) "मूल्य, क़ीमत और लाभ" १८६५में दिया एक व्याख्यान, जिसे मार्क्सने स्वयं अंग्रेज़ीमें लिखा था।

(४) 'राजनीतिक अर्थशास्त्रकी आलोचना' १८५९ ई० में प्रकाशित ; इसीका विस्तार मार्क्सने अपने महान् ग्रन्थ कापिटल (पूँजी) में किया ।

(५) कापिटल (पूँजी)—

जिल्द १—पूँजीवादी उत्पादन (१८६७ ई० में प्रकाशित)
जिल्द २—पूँजीवादी वितरण ; और
जिल्द ३—पूँजीवादी उत्पादन सम्पूर्ण रूपमें—इन्हें मार्क्सकी मृत्युके बाद एन्गेल्सने संपादित और प्रकाशित किया ।

(६) 'अतिरिक्त मूल्यके सिद्धान्त' कापिटलकी चौथी जिल्दके लिये मार्क्स द्वारा जमा की गई सामग्री जो उसकी मृत्युके बाद कौत्स्कीके हाथ लगी, और उसने इस नामसे उसे प्रकाशित कराया ।

४. वैज्ञानिक समाजवादकी विजय

मार्क्स और एन्गेल्सने जिस वैज्ञानिक समाजवादके विचारोंके विकास और प्रचारमें अपना जीवन खर्च किया, वह अब सिर्फ़ आन्दोलन और बहसकी चीज़ नहीं है। वह २४ सालसे दुनियाके $\frac{1}{6}$ भागपर विजय प्राप्तकर प्रोलेतारी अधिनायकत्वमें समाजकी कायापलट करनेमें सफल हुआ है। वैज्ञानिक समाजवादी सोवियत्ने क्रान्तिके समय जितनी सफलतासे घर और बाहरकी क्रान्ति-विरोधी शक्तियोंका मुक़ाबिला करके क्रान्तिको विजयी बनाया, उसने वैज्ञानिक समाजवाद—मार्क्सवाद—की वैज्ञानिकता (सिद्धान्त और प्रयोगके सामंजस्य)को सिद्ध किया। उसने शान्तिके समय कृषि-प्रधान एक पिछड़े राष्ट्रके आर्थिक नवनिर्माणको जितनी तीव्रता और सफलतासे किया, वह किसीसे छिपा नहीं है। पूँजीवादियोंके ज़बर्दस्त झूठे प्रचारके बाद भी आज

पंचवार्षिक योजनाका नाम पृथिवीके कोने-कोनेमें पहुँचा हुआ है, और हर देश किसी न किसी रूपमें उसका अनुकरण करना चाहता है।

(क) सोवियत्-संघपर नात्सी आक्रमण—आज जब फ़ासिस्त पिशाच यूरोपके सभी पराजित देशोंके साधनोंके साथ सर्वस्वकी बाज़ी लगा सोवियत्-संघपर हमला कर रहा है, और इस हमलेका पिछले चार महीनोंसे कमूनिस्त देश जिस तरह बहादुरीके साथ जवाब दे रहा है, वह दुश्मनोंको भी तारीफ़ करनेके लिये बाध्य करता है। आज हिटलरने चौथे 'तूफ़ानी हमले'में अपनी सारी शक्ति लगा डाली है, और मास्कोपर सख्त खतरा है। तो भी हिटलरको एक सर्कार, एक शासकवर्गसे लड़ना नहीं पड़ रहा है। आज वास्तविक अर्थमें उसे अपने लिये लड़नेवाले अनेक-जातिक एक राष्ट्रसे लड़ना पड़ रहा है। उसे इंच इंचके लिये दिन-दिन, महीने-महीने, वर्षों—उस जातिसे सख्त मुक़ाबिला करना है, जहाँ वर्ग स्वार्थके लिये हिटलरका स्वागत करनेके वास्ते कोई है नहीं; जहाँ एक ऐसी पीढ़ी तैयार हो गई है, जो समाजवादके स्वतंत्र वायुमें पली है, और जो कभी भी नीचतम दर्जे-की फ़ासिस्त पूँजीवाद ग़ुलामीको बर्दाश्त करनेकी जगह मर जाना पसंद करेगी। हिटलरका पिंड ऊपरी विजयसे ही नहीं छूटेगा। उसे सोवियत्के साम्यवादी आर्थिक ढाँचेको उलटना होगा। पंचायती खेतियोंको फिर वैयक्तिक खेतियों, वैयक्तिक सम्पत्तियोंमें बाँटना होगा, यह काम हुकुम निकाल देने मात्रसे होनेवाला नहीं है। इसके लिये गाँव-गाँवमें उत्तेजना, गाँव-गाँवमें विद्रोह होंगे। जो किसान नई व्यवस्थासे अधिक संस्कृत, अधिक शिक्षित, अधिक भोग-सम्पन्न हैं, वह फिर पुरानी व्यवस्थामें खुशीसे लौटकर नहीं जा सकते। ऊपरी ढाँचा नहीं, भीतरी जड़से परिवर्त्तनका क्या मतलब है, उसमें कितनी विरोधी शक्ति है, इसका पता हिटलरको सैनिक-विजयसे भी ज्यादा आर्थिक-विजयके वक्त लगेगा। हिटलर हमेशा सौ डिवीज़नों

(सेना)को मैदानमें रखकर दुनियाका शासन नहीं कर सकता। जर्मनी सदा अपने तरुणोंको दुनियाके कोने-कोनेमें तोपोंका चारा बनानेके लिये नहीं भेज सकता, तैयार होनेपर भी उतना चारा पहुँचाया नहीं जा सकता। और फिर अभी सैनिक विजय ही हिटलरकी संभव नहीं है। हिटलर जाड़े और भारी जन-साधनोंके भयानक नुक़सानके उस खड्ड-के किनारेपर खड़ा है, जहाँ किसी वक्त भी उसकी अब तककी सैनिक जीत फ़ासिज्मके सर्वनाशके रूपमें बदल सकती है।

(ख) सोवियत्-शक्तिका अक्षय-भंडार—सोवियत् संघके समाज और उसके समाजवादी शासनके बारेमें हम अपनी 'सोवियत्-भूमि"-में विस्तारपूर्वक कह चुके हैं, इसलिये उन्हें यहाँ दुहराना नहीं चाहते। सोवियत्-शासनमें समाजकी पुरानी बुनियाद ही खतम हो गई है—न वहाँ खेती और ज़मीनके मालिक जमींदार और महन्थ हैं, न वहाँ कारखानोंपर थैलीवालोंका अधिकार है। उत्पादनके सारे साधन समाजकी सम्पत्ति हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिके श्रमको ख़रीद-बेंचकर फ़ायदा (शोषण) नहीं उठा सकता। उत्पादनके साधनोंके समाज-के हाथमें आ जानेसे सोवियत्ने जितनी तेज़ीसे उद्योग-धन्धे, शिक्षा, कला, विज्ञानमें उन्नति की है, उसे देखकर विरोधियोंको भी दाद देनी पड़ती है। हिटलरके पिछले प्रहारको आरम्भ हुए चौथा महीना हो रहा है, किन्तु सोवियत् जनता और उसकी लाल-सेना जितनी दृढ़ता और बहादुरीसे मुक़ाबिला कर रही है, उसने बतला दिया कि तेईस वर्ष-के छोटे-से अर्सेमें समाजवाद कैसे ज़ारशाहीके विनय-अस्त्र-शिक्षा-विहीन सैनिकोंको लाल सेनामें परिणत कर सकता है। स्मरण रहे, जर्मन शासक-वर्ग ई० चौथी सदीसे ही लड़ाकू जाति माना जाता है, जब कि उसने रोमन-साम्राज्यको ध्वंस किया। सैनिक-शिक्षा और सैनिक-प्रवृत्ति उसमें कभी कम नहीं हुई। जिस वक्त जर्मनोंने रोमकी विशाल शक्ति-को तोड़ा, उस वक़्त जर्मन जन-अवस्थासे बहुत आगे नहीं बढ़े हुए थे,

इसीलिये रोमन-साम्राज्यकी जगह जर्मन साम्राज्य नहीं क़ायम किया जा सका। जर्मनीके सामन्तवादी बन जानेपर भी वहाँ कबीलोंवाली मनोवृत्ति उन्नीसवीं सदी तक जारी रही, जिसकी वजहसे समयके साथ ज्ञान-विज्ञानमें आगे बढ़ते हुए भी सारे जर्मनीके सामन्तोंके एक होनेमें बहुत देर लगी। किन्तु, जैसे ही एक बार विशाल जर्मन-राष्ट्रका सारा शासक-वर्ग एक हो गया कि पास-पड़ोसके सामने वही रोमन-साम्राज्य-वाला ख़तरा आ मौजूद हुआ। उस वक्त तक जर्मन-जाति विज्ञान-क्षेत्र-में दुनियाका नेतृत्व कर रही थी। संयुक्त जर्मनीसे फ़ायदा उठाकर उसके सैनिक शासक-वर्गने १८७०–७१ ई०में फ़्रान्सको हराकर अपनी सैनिक-शक्तिका परिचय दिया। उसके बाद जर्मन शासक-वर्ग बराबर विश्व-विजयका सपना ही नहीं देखने लगा, बल्कि उसकी ज़बर्दस्त तैयारी करने लगा। १६१७–१८ ई०का युद्ध हम देख चुके हैं, और अब हिटलरके युद्धको देख रहे हैं। इस तरह जर्मन शासक-वर्गने जिस सैनिक-यन्त्रको तैयार किया है, वह हिटलरके अधिकारारूढ़ होनेके समयसे बनना शुरू नहीं हुआ। सदियोंकी शिक्षा-दीक्षासे सज्जित यह सैनिक-शक्ति सारे यूरोपके जन-धन-अस्त्रको साथ ले अकेली लाल-सेनापर अपनी सारी शक्ति लगाकर प्रहार कर रही है, तो भी लाल सेनाका मुक़ाबिला ढीला नहीं पड़ा है, और सोवियत्के दुश्मन तक भी यह माननेके लिये तैयार हैं कि जर्मन सेनाके बाद संसारकी सबसे बड़ी शक्तिशाली सेना यदि कोई है, तो वह सोवियत्-की लाल-सेना है।

(ग) **सोवियत्-संघका शासन**—सोवियत् पार्लमेंट द्वारा होता है, जिसे कि महा-सोवियत् कहते हैं। इसके दो भवन जातीय-सोवियत् (५७४) और संघ-सोवियत् (५६६) ११ सौसे ऊपर (११४३)* सदस्य सारे सोवियत्-संघके बालिग़ स्त्री-पुरुषों द्वारा चार वर्षके लिये

---

*किन्तु यह १६३८ ई०की बात है, जब कि ११ संघ प्रजातंत्र थे।

चुने जाते हैं। संघ-सोवियत्के लिये प्रति तीन लाख जन-संख्यापर एक सदस्य (देपुती) चुना जाता है। जातीय सोवियत्का चुनाव भी उन्हीं वोटोंसे होता है; किन्तु इसमें सोवियत्-संघकी भिन्न-भिन्न जातियोंका समान प्रतिनिधित्व है। सोवियत्-संघके छोटे या बड़े सभी १६ संघ-प्रजातन्त्र इसमें पचीस-पचीस सदस्य भेजते हैं। जिन जातियोंकी संख्या बहुत कम है, उनके सदस्योंकी संख्या भी निश्चित है। महा-सोवियत्के चुनावके लिये कोई भी व्यक्ति उम्मीदवार खड़ा हो सकता है, यदि उसे दस भी आदमी जमा होकर नामज़द कर दें। सोवियत्-संघ-में सम्पत्तिके वैयक्तिक न होनेसे किसी व्यक्तिको अपने मनसे उम्मीदवार खड़ा होना बेमानी है; क्योंकि वोटरों तक पहुँचने और प्रचारके लिये पूँजीपतियोंकी भाँति उसके पास रुपया, वेतनभोगी एजंट और प्रेस नहीं है। वैयक्तिक सम्पत्तिके अभावके कारण वहाँ फ़ासिस्त और नात्सी राष्ट्रोंकी भाँति रुपये देकर वहाँके शासक-दलका कोई प्रभावशाली सदस्य बनकर निर्विरोध पार्लामेंटमें नहीं जा सकता, और पूँजी-वादी देशोंकी भाँति रुपयेसे वोटको खरीदा जा सकता है। उम्मीदवारके निर्वाचित होनेके लिये एक यह भी शर्त है कि यदि उसे सारे वोटरों-के ५०%से कम वोट मिलेंगे तो उसे निर्वाचित नहीं समझा जायगा। निर्वाचित हो जानेपर भी जिस वक्त किसी सदस्यसे उसके वोटर असन्तुष्ट हों तो बहुमत वोटसे उसे बर्खास्त कर सकते हैं।

महा-सोवियत् अपना एक प्रेसिडेंट चुनती है, आजकल साथी कालिनन् इस पदपर हैं; फिर मंत्री (कमीसर)-मंडल और उसके प्रधान यानी प्रधान-मंत्रीको चुनती है। आजकल साथी स्तालिन सोवियत्-संघके प्रधान-मंत्री हैं।*

॥ इति ॥

*विशेष जाननेके लिये मेरी 'सोवियत्-भूमि' और "सोवियत् शासन-का इतिहास" देखें।

परिशिष्ट

क. मानव-प्रगतिका कालक्रम

आदिम साम्यवाद	५ लाख—१०,००० वर्ष
जन-युग	७००० ई० पूर्व
पितृसत्ता	५५०० ,,
नव-पाषाण	५०००—३००० ,,
दासता	४५०० ,,
सामन्तवाद	३५०० ,,
पूँजीवाद	१७६० ईसवी
साम्राज्यवाद	१६०० ,,
साम्यवाद	१६१७ ,,

वानरसे नर	२० लाख वर्ष
हथियार फेंकनेवाला नर	१० ,, ,,
नर	५ ,, ,,
नेअन्डर्थल	३ ,, ,,
धनुष बाण (पहिली बार)	१०,००० वर्ष
आविष्कारोंका महायुग*	५०००—३०००
कृषि	५००० ई० पू०

*खेती, नहर, बाँध, ईंट, ताँबा, मेहराव, मुहर, लिपि और सौर वर्ष, धनुष-वाणके आविष्कार।

प्रहिया गाड़ी	३५०० ,,
मोरीका पाइप (सुमेरिया)	३००० ,,
मस्तिष्क और हृदयके कामका ज्ञान (मिश्र)	३०००–२८०० ,,
बहुत कम आविष्कार	२६००–६०० ,,
प्रथम साम्राज्य (सरगोन, मसोपोतामिया)	२५०० ,,
दशमलव (प्रथम)	२००० ,,
लोहा	१४०० ,,
पन-चक्की	१००० ,,
भारतीय अंक	७०० ईसवी
पेंडुलम् घड़ी	१०००
भारतीय अंक यूरोपमें	१२००
चश्मा (स्पिना)	१२८५
बारूद (यूरोपमें)	१३००
कोयला ,,	,,
कागज़ ,,	,,
चुम्बक ,,	,,
प्रथम छापाखाना (कोस्लर)	१४३८
,, (इंगलैंडमें)	१४७५
अमेरिकाकी खोज	१४६२
भारतमें वास्को-द-गामा	१४६८
सर्वेटस (विज्ञानका शहीद)	१५३३
ब्रूनो ,,	१६००
बुद्धि-स्वातंत्र्य-प्रचार	१६००
दूरबीन (गेलेलियो)	१६१२
(न्यूटनका गुरुत्वाकर्षण)	१६५७

हवाई पम्प	१६४० (?)
चुकन्दरकी चीनी (मारग्राफ़)	१[illegible]४०
आविष्कारोंका नया महायुग	१७६०— ..
गुब्बारा (सवारी)	१७८२
— दियासलाई	१८०८
रेलवे (स्टाकटन)	१८२५
पसेंजर-रेल (लिवरपूल-मानचेस्टर)	१८३०
तार	१८३२
फ़ोटोग्राफ़ी	१८३६
स्वेज़ नहर	१८६७
पेरिस-कम्यून	१८७१
बिजली-रोशनी	१८७८
ग्रामोफ़ोन	" (?)
समाजवादी शासन	१६१७

ख—समाजकी प्रगतिकी अवस्थाएँ

अवस्था	प्रधानता	विवाह	जीविका	शोषित वर्ग	मिल्कियत	उत्पादन	वितरण	हथियार	धर्म	समाज	वर्ग
जांगल	स्त्री (समानता)	यूथ मिथुन-अगोत्र	फल-संचयन शिकार	नहीं	सांघिक	सांघिक	सांघिक	पुराण-पाषाण	धर्म नहीं प्रकृति-भूत-पूजा	आदिम-साम्यवादी जन	वर्ग-हीन
बर्बर	पुरुष	एक+दासी	पशुपालन	दास	वैय-क्तिक	वैयक्तिक	वैयक्तिक	,,	बहुदेव-वाद	पितृसत्ता	वर्गभेद
			कृषि					नवपाषाण		दासता	,,
सभ्य	,,	एक या अनेक+वेश्या	विनिमय दस्तकारी व्यापार सिक्का-सूद	कामी	,,	वैयक्तिक	वैयक्तिक	तांबा	+एक देववाद	सामंतवाद	,,
			हस्त-चालित उद्योग	मज़दूर	,,	सांघिक	वैयक्तिक	मशीन (−शक्ति)		पूँजीवाद	,,
			शक्ति-चालित उद्योग					मशीन +शक्ति			
मानवता	समानता	एक विवाह	,,	नहीं	सांघिक	सांघिक	सांघिक	,,	धर्म नहीं	साम्यव	वर्गहीन

ग. पारिभाषिक शब्द

अकर्मण्य—Stagnant
अतिरिक्त मूल्य—Surplus value
अधिकार-पत्र—Charter
अधिकार वंचित किसान—Serf
अधिनायक—Dictator
अधिनायकत्व—Dictatorship
अन्तर्व्यापन—Interpenetration
अभौतिकवाद—Idealism
अराजकवाद—Anarchism
अराजकवादी—Anarchist
अवस्था—Stage
आर्थिक संकट—Crisis
उटोपिया—Utopia
आयात—Import
आवेदन-पत्र—Memorandum
इजारादारी—Monopoly
इम्पीरियलिज्म—Imperialism
ईसाई धर्मसंघ—Church

उत्पादन—Production
उत्पादन साधन—Means of production
उत्पीड़क—Oppressor
उत्पीड़न—Oppression
उदारवाद—Liberalism
उद्योग-धंदा—Industry
उपनिवेश—Colony
उपज—Produce
उपयोग मूल्य—Use-value
औद्योगिक शक्ति—Industrial power
कच्चा माल—Raw Material
कबीला—Tribe
कमीन—Serf
कम्मी—Serf
कम्मी-प्रथा—Serfdom
कमूनिज्म—Communism
कम्यून—Commune
कल्पना विहारी—Utopian
कल्पना विहारी समाजवाद—Utopian Socialism

कल्पना विहार-वाद—Utopianism
कामचोर—Parasite
काल्पनिक दुनिया—Utopia
कालोनी—Colony
कीमत—Price
केन्द्रीकरण—Centralisation
गण—Republic
गणवाद—Republicanism
गणवादी—Republican
गतिशून्य—Stagnant
गतिशून्यता—Stagnancy
गुण—Quality
गुणात्मक परिवर्त्तन—Qualitative exchange
गुलाम—Slave
गुलामी—Slavery
ग्रूप—Group
घोषणा—Manifesto
चार्टर—Charter
चार्टरवाद—Chartism
चार्टरवादी—Chartist
जन—Gene
जनत—Gents
जनसत्ता—Democracy
जनसत्ताक—Democratic
जर्मन पार्लमेंट—Reich-stag
जंगली—Savage
जाति परिवर्त्तन—Mutation
जाँगर चलाने वाला—Proletariat
जाँगरी—Proletariat
जाँगल अवस्था—Savagery
जाँगल-युग—Savagery
जीविका साधन—Occupation
जोंक—Parasite
तानाशाह—Dictator
तानाशाही—Dictatorship
तारगाड़ी—Ropeline, Ropeway
तारमार्ग—Ropeline, Ropeway
तृतीय काल (त्रेताकाल)—Tertiary period
दास—Slave
दास-प्रथा—Slavery
दासता—Slavery
देपुती भवन—House of Deputies
देशमें आमदनी—Import
'न कहीं'—Utopia

नात्सीज़्म—Natsism
नात्सीवाद—Natsism
नायक—Feuhrer
निबंध—Thesis
नियंत्रण—Control
निर्यात—Export
नीति—Policy
नेता—Feuhrer
पत्ती—Share
परतंत्रदेश—Colony
परिमाण—Quantity
परिवार समूह—Commune
पितर—Patriarch
पितृसत्ता—Patriarchy
पुनर्जागरणकाल—Renaissance
पूँजी—Capital
पूँजी देशान्तरित करना—Exportation of Capital
पूँजीपति—Capitalist
पूँजीवाद—Capitalism
पूँजीवादी—Capitalist
पैदावार—Produce
प्रकृति—Nature
प्रजातंत्र—Republic
प्रजातंत्रवाद—Republicanism
प्रजातंत्रवादी—Republican
प्रजातंत्री—Republican
प्रतिनिधि—Representative
प्रतिनिधि भवन—House of Representative
प्रतिवाद—Antithesis
प्रवाह शून्य "छाडन"—Stagnant
प्रवाह शून्यता—Stagnancy
प्राईवेट—Private
प्रोलेतारी—Proletariat
फ़ासिज़्म—Fascism
फ़ासिस्त—Fascist
फ़ासिस्तवाद—Fascism
फ़्यूरेर—Feuhrer
बंक स्वामी—Banker
बर्बर अवस्था—Barberism
बाज़ारदर—Price
बिरादरी—Phratry
भाग—Share
भागीदार—Partner
भौतिकवाद—Materialism
भौतिकवादी—Materialist
भौतिकवादी व्याख्या—Materialist interpretation

भ्रातृता—Fraternity
मज़दूर—Proletariat
मध्यकालीन—Mediæval
मन्दी—Crisis
मम्मी—Mummie
मशीन—Machine
मस्तिष्क—Brain
महागज—Mammoth
महापितर—Patriarch
मानव—Homo
मिथुन विवाह—Pairing marriage
मिस्त्री—Mechanic
मुक्त व्यापार—Free trade
मूल्य—Value
मृतशव—Mummie
यंत्र—Machine
यंत्रवत्—Mechanical
यातायात—Communication
यांत्रिक—Mechanical
युद्धवाद—Militarism
यूथ—Group
यूथ विवाह—Group marriage
यौन दुराचार—Sexual misbehaviour
रक्षित कोष—Reserve fund
रक्षित निधि—Reserve fund
राइख्-स्टाग्—Reich Stag
राजनीति—Politics
राज्य—State
लार्ड भवन—House of Lords
वनमानुष—Ape
वर्ग—Class
वर्ग-भेद—Class division
वर्ग शासन—Class rule
वर्ग संघर्ष—Class struggle
वर्गहीन—Classless
वस्तुबदलैन—Barter
वस्तु-विनियम—Barter
वाद—Theory, thesis
विज्ञान—Science
विज्ञानवाद—Idealism
विधान—Constitution
विधान निर्मात्री सभा—Constituent Assembly
विनिमय—Exchange
"विरस्"—Virus

विरोधि समागम—Union of opposites
विशेष शेअर—Preference share
वेश्यावृत्ति—Prostitution
वैज्ञानिक समाजवाद—Scientific socialism
वैयक्तिक—Private
वैयक्तिक सम्पत्ति—Private property
व्याख्या—Interpretation
व्यापारवाद—Mercantilism
शब्द बक्स—Sound box
शासन—Government
शिल्पीसंघ "श्रेणी"—Guild
शेअर—Share
शोषक—Exploitor
शोषण—Exploitation
श्रम—Labour
श्रम सिद्धान्त—Labour theory
संक्रान्ति—Transition
संक्रान्ति काल—Transition period
संघ—Union
संघवाद—Communism
सड़ाँद—Stagnancy
सपियन मानव—Homo Sapien
सभ्यता—Civilisation
समागम—Union
समाजवाद—Socialism
समान—Equal
समानता—Equality
संमोहन—Hypnotisation
सर्वहारा—Proletariat
सर्वेसर्वा—Dictator
साइंस—Science
सांघिक—Communal
सांघिक भोज—Social consumption
सांघिक वितरण—Social consumption
सांघिक काम—Social labour
साधन—Means
साधारण भवन—House of Commons
सामन्तवाद—Feudalism
सामाजिक—Social
सामाजिक उत्पादन—Social

Production
सामाजिक कबूलियत—Social contract
सामाजिक वितरण—Social Consumption
सामाजिक (सांघिक) श्रम—Social labour
सामाजिक भोग - Social consumption
सामाजिक स्वीकृति—Social contract
साम्यवाद—Communism
साम्यवादी—Communist
साम्राज्य—Empire
साम्राज्यवाद—Imperialist
साम्राज्यवादी—Imperialist
सार्वजनिक—Communal
सिक्काविनियम—Exchange
सिद्धान्त—Theory
सीनेट (अमेरिकन पार्लमेंटका भवन)—Senate
सुप्रीम कोर्ट (अमेरिका)—Supreme Court
सैद्धान्तिक—Theoretical
सोशलिज़्म—Socialism
स्मरण-पत्र—Memorandum
स्वतंत्रता—Liberty
'स्वप्न'—Utopia
स्वप्नचारिता—Utopianism
स्वप्नचारी—Utopian
स्वप्नचारी समाजवाद—Utopian socialism
स्वर-यंत्र—Sound box
हस्तशिल्प—Handicraft
हिन्दी योरोपियन—Indo-European

घ. ग्रन्थ-सूची

Marx (Karl)	Capital
	Communist Manifesto
	Critique of Political Economy
	Gotha Programme
	Value, Price and Profit
Marx and Engels	Correspondence of Marx and Engels
Morton, A. L.	A People's History of England (1938)
Strachy, John	A Programme for Progress (1940)
Bogardus, E. S.	Development of Social thought (1940)
Lindsy, Jack	Short History of Culture (1939)
Moon, Pary T.	Imperialism and World Politics (1933)
Inman, Mary	In Woman's Defence (1941)
Cole, G. D. H. & M. I.	Guide to Modern Politics (1934)

Laidler, Harry W.	History of Socialist thought (1933)
Hobbes, Thomas	Elements of Laws
Morgane	Ancient Society
Letourneau	Evolution of Marriage
Hammurabi	Code of Hammurabi (F. R. Harper)
Hertzler, J. O.	History of Utopian thoughts
बुद्ध	दीघनिकाय (हिन्दी)
	मज्झिम निकाय ,,
	विनयपिटक ,,
	अगुंत्तर निकाय ,,
	सुत्तनिपात
	धम्मपद-अट्ठकथा
	जातक
धर्मकीर्त्ति	वादन्याय
राहुल सांकृत्यायन	विश्वकी रूपरेखा
	वैज्ञानिक भौतिकवाद
	दर्शन-दिग्दर्शन
	बुद्धचर्या
	ईरान
महाभारत	
भगवद्गीता	